महाकवि-"श्रीभवभूति"-प्रणीतम्

उत्तररामचरितम् ❁

[...ा'ख्य संस्कृत-हिन्दी-टीका, टिप्पणी, भूमिका, परिशिष्ट आदि से अलङ्कृत]

संस्कृत-टीकाकारः—

श्री ब्रह्मानन्द शुक्ल, साहित्याचार्य, एम०-ए०,
व्याकरणालङ्कार-शास्त्री, काव्यतीर्थ, कविरत्न,
प्रधानाचार्यः—
श्री राधाकृष्ण-संस्कृत-कालेज, खुरजा (उ० प्र०)

हिन्दी-व्याख्याकारः—

श्री कृष्णकान्त शुक्ल, साहित्याचार्य एम० ए०
(संस्कृत-हिन्दी) साहित्यरत्न,
संस्कृत-विभागाध्यापकः—
बरेली कालेज, बरेली (उ० प्र०)

तथा

श्री रमाकान्त शुक्ल, साहित्याचार्य, एम० ए०
(हिन्दी [लब्धस्वर्णपदक]—संस्कृत),
हिन्दी-विभागाध्यापकः—
राजधानी कालेज, दिल्ली

साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ ।

१९६९] [मूल ·००

महाकवि-"श्रीभवभूति"-प्रणीतम्

❀ उत्तररामचरितम् ❀

["प्रियम्वदा"ख्य संस्कृत-हिन्दी-टीका, टिप्पणी, भूमिका,
परिशिष्ट आदि से अलङ्कृत]

संस्कृत-टीकाकारः—
श्री ब्रह्मानन्द शुक्ल, साहित्याचार्य एम०-ए०,
व्याकरणालङ्कार-शास्त्री, काव्यतीर्थ, कविरत्न,
प्रधानाचार्यः—
श्री राधाकृष्ण-संस्कृत-कालेज, खुरजा (उ० प्र०)

हिन्दी-व्याख्याकारः—
श्री कृष्णकान्त शुक्ल, साहित्याचार्य एम० ए०
(संस्कृत-हिन्दी) साहित्यरत्न,
संस्कृत-विभागाध्यापकः—
बरेली कालेज, बरेली (उ० प्र०)

तथा

श्री रमाकान्त शुक्ल, साहित्याचार्य, एम० ए०
(हिन्दी [लब्धस्वर्णपदक]—संस्कृत),
हिन्दी-विभागाध्यापकः—
राजधानी कालेज, दिल्ली

साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ ।

१९६९] [मूल्य ५·००

॥ श्रीहरिः ॥

यद्यपि वाग्देवतावतारेण श्रीमम्मटाचार्येण काव्यस्य यशः प्राप्त्यादीनि प्रयोजनानि प्रतिपादितानि, तथापि श्रवण-समनन्तरमेवानन्दाधिगमस्यैव मुख्य-प्रयोजनत्वमुरीकृतम्। "काव्येषु नाटकं रम्यम्" इत्यभियुक्तोक्त्या सरसतया, सरलतया प्राञ्जलतया च नाटकानां विशिष्टं स्थानं विद्यते। कवि-कुल-गुरोः कालिदासस्य कलाकोविदत्वन्तु रसभावानुभूति-चणानां प्रतीतमेवेति नास्ति संशय-दोलावलम्बावसरः। परं महाकवेर्भवभूतेरपि विशेषतयोत्तररामचरिते भगवती सरस्वती प्रतिपदं रसमुद्गिरन्तीव परिलक्ष्यत एव। नाटकस्य रस-प्रवणत्वे सहृदयानां हृदयानि नितरामुत्फुल्लानि सन्ति। यत्सत्यं वशगेव तत्रभवती हंसवाहिनी वीणा-निक्वाणन-परिलसितामन्दानन्द संदोह-समुद्रेकं कुर्वाणा कां कामसीम-रस-धारां सचेतसां चेतसि न प्रवाहयति ? कवयितुरस्य रस-प्रतिपादनचातुरी सर्वेषां विद्याजुषां मनांस्युद्वेलयतीत्यत्र नास्ति संशीत्यवकाशोऽपि कोऽपि।

निज-गुण-गण गौरवेणैव नाटकमदो विश्व-विद्यालय परीक्षासु प्रायेण सर्वत्र लब्धादरमिति महान् प्रमदः। परिष्कृतमतिभिः सुमतिभिश्चास्य विविधाष्टीका विनिर्मितास्तत्र-तत्रसमुपलभ्यन्ते। पुनरस्या निर्माणे किं कारणमिति नैसर्गिकोऽयं पर्यनुयोगः। एतस्य विशदमुत्तरन्तु सहृदय-शिरोमणिभिरेव दास्यते, न नोऽत्राधिकारः। इयत्तूच्यत एव यदेकत्रैवविधप्रचुरसम्भारोऽन्यत्र नास्त्येवेत्याकलय्य प्रसीदतितमामस्माकं मनः। व्याख्या मार्गस्तु सरलतमोऽपि भवभूति-भावाविष्करणे कामपि कमनीयतामावहत्येव। तत्र-तत्र साहित्य-तत्त्व-सन्निवेशोऽपि विच्छित्तिं वर्धयत्येव।

सटिप्पण-हिन्दी रूपान्तर-विधानाय ममात्मजाभ्याम्—(चि० कृष्णकान्त शुक्लेन, साहित्याचार्य—एम० ए० (संस्कृत-हिन्दी)-साहित्यरत्नेन, बरेली-कालेजे संस्कृत-विभागे प्राध्यापक-पदभाजा, चि० रमाकान्त शुक्लेन, साहित्याचार्य—एम० ए० (हिन्दी [लब्धस्वर्णपदक]-संस्कृत)-उपाधिधारिणा, मुलतानीमल मोदी कालेजे, मोदीनगरे हिन्दी-विभागे प्राध्यापकपदभाजा च[1] कियान् परिश्रमः कृत इति कृतानुभवा एव कथयिष्यन्ति।

खुरजास्थ श्री गंगासागरट्रस्टस्थ-संस्कृत-विद्यालये उपाचार्येण साहित्याचार्य-एम० ए० (संस्कृत-हिन्दी)-उपाधिधारिणा मम द्वितीयपुत्रेणायुष्मता उमाकान्त शुक्लेन[2] सर्वेषामङ्कानां विश्लेषणात्मकसार-प्रदानेन नाटकस्यास्य सुषमा सम्पादिता।

एम० ए० (हिन्दी)-उपाधियुक्तेन साहित्यशास्त्रिणा मम सुतेन विष्णुकान्त शुक्लेन[3] चास्य मुद्रणार्ह-कापिकालेखने संशोधन—कर्मणि चातीव प्रयासो विहितः।

इत्येतदर्थं चतुरोऽप्येतान् भ्रातॄन् शुभाशीराशिभिः सम्वर्धयामि। अपि च, मम

---

१. दिल्ली-विश्वविद्यालयस्य राजधानी कालेजे हिन्दी-विभागे प्राचार्यः।
२. मुजफ्फरनगरस्य सनातनधर्म कालेजे संस्कृत-विभागे प्राचार्यः।
३. सहारनपुरस्य जे० पी० जैन कालेजे हिन्दी-विभागे प्राचार्यः।
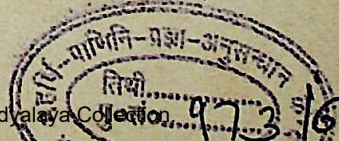
सहधर्मिण्याः साहाय्येनैव टीकेयमुल्लिखितेति सा... —धन्यवादमर्हत्येव । अन्यथा बहुलकार्य-व्यापृतस्य कुतः समयोपलम्भः ? इति तन्नाम्नैव टीकेयं विरचिता, अन्याश्चापि ।

एतस्यां रचनायां श्रीमताम्—पी० वी० काणे—एम० आर० काले—शारदा रञ्जन रे-भाट-घाटेशास्त्रि-वीरराघव-घनश्याम— विद्यासागर-शेषराजशास्त्रि—महाभागानां कृतिभ्यः साहाय्यं स्वीकृतम् । आदर्शपाठश्च चौखम्भा-मुद्रित-पुस्तकादुन्नीतः । एतदर्थमेषामुपकारभारं नतशिरसा वहामि । स्वकीयानुभवोऽपि क्वचित् प्रदर्शितः यदि सद्भ्यो रोचेत । टिप्पण्यां पाठान्तराण्यपि दत्तानि, परमाकार-वृद्धिभयान्न विपुलानि । परिशिष्टभागे चावश्यकतत्त्वानां सन्निवेशोऽपि प्रमोदायैव भविष्यति ममायं विश्वासः ।

एवं यथामतिं कृतेऽपि प्रयासे मुद्रणयन्त्रस्य दूरतया काश्चिदशुद्धयः सञ्जाता एव; किङ्कुर्मः ?

साहित्य—भण्डार-स्वामिनां श्रीरतिरामशास्त्रिणां तु सहज-सौजन्यवशादेतस्य प्रकाशोऽजनीति भूयो भूयस्तान् धन्यान् वदामि । मुद्रणालयाधिपतयोऽपि विशेषरूपेण धन्यवादार्हाः यैर्महता परिश्रमेण स्वल्पीयसा समयेन प्राकाश्यं नीतोऽयं ग्रन्थः ।

टीकेयं विशेष रूपेण "एम० ए०" शास्त्रिपरीक्षार्थिनां कृते लिखितेति जाते तेषामुपकारे सर्वेषां नः परिश्रमः सफलो भविष्यतीति शम् ।

विदुषामाश्रवः—

दिनाङ्कः १५ अगस्त १९६३
भाद्रपद-कृष्ण-एकादशी,
गुरुवारः,
सं० २०२० वि० ।

ब्रह्मानन्द शुक्लः, साहित्याचार्यः, एम० ए०,
श्री राधाकृष्ण संस्कृत कालेजः,
खुरजा (उ० प्र०)

द्वितीय संस्करण-सम्बन्धे

अथेदं प्रस्तूयते उत्तररामचरितस्य द्वितीयं संस्करणम् । पूर्वसंस्करणे सञ्जातानां मुद्रण-सम्बन्धिनीनां त्रुटीनामत्र प्रायशः परिमार्जनं कृतम् । सत्यप्यभिलाषेऽस्य मुद्रणावसर एवास्वास्थ्याद् भूमिकायां परिवर्धनं कर्तुं नापारि ।

मन्ये, पूर्ववदिदमपि संस्करणं सहृदय-समाजे सम्मानं प्राप्स्यतीति ।

दीपावली, सं० २०२६
दिनाङ्कः ९–११–१९६९

—ब्रह्मानन्द शुक्ल

* श्रीहरिः *

भूमिका

(क) नाटक
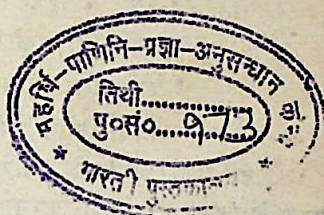
नाटक की उपयोगिता एवं स्वरूप—

आनन्दस्वरूप परमात्मा का अंश होने के कारण मनुष्य का समस्त क्रिया कलाप आनन्दानुभूति के लिए ही होता है। आनन्दाधिगम के लिए उद्भूत अनेक पदार्थ-संघातों में ललित-कलाओं का महत्व सहृदय-समाज से छिपा हुआ नहीं है। उनमें भी काव्य की महत्ता असन्दिग्ध है। यद्यपि वेद और पुराण भी इसी दिशा में अग्रसर रहते हैं परन्तु उनके मार्ग अपेक्षाकृत भिन्न हैं। वेद प्रभुसम्मित हैं और पुराण सुहृत्सम्मित । इनकी उपेक्षा भी मन्दमति व्यक्ति कर सकते हैं और दूसरी बात यह भी है कि इनमें प्रत्येक व्यक्ति की गति भी नहीं। परन्तु कान्तासम्मित उपदेश देने वाले काव्य की अवहेलना सरलतया सम्भव नहीं है। पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति सत्काव्यों के सेवन से सुकुमार-मतियों को भी सुगमता से ही सम्भव है। काव्य की माधुरी अन्य समस्त माधुर्यों को तिरस्कृत करने वाली है।

इन्द्रिय-सन्निकर्ष के आधार रर काव्य के दो भेद किये गए हैं:— (१) श्रव्य एवं, (२) दृश्य। श्रव्यकाव्य विशेषतः श्रवणीय या पठनीय होता है। दृश्यकाव्य की सौन्दर्यानुभूति में चक्षुओं की ही प्रमुखता होती है और इसका प्रभाव भी हृदय पर साक्षात् रूप से पड़ता है। 'सद्यःपरनिर्वृत्तिः' का झटिति अनुभव दृश्य काव्य के माध्यम से ही हो सकता है। विभिन्न भूमिकाओं के आरोप (अभिनय) के कारण इसका नाम 'रूपक' भी है:—'तद्रूपारोपात्तु' इसके दस भेद होते हैं—

१ २ ३ ४ ५ ६
'नाटकमथ प्रकरणं, भाण-व्यायोग-समवकारडिमाः।
७ ८ ९ १०
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश ॥

इन दस भेदों के अतिरिक्त अठारह उपरूपक भी होते हैं; यथा—

१ २ ३ ४ ५
'नाटिका, त्रोटकं, गोष्ठी, सट्टकं, नाट्यरासकम्।
६ ७ ८ ९ १०
प्रस्थानोल्लाप्यकाव्यानि, प्रेङ्खणं रासकं तथा ॥
११ १२ १३ १४
संलापकं, श्रीगदितं, शिल्पकं च विलासिका।

१५ १६ १७ १८
दुर्मल्लिका, प्रकरणी, हल्लीशो, भाणिकेति च ।।
अष्टादश प्राहुरुपरूपकाणि, मनीषिणः ।
विना विशेषं सर्वेषां, लक्ष्म नाटकवन्मतम् ।। (सा०द०)

इस प्रकार रूपक के २८ भेदोपभेद होते हैं । यहाँ सबकी परिभाषाएं न देकर नाटक के स्वरूप पर विचार करना ही उचित होगा ।

नाटक की कथावस्तु प्रख्यात होनी चाहिए । उसमें, मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श एवं उपसंहृति पाँच सन्धियों का निर्वाह होना चाहिए; रस का परिपाक होना चाहिए; पाँच से दस तक अङ्क होने चाहिए; नायक प्रख्यात वंश का राजा या महान् व्यक्ति होना चाहिए जो कि धीरोदात्त एवं प्रतापी हो; वह दिव्य या दिव्यादिव्य कोटि का हो सकता है; शृङ्गार या वीर रस में एक प्रधान (अङ्गी) रस होना चाहिए और शेष सहायक अङ्ग रूप में उपनिबद्ध होने चाहिएं; निर्वहण-सन्धि में अद्भुत रसका सञ्चार होना चाहिएं; चार या पाँच पात्र प्रमुख रूप में घटना-चक्र की गतिशीलता में सहायक होने चाहिएं और उसका विधान गोपुच्छ के अग्रभाग के समान उतार-चढ़ाव वाला होना चाहिये :—

"नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्पञ्चसन्धिसमन्वितम् ।
विलासद्ध्यादिगुणवद्युक्तं नानाविभूतिभिः ।।
सुखदुःखसमुद्भूति नानारसनिरन्तरम् ।
पञ्चादिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्तिताः ।।
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान् ।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः ।।
एक एव भवेदङ्गीरश्शृङ्गारो वीर एव वा ।
अङ्गमन्ये रसा सर्वे कार्यं निर्वहणेऽद्भुतम् ।
चत्वारः पञ्च वा मुख्याः कार्यव्यापृतपूरुषाः ।
गोपुच्छाग्रसमाग्रं तु बन्धनं तस्य कीर्तितम् ।। (साहित्यदर्पण)

नाटकों का प्रारम्भ—

नाटकों के प्रारम्भ के विषय में भारतीय तथा विदेशी विद्वानों ने अपनी बुद्धि के अनुसार विविध कल्पनाएं की हैं । भारतीय मत प्रस्तुत करने से पूर्व हम तथा-कथित विदेशी विद्वानों के मतों का संक्षिप्त परिचत यहाँ देना उचित समझते हैं ।

(१) डा० रिजवे 'वीरपूजावाद' से नाटकों की उत्पत्ति मानते हैं । उनकी मान्यता है कि जिस प्रकार ग्रीक देश में नाटक का जन्म दिवङ्गत पुरुषों के प्रति किए गये सम्मान के परिणामस्वरूप हुआ उसी प्रकार भारतवर्ष में भी नाटकों की उत्पत्ति वीरपूजा से ही हुई । रामलीला और कृष्ण-लीला इसी प्रकार की

भावनाओं के परिणाम हैं। परन्तु इस मत को बहुत से योरोपीय विद्वान् भी नहीं मानते।

(२) जर्मन विद्वान् पिशेल (Pischel)' नाटक की उत्पत्ति पुत्तलिका-नृत्य (Puppet-Show) से मानते हैं। उसकी मान्यता का आधार 'सूत्रधार' शब्द है। डोरी पकड़ कर पुतली नचाने वाले व्यक्ति को वे सूत्रधार मानते हैं। परन्तु भारतीय नाट्यशास्त्र में 'सूत्र' शब्द का एक विशिष्ट अर्थ है—नाट्य के उपकरण, उनको धारण करने वाले व्यक्ति की सूत्रधार संज्ञा है :—

"नाट्योपकरणादीनि, सूत्रमित्यभिधीयते।
सूत्रं धारयतीत्यर्थे, सूत्रधारो निगद्यते॥"

इस अर्थ को न समझने से ही यह अनर्थकारी मत प्रकाश में आया। इस मत में यदि कोई सार है तो वह केवल इतना ही है कि पुतलियों का नृत्य इसी देश में उत्पन्न हुआ और यहीं से अन्य देशों में प्रसृत हुआ। इस पामरजनमनःप्रसादक काष्ठनृत्य से रसभावभूयिष्ठ नाटक की उत्पत्ति करना स्थूलमतिता का ही परिचायक है।

(३) कुछ विद्वानों ने नाटक की उत्पत्ति मेपोल (MayPole) नृत्य से मानी है। पश्चिमी देशों में मई मास बड़ा ही आनन्ददायक होता है। वहाँ के निवासी मैदान में एक लम्बा बांस गाढ़कर उसके चारों ओर नृत्य करते हैं। उन्होने 'इन्द्रध्वज' महोत्सव का सम्बन्ध इसी नृत्य से स्थापित किया है परन्तु यह कोई तर्क नहीं है। वसन्त ऋतु में उत्सव मनाना स्वाभाविक ही है। और इन दोनों में काल-भेद भी है। पोल-उत्सव वसन्त में होता है जबकि इन्द्रध्वज भारत में वर्षा के अन्त में होता है क्योंकि यह इन्द्र की वृत्र (मेघ) पर विजय का सूचक है। इस प्रकार यह मत इधर की ईंट और उधर का रोड़ा जोड़कर भानमती का पिटारा सजाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

(४) डॉ० कीथ ते प्राकृतिक परिवर्तनों को जनसाधारण के सामने मूर्तरूप से दिखलाने की अभिलाषा से ही नाटकों का जन्म हुआ—यह माना है। उनका कहना है कि भाष्य में कंसवध नामक नाटक से उनके मत की पुष्टि होती है। कंस और उसके अनुयायी अपना मुख काला रखते थे तथा कृष्ण और उनके अनुयायी अपना मुख लाल रखते थे। डा० कीथ का विचार है कि वसन्त ऋतु की हेमन्त ऋतु पर विजय दिखलाना ही इस नाटक का मुख्य उद्देश्य है। कृष्ण की विजय प्रकृति के भीतर विलास करने वाली जीवनी शक्ति का प्रतीक है। इस पुच्छ-विषाण-हीन मत की अवधीरणा के अतिरिक्त और क्या गति हो सकती है ?

(५) डा० ल्यूडर्स (Luiders) और डॉ० (Konon) के द्वारा समर्थित तथा पिशेल द्वारा उद्भावित इस मत का सार यह है कि छाया नाटकों (Shadow-Plays) से नाटक की उत्पत्ति हुई। इस मत की दुर्बलता यह है कि नाटकों की सत्ता इन छाया द्वारा दिखाये जाने वाले नाटकों से पहले ही स्वीकार करनी पड़ती है।

नाटकों से छाया-नाटक का तो जन्म सम्भव है पर छाया-नाटकों से नाटक का नहीं। वैसे 'दूताङ्गद' नामक छाया-नाटक संस्कृत में है पर वह न अधिक प्राचीन है और न अधिक प्रसिद्ध। अतः, छाया-नाटक जैसे सामान्य अभिनय से नाट्यकला का उदय मानना बालकौतुक ही है।

(६) कुछ विद्वान् 'यवनिका' आदि शब्दों के प्रयोग से भारतीय नाटकों की उत्पत्ति यवनदेश (यूनान) से मानते हैं। परन्तु इन दोनों देशों के नाटकों में महान् मौलिक अन्तर है। भारतीय नाटक सुखान्त होते हैं परन्तु ग्रीक नाटक नहीं। यूनानी नाटकों में सङ्कलनत्रय पर वहुत ध्यान दिया जाता है परन्तु यहाँ केवल कार्य की एकता (Unity of Action) पर ध्यान रखा जाता हैं देश (Place) और (Time) की एकता (Unity) पर नहीं। संस्कृत नाटक सुव्यवस्थित रङ्गमञ्च पर अभिनीत किये जाते थे जबकि यूनानी नाटक खुले मैदान में कनातों में। जहाँ तक 'यवनिका' का सम्बन्ध है, यह शुद्ध शब्द 'जवनिका' है जिसका तेजी से गिरने वाले पर्दे के अर्थ में प्रयोग किया गया है। इस पर विशेष प्रकार हम 'संस्कृत नाटकों की विशेषताएं' शीर्षक में डालेंगे। यह निर्भ्रान्त है कि ये नाटक हमारी अपनी ही सम्पत्ति हैं कहीं से आयात की हुई वस्तु नहीं।

(७) प्रो० हिलब्रेण्ट तथा स्टेनकोनो का विचार है कि नाटक की उत्पत्ति स्वांग से हुई है। उनका कहना है कि नाटकों में संस्कृत के साथ प्राकृत का प्रयोग, गद्य-पद्य का मिश्रण, रङ्गशालाओं में आडम्बरशून्यता और सादगी तथा विदूषक जैसे लोकप्रिय पात्र की कल्पना प्रचलित स्वाँगों के आधार पर ही हुई है। परन्तु डा० कीथ का कहना है कि नाटकों से पहले स्वांगों की स्थिति का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता। अतः बिना किसी पुष्ट आधार के यह मत स्वतः धराशायी हो जाता है।

भारतीय मत (सिद्धान्त मत)

वेदों में ही नाटक के बीज उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद में संवाद-सूक्तों में, यम-यमी-संवाद, उर्वशी-पुरूरवा-संवाद, सरमा-पणी—आदि संवादों की उपलब्धि से, सामवेद में सङ्गीत-तत्व की सत्ता से, यजुर्वेद में धार्मिक कृत्यों के अवसर पर नृत्य के विधान से नाटकीय तत्वों की वेदमूलकता में कोई सन्देह नहीं है।

रामायण-महाभारत-काल में तो रङ्गशाला, नट, कुशीलव जैसे शब्दों का प्रचुर प्रयोग हमारी नाट्यकला की उन्नति का द्योतक है ही।

पाणिनि ने "पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षु-नट-सूत्रयोः" (४।३।११०) सूत्र में नट-सूत्र अर्थात् नाट्यशास्त्र का उल्लेख किया है। इससे सिद्ध है कि पाणिनि के समय में अथवा उनसे पूर्व ही नाटक रचे जा चुके थे।

पतञ्जलि ने महाभाष्य (३।२।१११) में 'कंसवध' और 'बलिबन्ध' नामक दो नाटकों का स्पष्ट उल्लेख किया है।

जातकों में भी नाट्यकला का उल्लेख मिलता है।

कुछ दिन पूर्व ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी की एक प्राचीन नाट्यशाला टोटा नागपुर की पहाड़ियों में पाई गयी है जो कि नाट्यशास्त्र में वर्णित प्रेक्षागृहों से बिलकुल मेल खाती है।

'भरत नाट्यशास्त्र' में नाटक के आविर्भाव का बड़ा ही रोचक और युक्ति-सङ्गत वर्णन किया गया है। उसका सार यह है कि सतयुग में दुःखों की कल्पना थी ही नहीं थी, त्रेतायुग मे दुःखों के आविर्भाव होने के कारण देवता और दानवों ने मिलकर ब्रह्माजी से किसी मनोविनोद के साधन की याचना की। ब्रह्माजी ने ध्यानास्थित होकर सभी प्राणियों के लिए नाट्यवेद प्रकट किया। इसमें शूद्र स्त्री आदि सभी का अधिकार था। उन्होंने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस लेकर नाट्य की सृष्टि की और उसे पञ्चम-वेद की संज्ञा दी—

"जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्, सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान्, रसानाथर्वणादपि।।"

इसमें सभी समर्थ देवी-देवताओं ने अपना-अपना योगदान दिया। अनेक अप्सराओं ने स्त्री-पात्रों का अभिनय किया। चतुर शिल्पी विश्वकर्मा ने एक सुन्दर रङ्गमञ्च का निर्माण किया और 'इन्द्रध्वज' के अवसर पर 'त्रिपुरदाह' और 'समुद्र-मन्थन' जैसे नाटक खेले गए। भरतमुनि को इस कला को मर्त्यलोक में पहुंचाने का कार्य सौंपा गया। इस प्रकार यह कला मर्त्यलोक में प्रसृत हुई। यह नाट्यकला समस्त शास्त्रों का सार मानी गयी और तीनों लोकों के भावों का अनुकरण करने का सामर्थ्य इसमें सन्निविष्ट हुआ—

"त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य, नाट्यं भावानुकीर्तनम्।"

यह कला दुःखार्त्त, शोकग्रस्त और संसारतप्त व्यक्तियों को विश्राम देने वाली थी। इसमें सभी शास्त्रों और कलाओं का समाहार था। नाटक का क्षेत्र बड़ा ही विस्तृत है। इस सम्बन्ध में भरतमुनि ने लिखा है—

"न तज्ज्ञानं, न तच्छिल्पं, न सा विद्या, न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म, नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।।" (नाट्यशास्त्र, १।११४)

इस विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि संस्कृत नाटक क्रमशः विकसित हुआ है। वेदों से, पुराणों से, लोकगीतों से, धार्मिक सामूहिक उत्सवों से उसे सतत प्रेरणा प्राप्त हुई, और यह कला भारत में तभी विकसित हो गई थी जबकि आज सभ्य कहने वाले देश अन्धकार में ही पड़े हुए थे।

संस्कृत-नाटकों की विशेषताएं—

संस्कृत-साहित्य में नाट्य-साहित्य बड़े ही वैभवमय रूप में दृष्टिगोचर होता है। काल के कराल प्रहारों से यद्यपि अनन्त ग्रन्थ-रत्न विलुप्तप्राय हो चुके हैं परन्तु जो कुछ भी इस समय उपलब्ध हैं, वह भी विश्व-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

संस्कृत-नाटकों की अपनी कुछ विशेषताएं हैं :—

(१) संस्कृत-नाटक रस-प्रधान होते हैं। उनमें कथावस्तु की यथार्थता पर इतना आग्रह नहीं किया जाता जितना कि रस-निष्पत्ति पर। कवि की सफलता उसकी रसाभिव्यञ्जना की शक्ति के अनुसार ही आँकी जाती है। इसलिए वे बहुधा कवित्व-प्रधान होते हैं।

(२) संस्कृत-नाटक आदर्शवादी होते हैं। उनमें आदर्श चरित्रों की सृष्टि की जाती है। उनमें दर्शकों के हृदय की शुद्धि का ध्यान रखा जाता है। वे मनोरञ्जन मात्र ही नहीं करते अपितु एक कल्याणकारी मार्ग की ओर प्रवृत्ति भी कराते हैं।

(३) संस्कृत-नाटकों में पात्रों की संख्या निश्चित नहीं होती। पात्र अभिजात वर्ग के होते हैं। उच्च श्रेणी के पात्र संस्कृत में बोलते हैं तथा स्त्रियाँ व अन्य सेवक गण प्राकृत में। नाटक की भाषा गद्य-पद्यमय होती है।

(४) संस्कृत-नाटकों में स्थान और काल की एकता (Unity of Place & Time) का भी सदैव पालन नहीं होता; कार्य की एकता ही होती है। न उनमें अङ्कों का दृश्यों में विभाजन होता है। हाँ, अभिनयात्मक संकेत विशिष्ट रूप से मिलते हैं।

(५) उनमें स्वाभाविकता का सदैव ध्यान रखा जाता है। स्त्रियों का अभिनय स्त्रियों के द्वारा ही किये जाने का विधान होने से उनमें सरसता, स्वाभाविकता और प्रभावोत्पादकता सदैव अक्षुण्ण बनी रहती हैं।

(६) 'विदूषक' की कल्पना संस्कृत-नाटकों की अपनी ही है।

(७) संस्कृत-नाटकों में मञ्च पर वध, युद्ध, शयन, भोजन, मृत्यु तथा अन्यान्य लज्जाजनक व्यापार दिखाने का निषेध है। वे सदैव सुखान्त होते हैं। यों 'ऊरुभङ्ग' जैसा एक-आध अपवाद भी विद्यमान है। संस्कृत नाटकों की 'सुखान्तता' का रहस्य हमारी आशावादिता में सन्निहित है। आशा जीवन है और निराशा मृत्यु। संघर्षों पर विजय पाकर सिद्धि प्राप्त करना ही भारतीय शास्त्रों का मूलमन्त्र है। इसीलिए यहाँ के अधिकांश काव्य, विशेषतः नाटक, जिनका जन-जीवन पर साक्षात् प्रभाव पड़ता है, सदैव सुखान्त होते हैं।

(८) संस्कृत-नाटकों का विधान अपना विशिष्ट ही होता है वस्तु, नेता और रस के भलीभांति निर्वाह पर कवि का ध्यान रहता है। नाटक अङ्कों में विभाजित होता है। उसकी कथावस्तु दो प्रकार की होती है—आधिकारिक और प्रासङ्गिक। प्रासङ्गिक कथा फिर दो प्रकार की होती है—जो मूल कथावस्तु के साथ दूर तक चलती है तथा जो स्थान विशेष पर ही मुख्य कथा की सहायक होती हैं। इन दोनों को क्रमशः (क) पताका (ख) प्रकरी कहते हैं।

विषय सामग्री की दृष्टि से कथावस्तु के तीन प्रकार होते हैं—प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र। इतिहास-प्रसिद्ध कथानक को 'प्रख्यात', कविकल्पित को 'उत्पाद्य' तथा

दोनों से मिश्रित को 'मिश्र' कहते हैं।

अभिनय की दृष्टि से कथावस्तु के दो भेद होते हैं—(१) अभिनेय और (२) सूच्य—जिन घटनाओं का सबके सामने अभिनय किया जाय वे 'अभिनेय' और जिनकी सूचना मात्र दी जाय वे सूच्य कहलाती हैं। 'सूच्य' घटनाओं की सूचना के लिए पांच 'अर्थोपक्षेपकों' का विधान है—(१) विष्कम्भक (२) प्रवेशक (३) चूलिका (४) अङ्कास्य और (५) अङ्कावतार। बीती या आने वाली घटनाओं की सूचना मध्यम पात्रों के द्वारा अङ्कों के प्रारम्भ में दिये जाने को (१) 'विष्कम्भक' कहते हैं। विष्कम्भक के दो भेद हैं:—'शुद्ध' और 'मिश्र'। जहाँ एक या दो पात्र मध्यम कोटि के आते हैं उसे 'शुद्ध' कहते हैं और जहाँ नीच और मध्यम दोनों प्रकार के पात्र आते हैं, उसे 'मिश्रविष्कम्भक' कहते हैं। 'विष्कम्भक' में संस्कृत का प्रयोग होता है। (२) जब वृत्तवर्तिष्यमाण घटनाओं की सूचना नीच पात्रों के द्वारा दी जाती है, उसे 'प्रवेशक' कहते हैं। इसका प्रयोग दो अङ्कों के बीच में हो सकता है अर्थात् पहले अङ्क के प्रारम्भ में नहीं। इसमें प्राकृत भाषा का प्रयोग होता है। (३) पर्दे के पीछे बैठे हुए पात्रों के द्वारा कथा की सूचना देने को 'चूलिका' कहते हैं। (४) अङ्क की समाप्ति पर निष्क्रान्त होने वाले पात्रों द्वारा अगले अङ्कों की कथा की सूचना को अङ्कास्य या अङ्कमुख भी कहते हैं। (५) अङ्क समाप्त होने से पहले ही आगामी अङ्क की कथा प्रारम्भ कर देने को 'अङ्कावतार' अर्थोपक्षेपक कहते हैं।

कथनोपकथन—तीन प्रकार के होते हैं।

(१) सर्वश्राव्य या प्रकाश—जिसे सबको सुनाना अभीष्ट हो। (२) स्वगत या अश्राव्य—जो बात दूसरों को सुनानी अभीष्ट न हो, मन ही मन कहने योग्य हो। (३) नियतश्राव्य—जो केवल कुछ ही पात्रों को सुनानी अभीष्ट हो। इसके तीन भेद होते हैं—(क) जनान्तिक—जब दो पात्र हाथों की ओट करके बात करते हैं। (ख) अपवारितक—जब कोई पात्र मुंह फेर कर दूसरे पात्र की गुप्त बात कहता है। (ग) जब कोई पात्र आकाश की ओर मुंह करके स्वयं प्रश्नोत्तर करता है, उसे 'आकाशभाषित' कहते हैं।

कथावस्तु के मर्यादित पल्लवन और उपसंहार के लिए पांच अर्थप्रकृतियों, पांच अवस्थाओं और पांच सन्धियों का विधान किया गया है। मुख्य प्रयोजन (अर्थ) की सिद्धि के हेतुओं को अर्थप्रकृति, कार्य की विकास-प्रणाली को अवस्था तथा इन दोनों को परस्पर सम्बन्ध करने की प्रक्रिया को सन्धि कहते हैं। संक्षेप में इन्हें इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है:—

	अर्थप्रकृति	अवस्था	सन्धि
१.	बीज	आरम्भ	मुख
२.	बिन्दु	यत्न	प्रतिमुख
३.	पताका	प्राप्त्याशा	गर्भ

४.	प्रकरी	नियताप्ति	विमर्श
५.	कार्य	फलागम	निर्वहण

इनका विशेष विस्तार 'दशरूपक' या 'साहित्य-दर्पण' में देखा जा सकता है।

(६) संस्कृत-नाटकों के लिए बड़े सुन्दर 'प्रेक्षागृहों' का विधान था। भरत मुनि ने तीन प्रकार के 'प्रेक्षागृह' बताये हैं:—

[क[विकृष्ट, [ख] चतुरस्र, [ग] त्र्यस्र।

इनमें 'विकृष्ट' सबसे बड़ा होता था। यह देवताओं के लिए नियत था तथा इसका परिमाण १०८ हाथ था। इसका आकार सम्भवतः गोल होता था। इस विषय में स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। 'चतुरस्र' तो स्पष्टतः चौकोर होता था, जिसकी लम्बाई ६४ हाथ तथा चौड़ाई ३२ हाथ होती थी। यह मध्यम कहलाता था तथा राजाओं और सम्भवतः प्रजाओं के लिए भी यह उपयोग में आता था। 'त्र्यस्र' तिकोने आकार का होता था, जिसकी प्रत्येक भुजा ३२ हाथ की होती थी। यह छोटे नाटकों के उपयोग में आता था।

रङ्गमञ्च की बनावट बड़ी वैज्ञानिक होती थी, जिससे आवाज न गूंज सके तथा हवा एवं प्रकाश का समुचित प्रबन्ध रहे। इस विषय में बड़े ही सूक्ष्म निर्देश नाट्यशास्त्र में दिये गये हैं। प्रायः आधे भाग में रङ्गमञ्च होता था और आधे भाग में दर्शकों के बैठने का स्थान। रङ्गमञ्च का पिछला भाग रङ्गशीर्ष कहलाता था। उसके पृष्ठ में नेपथ्य होता था, वहाँ पात्र अपनी वेशभूषा आदि परिवर्तित करते थे। नेपथ्यगृह से आगे रङ्गपीठ होता था १६ हाथ लम्बा और ८ हाथ चौड़ा। रङ्गपीठ के दोनों ओर डेढ़ हाथ ऊंची मत्तवारणी होती थीं। नाट्यमण्डप को दोमंजिला (द्विभूमि) बनाया जाता था। ऊपरी खण्ड में, देवताओं से सम्बन्धित दृश्य दिखाये जाते थे। दर्शकों के बैठने के लिए आजकल के गैलरीनुमा आसनों की व्यवस्था थी। वास्तव में, जो लोग इस सीढ़ीनुमा बैठने की व्यवस्था को पश्चिम की देन मानते हैं वे उनके लिए वह एक विस्मयजनक और आँख खोलने वाली बात है।

रङ्गमञ्च पर, अङ्क की समाप्ति होने पर पर्दा गिराया जाता था। इस पर्दे का शुद्ध नाम जवनिका है, यवनिका नहीं। इसके यवनिका नाम को लेकर बहुत से समालोचक-पुङ्गवों ने भारतीय नाट्यकला पर यूनानी प्रभाव की घोषणा की है जिसका युक्तियुक्त उत्तर अनेक भारतीय विद्वानों ने दे दिया है। जवनिका शब्द का प्रयोग "जूयते=आच्छाद्यते यया यस्यां वा सा जवनिका"—इस अर्थ में किया गया है। '√जु' धातु का अर्थ 'वेग से चलना' भी होता है जिसके अनुसार पर्दों के वेग से उठाये और गिराये जाने के कारण इसका नाम जवनिका पड़ा। अथवा, उस आवरण को, जिसमें नट भागकर छिप जायं, जवनिका कहा जाता है। 'जवनिका' की व्युत्पत्ति अनेक टीकाओं के अनुसार इस प्रकार है:—

१. जवन्ति अस्यां जवनिका। (क्षीरस्वामी)

२. जनति अस्याम् । 'जुः' सौत्रौ गतौ वेगे च' ल्युट्— करणाधिकरणयोश्च' (३।३।११६), स्वार्थे कन् (५।४।५ सूत्रेण ज्ञापनात्) । (रामाश्रमी)

३. जवनिका स्त्री । सौत्र धातु जु । करणे ल्युट् संज्ञायाँ कन् । (वाचस्पत्य)

४. जु इति सौत्रो धातुर्गतौ वेगे च । जवनः । 'जु चङ्क्रम्यदन्द्रन्य-सृ-गृधि-ज्वल-शुच-लष-पत-पदः' (३।२।५०) इति युच्—कौमुदी । स्त्रियां ङीष्, जवनी, जवनिका ।

५. जवनं वेगेन प्रतिरोधनमस्ति अस्याः । जवनः ठन् टाप् च । (शब्दकल्पद्रुम)

यह बात और भी ध्यान देने योग्य है कि यवन देश में नाटक के लिए पर्दे की प्रथा ही नहीं थी । वहाँ तो नाटक दर्शकों की सुविधा के लिए खुले मैदान में ही किये जाते थे । जब वहाँ पर्दा था ही नहीं तो उसके अनुकरण का प्रश्न ही कहाँ उठता है ? अतः 'भारतीय प्रतिभा जिस प्रकार नाटक के विन्यास में स्वतन्त्र है उसी प्रकार अभिनय कला में भी वह परमुखापेक्षी नहीं है । जवनिका के लिये भारतीय नाटककार यवनों के पराधीन नहीं हैं । नाटकीय पर्दा भारत की अपनी निजी वस्तु है, मंगनी की वस्तु नहीं ।''*

(१०) संस्कृत नाटकों में प्रकृति के साथ घनिष्ट सम्बन्ध दिखाई पड़ता है । प्रकृति मानव-मन के अनुरूप चित्रित की गई है । अपने सरस और सजीव स्पर्श से प्रकृति-नटी रङ्गमञ्च को सदैव विभूषित करती रही है ।

(११) संस्कृत नाटक दुःख, परिश्रम और शोक से ग्रस्त लोगों के मनोविश्रान्ति और विनोद का साधन है :—

"दुःखार्त्तानां, श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रामजननं लोके, नाट्यमेतद्भविष्यति ।।"
× × ×
विनोदजननं काले नाट्यमेतद्भविष्यति ।।"

स्वयं भवभूति ने श्रेष्ठ नाटक के लक्षण इस प्रकार बताये हैं :—

"भूम्ना रसानां गहनाः प्रयोगाः, सौहार्द्रहृद्यानि विचेष्टितानि ।
औद्धत्यमायोजितकामसूत्रं, चित्राः कथा वाचि विदग्धता च ।।"
(मालतीमाधव, १।६)

अर्थात् विभिन्न रसों का प्रचुर और प्रगाढ़ प्रयोग, सौहार्दपूर्ण हृदयहारी कार्यकलापों का अभिनय, पराक्रम और प्रणय का चित्रण, विचित्र कथावस्तु तथा विदग्धतापूर्ण संवादों से युक्त नाटक ही उत्कृष्ट कोटि के माने जाते हैं ।

महाकवि भवभूति की इस कसौटी से बढ़कर उनके नाटकों की आलोचना करते समय और क्या पुष्ट आधार चाहिए ?

(*) बलदेव उपाध्याय, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', तृतीय संस्करण १०५३, पृष्ठ ४०७ । इस विषय पर विशेष विस्तार भी वहीं देखिये ।

संस्कृत-नाट्य-साहित्य की सुदीर्घ परम्परा में उनका कृतित्व बड़ा ही प्रभावोत्पादक है। संस्कृत-नाट्यशाला में उनका प्राणवान् व्यक्तित्व उस उज्ज्वल मणिदीप के समान है जिसकी आभा को सहस्रों वात्याचक्र भी म्लान नहीं कर सकते और जिसे काल की कराल छाया भी शान्त नहीं कर सकती। निस्सन्देह वे उन रससिद्ध कवीश्वरों में से हैं जिनके यशःकाय में जरामरणज भय कभी नहीं होता—जिनका कीर्ति-कुसुम साहित्य-वाटिका को सदैव आमोद-परिपूरित करता रहता है। यहाँ हम उनके व्यक्तित्व तथा कृतित्व के सम्बन्ध में आवश्यक चर्चा करेंगे।

(ख) भवभूतिः स्थितिकाल, व्यक्तित्व तथा कृतित्व

स्थितिकाल—

भवभूति संस्कृत-साहित्य के जगमगाते हुए रत्न हैं। महत्व की दृष्टि से कालिदास के अनन्तर उन्हें स्थान दिया जाता है। उनकी रचनाओं ने संस्कृत-साहित्य को एक नवीन आभा प्रदान की है। उनके स्थितिकाल के सम्बन्ध में कुछ निश्चित प्रमाण उपलब्ध हैं यद्यपि उन्होंने स्वयं इस दिशा में कोई प्रकाश नहीं डाला है। वास्तव में महाकवि किसी देश-विशेष या काल-विशेष से परिच्छिन्न नहीं होते; उनका व्यक्तित्व तो इन सबसे ऊपर उठा हुआ होता है; वे सारे संसार की निधि होते हैं। इसीलिए संस्कृत-कवियों ने प्रायः अपने विषय में मौन का ही अवलम्बन किया है। यह हर्ष का विषय है कि भवभूति के सम्बन्ध में कुछ ऐसे साक्ष्य हैं जिनसे उनके स्थितिकाल के निश्चय करने में बहुत सी सहायता मिलती है—

(१) मम्मट[1] (११०० ई०), महिमभट्ट[2] (११०० ई०),

---

(१) "......द्वयोः (यत्तदोः) उपादाने तु निराकाङ्क्षत्वं प्रसिद्धम्। अनुपादानेऽपि सामर्थ्यात्कुत्रचिद् द्वयमहि गम्यते। यथा—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां, जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा, कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥

अत्र य उत्पत्स्यते तं प्रतीति।" (काव्यप्रकाश, ७म उल्लास, १८६ श्लोक)

(२) "......यथा च—

हे हस्त ! दक्षिण ! मृतस्य शिशोर्द्विजस्य,
जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम्।

'औचित्यविचारचर्चा—कार आचार्य क्षेमेन्द्र' (११०० ई०)

रामस्य वाहुरसि निर्भगर्भखिन्न-
सीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते ?"
(व्यक्तिविवेक, २य विमर्श, समास-विचार)

× × ×

" ......यथा च—

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्त्तिर्नयनयो–
रसावस्याः, स्पर्शो वपुषि, बहुलश्चन्दनरसः ।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः,
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः ।। इति ।

अत्र यत् साक्षान्नायिकावर्णनं तदवाच्यमेव । तत्सम्बन्धिनामेव स्पर्शादीनामिव रम्याणामर्थानां विरहव्यतिरेकेणाङ्गभावोपगमात् । न तस्या एव विरहस्य तत्सम्बन्धित्वेऽप्यसह्यत्वाभिधानादिति तस्या वचनं दोषः । तेन 'मुखं पूर्णश्चन्द्रो वपुरमृतवर्त्तिर्नयनयो'रित्यत्र युक्तः पाठः ।" (व्यक्तिविवेक, २य विमर्श)

(१) (क) "पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरितां,

× × ×
× × ×

निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति । (उत्तर० २।२७)

अत्र बहुभिर्वर्षसहस्रैरतिक्रान्तैः शम्बूकवधप्रसङ्गेन दण्डकारण्यं रामः पूर्वपरिचितं पुनः प्रविष्टः समन्तादवलोक्यैवं ब्रूते—'पुरा यत्र नदीनां प्रवाहस्तत्रेदानीं तटम्, वृक्षाणां घनविरलत्वे विपर्ययश्चिराद्दृष्टं वनमिदमपूर्वमिव मन्ये, पर्वतसन्निवेशस्तु तदेवैतदिति बुद्धिं स्थिरीकरोति ।' इत्युक्ते चिरकालविपर्ययपरिवृत्तसंस्थानकाननवर्णनया हृदयसंवादी देशस्वभावः परमौचित्यमुद्घोषयति ।"

(औचित्यविचारचर्चा, देशौचित्य)

[ख] "योऽयमश्वः पताकेयमथवा वीरघोषणा ।
सप्तलोकैकवीरस्य दशकण्ठकुलद्विषः ।। (उत्तरराम०, ४।२७)

......अत्रार्थे रामायणकथातिक्रमेण नूतनोत्प्रेक्षिता रामतनयस्य सहजविक्रमानुसारिणी शौर्योत्कर्षभूमिः परप्रतापस्पर्शासहिष्णुता प्रबन्धस्य रसबन्धुरामौचित्यच्छायां प्रयच्छति ।' (औचित्यविचारचर्चा, प्रबन्धार्थौचित्य)

धनञ्जय[1] (६६५ ई०; ने अपनी रचनाओं में भवभूति के उद्धरण दिये हैं।

(२) धनपाल (२० वीं शताब्दी) ने अपनी 'तिलकमञ्जरी' में भवभूति की प्रशंसा की है।[2]

(३) राजशेखर अपने को भवभूति का अवतार मानते हैं।[3] राजशेखर का स्थितिकाल ६०० ई० माना जाता है।

(४) वामन ने अपने 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' ग्रन्थ में भवभूति के इयं गेहे लक्ष्मीः ....' आदि पद्य (उत्त० १/२८) को उद्धृत क्या है। वामन का समय ८०० ई०) माना जाता है।

इससे, भवभूति के स्थितिकाल की परवर्त्ती सीमा सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध निश्चित किया जा सकता है, क्योंकि—

(५) इससे पहले बाणभट्ट ने अपने 'हर्षचरित' में अपने अनेक पूर्ववर्त्ती भास-कालिदास भट्टार-हरिश्चन्द्र के सदृश भवभूति का उल्लेख नहीं किया है। इससे ज्ञात होता है कि तब तक भवभूति का आविर्भाव नहीं हुआ था। बाणभट्ट का समय सातवीं

[ग] "वृद्धास्तु न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु किं वर्ण्यते,

× × ×

× × ×

यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुनिधने तवाप्यभिज्ञो जनः ॥ (उत्तरराम०, ५।३४)

अत्राप्रधानस्य रामसूतोः कुमारलवस्य परप्रतापोत्कर्षासहिष्णोर्वीररसोद्दीपनाय सकलप्रबन्धजीवितसर्वस्वभूतस्य प्रधाननायकगतस्य वीररसस्य ताडकादमन-खररणापसरण-अन्यरणसंसक्तवालिव्यापादनादिजनविहितापवादप्रतिपादनेन स्ववचसा कविना विनाशः कृत इत्यनुचितमेतत्।" (औचित्यविचारचर्चा)

(१) उत्तररा०; १। श्लोक २४, २६, २७, ३५, ३७, ३८, ३९; २। 'स्वागतं तपोधनायाः' ३। श्लोक २६, ३७; ५। श्लोक ३४; ६। श्लोक ११, १६। (दशरूपक। विस्तार वहीं देखें।)

(२) "स्पष्टभावरसा चित्रैः पादन्यासैः प्रवर्त्तिता।
नाटकेषु नटस्त्रीव भारती भवभूतिना ॥"

(३) "बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा, ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया, स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः ॥
(बालरामायण, १।१६)

शताब्दी का पूर्वार्द्ध था। इसलिए यह भवभूति के काल की पूर्ववर्त्ती सीमा निर्धारित की जा सकती है।

(६) इसके अतिरिक्त कल्हण (१२ वीं श०) की 'राजतरङ्गिणी' से ज्ञात होता है कि भवभूति कन्नौज के राजा यशोवर्मा के आश्रित थे।[1] ये यशोवर्मा बड़े गुणग्राही थे और स्वयं इन्होंने भी 'रमाभ्युदय' नाटक की रचना की थी। राजतरङ्गिणी (४/१४४) से ज्ञात होता है कि काश्मीर के राजा ललितादित्य ने यशोवर्मा को पराजित कर दिया था। डा० स्टीन ने अपने द्वारा सम्पादित 'राजतरङ्गिणी में इस घटना को ७३६ ई० के आसपास निर्धारित किया है।

'राजतरङ्गिणी' के पूर्वोक्त श्लोक में भवभूति के साथ वाक्पतिराज का भी उल्लेख हुआ है। वाक्पतिराज ने अपने 'गौड़वहो' नामक प्राकृत काव्य में यशोवर्मा के पराक्रम और उनकी गौड़देशाधिपति पर विजय का वर्णन किया है। यह काव्य अधूरा ही उपलब्ध होता है। इसका कारण यही ज्ञात होता है कि वाक्पतिराज ने इस काव्य की रचना यशोवर्मा के विजयी दिनों में की थी किन्तु ललितादित्य के द्वारा उनके पराजित हो जाने पर उन्होंने इस काव्य को बीच में ही छोड़ दिया।

अपने काव्य में वाक्पतिराज ने भवभूति की बड़ी प्रशंसा की है:—

भवभूइ-जलहि-णिग्गअ-कव्वामय-रसकणा इव फुरन्ती।
अस्स बिसेसा अज्ज वि, वियडेसु कहाणिवेसेसु॥
[भवभूति-जलधिनिर्गतकाव्यामृतरसकणा इव स्फुरन्ती।
यस्य विशेषमद्यापि, विकटेषु कथानिवेशेषु॥] (गोडवहो, ७९९)

इस श्लोक के अज्ज वि (अद्यापि)—इस पद से ज्ञात होता है कि भवभूति वाक्पतिराज से पहले हो चुके थे और तब तक उनकी पर्याप्त प्रसिद्धि हो चुकी थी।

गौड़वहो (८३२ गाथा) में वर्णित एक सूर्यग्रहण के कालनिर्णय के अनुसार डा० जैकोबी इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि यह ग्रहण १४ अगस्त ७३३ ई० को हुआ था। भवभूति, जो कि वाक्पतिराज के पूर्ववर्त्ती थे, निस्सन्देह इस समय से पहले ही हुए होंगें। इस प्रकार ७ वीं शती का उत्तरार्द्ध या ८ वीं शती का पूर्वार्द्ध भवभूति का काल सिद्ध होता है।

कुछ दिन पूर्व श्री शङ्कर पाण्डुरङ्ग को 'मालतीमाधव' की एक प्राचीन हस्त लिपि प्राप्त हुई थी जिसके तृतीय अङ्क की पुष्पिका में लिपिकार ने उसके रचयिता

---

१. कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्॥
(राजतरङ्गिणी ४/१४४)

(वाक्पतिराज और भवभूति आदि कवियों से सेवित स्वयं (कन्नौज नरेश (यशोवर्मा) (काश्मीर नरेश ललितादित्य से) पराजित हो कर भाटों की भाँति उसकी स्तुति करने लगा।)

के स्थान पर 'इतिश्रीभट्टकुमारिलशिष्यकृते मालतीमाधवे तृतीयोऽङ्कः' और षष्ठ अङ्क की पुष्पिका में 'इति श्रीकुमारिलस्वामिप्रसादप्राप्तवाग्वैभवश्रीमदुम्बेकाचार्य-विरचिते मालतीमाधवे षष्ठोऽङ्कः' लिखा है इससे यह समस्या सामने आती है कि उम्बेक और भवभूति क्या एक ही थे ? उम्वेकाचार्य मीमांसा के बहुत बड़े विद्वान् थे और उन्होंने कुमारिल के श्लोकवार्तिक पर टीका लिखी है और वह टीका 'ये नाम केचिदिह'...से प्रारम्भ होती है जो कि मालतीमाधव में भी है। इससे भवभूति और उम्बेक के एक ही व्यक्ति होने की पुष्टि होती है।

प्रत्यग्रूप भगवान् (१३००—१४०० ई०) ने चित्सुखाचार्य की तत्त्वदीपिका की नयनप्रसादिनी टीका लिखी है। इस टीका में उन्होंने उम्वेक का कई बार उल्लेख किया है और उनको भवभूति से अभिन्न बताया है।

श्रीहर्ष के प्रसिद्ध ग्रन्थ खण्डनखण्डखाद्य पर आनन्दपूर्ण ने 'विद्यासागरी' नामक टीका लिखी है उसमें श्लोककार्तिक से दो श्लोक उद्धृत किए गए हैं। टीकाकार ने यह बताया है कि उबैक (उम्वेक) ने इन श्लोकों की टीका की है।

हरिभद्र सूरि के 'षड्दर्शन समुच्चय' की टीका में गुणरत्न नामक जैन लेखक (१४०९ ई०) ने उम्वेक को कारिका (श्लोककार्तिक) का अच्छा ज्ञाता बताया है।

'उम्वेकः कारिकां वेत्ति, तन्त्रं वेत्ति प्रभाकरः।
वामनस्तूभयं वेत्ति, न किञ्चिदपि रेषणः॥'

इस विवेचन से सिद्ध होता है कि भवभूति का ही दूसरा नाम उम्वेक था। साहित्य में वे 'भवभूति' के नाम से प्रसिद्ध हुए और मीमांसा में 'उम्बेक' के। यह मत यद्यपि निर्भ्रान्त नहीं है तथापि विचारणीय अवश्य है।×

व्यक्तित्व

भवभूति ने अपने नाटकों की प्रस्तावना में अपना परिचय दिया है। महावीर चरित की प्रस्तावना से ज्ञात होता है कि वे विदर्भ (बरार) के पद्मपुर नगर के निवासी थे। उन्होंने उदुम्बुरवंशी ब्राह्मणों के परिवार में जन्म लिया था। ये ब्राह्मण बड़े ही आदरणीय, धर्मनिष्ठ, सोमरस का पान करने वाले और वेद के ज्ञाता थे। भवभूति के पांचवे पूर्वज का नाम 'महाकवि' था, उन्होंने 'वाजपेय' यज्ञ किया था। भवभूति के बाबा का नाम 'भट्टगोपाल' था, पिता का नाम 'नीककण्ठ' था और माता—

× विशेष विस्तार के लिये देखिये।

(क) श्री काणे महोदय द्वारा सम्पादित 'उत्तररामचरित' की भूमिका।

(ख) श्री बलदेव उपाध्याय—'संस्कृत-कवि-चर्चा' पृष्ठ ३०४–३१०

(ग) श्री वाचस्पति गैरोला—'संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' पृष्ठ ६१३–१४

का 'जतुकर्णी' था ।[1] इनके गुरु का नाम 'ज्ञाननिधि' था । वे वास्तव में ज्ञान के निधि ही थे ।[2]

भवभूति व्याकरण, न्याय, मीमांसा के अपूर्व पण्डित थे । उनका प्रारम्भिक नाम 'श्रीकण्ठ' था और भवभूति उनका साहित्यिक नाम था जो कि 'गिरिजायाः कुचौ वन्दे-भवभूति-सिताननौ' तथा 'साम्बा पुनातु भवभूतिपवित्रमूर्तिः' जैसे पद्य लिखने से पड़ा था । भवभूति के नाम के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है ।

'श्रीकण्ठपदलाञ्छनोः भवभूतिर्नाम्' पदमाम्यप्रमाणज्ञो भवभूतिर्नाम्' आदि उल्लेखों से ज्ञात होता है कि उनका वास्तविक नाम भवभूति ही था, श्रीकण्ठ उनकी उपाधि थी । टीकाकारों ने दोनों प्रकार की व्याख्या की हे । अनन्त पण्डित ने अपनी 'आर्यासप्तसति' की टीका (१।३६) में 'श्रीधर' नाम स्वीकार किया है । वीरराघव ने इनके भवभूति नाम के सम्बन्ध में एक और विचार व्यक्त किया है कि इन्हें भगवान् शङ्कर (भव) ने स्वयं भिक्षुरूप में आकर 'भूति' (ऐश्वर्य) प्रदान की थी इसीलिए इनका नाम भवभूति पड़ा ।[3]

---

१. 'अस्ति दक्षिणपथे पद्मपुरं नाम नगरम् । तत्र केचित्तैत्तिरीयाः कश्यपाश्चरणगुरवः पङ्क्तिपावना धृतव्रता सोमपायिन 'उदुम्वरनामानो' ब्रह्मवादिनः प्रतिवसन्ति । यदमुष्यायणस्य तत्र भवतो वाजपेययाजिनो महाकवेः पञ्चमः; सुगृहीनाम्नो भट्टगोपालस्य पौत्रः; पवित्रकीर्तेनीलकण्ठस्यात्मसम्भवः श्रीकण्ठपदलाञ्छनः पदवाक्यप्रमाणज्ञो भवभूतिर्नाम जातूकर्णीपुत्रः ।' (महावीरचरित, प्रस्तावना ।)

२, (क) 'श्रेष्ठः परमहंसानां महर्षीणां यथाङ्गिराः ।
यथार्थनामा भगवान् यस्य ज्ञाननिधिर्गुरुः ॥' (महावीर०, १,५)

(ख) 'गुणैः सतां न मम को गुणः प्रख्यापितो भवेत् ।
यथार्थनामा भगवान् यस्य ज्ञाननिधिर्गुरुः ॥' (मा० मा० १६)

३. श्रीकण्ठपदलाञ्छनः । पितृकृतनामेदम् । भवमूतिर्नाम 'साम्बा पुनातु भवभूतिपवित्रमूर्तिः' श्लोकरचनासन्तुष्टेन राज्ञा 'भवभूति'रिति ख्यापितः ।' (वीरराघव)

अथवा

'किञ्चास्मै कवये ईश्वर एवं भिक्षुरूपेणागत्य भूतिं दत्तवानिति वदन्ति । एवं च भवात् भगवतो भूतिर्यस्येति 'भवभूति' रित्यन्वर्थं इत्याहुः ।' (वीरराघव)

'नाम्ना श्रीकण्ठः, प्रसिध्यां भवभूतिरित्यर्थः ।' (जगद्धर, मा० मा०)

भवभूतिरिति व्यवहारे तस्यैव नामान्तरम् (त्रिपरारि मा० मा०)

'श्रीधर' इति कविनाम । 'भवभूति'रिति 'गिरिजायाः कुचौ...' इति प्रकरणोत्तर पदवीनाम् । (अनन्तपण्डित, 'आर्यासप्तशती' श्लोक १·३६ की टीका

भवभूति को विद्वत्ता अपनी पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुई थी। समस्त शास्त्रों में उनकी अप्रतिहत गति थी। वाणी अनुचरी की भाँति उनका अनुसरण किया करती थी।[१] उनका सारस्वत स्रोत सदा प्रवाहित रहता है।[२] गहन शास्त्रों के अध्ययन करने पर भी उनका हृदय शुष्क नहीं था। वे वेदाभ्यास जड़ न होकर बड़े ही भावुक थे, रससिद्ध कवि थे। यद्यपि उन्होंने अपने नाटकों में सरसता को अक्षुण्ण रखा है तथापि उनका वैदग्ध्य' पाण्डित्य से परिवेष्टित होकर ही आता है। वेद, उपनिषद, निरुक्त, वेदान्त, व्याकरण, योग, सांख्य, तन्त्र, जातक धर्मशास्त्र, न्याय, मीमांसा, राजनीति, कामसूत्र और नाट्यशास्त्र सम्बन्धी उ... पाण्डित्य की झलक उनके अनेक पद्यों से मिलती है।[३]

भवभूति को अपनी विद्वत्ता पर स्वयं गर्व था और उन्होंने यत्र-तत्र इस ... के भाव व्यक्त भी किए हैं; किन्तु उन्हें इस बात का दुःख था कि उनका सम्मा... जीवन में उतना नहीं हुआ जितना होना चाहिए था। फिर भी, उन्हें आश...

---

१. 'यं ब्रह्माणमयं देवी वाग्वश्येवानुवर्तते।' (उत्तर० १।२)

२. यद्वेदाध्ययनं तथोपनिषदां सांख्यस्य योगयस्य च,
ज्ञानं तत्कथनेन किं नहि ततः कश्चिद् गुणो नाटके।
यत्प्रौढत्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवं,
तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमक पाण्डित्यवैदग्ध्योः॥' (मा० मा०, १.१६)

३. विभिन्न शास्त्रों में उनके पाण्डित्य पर निम्नलिखित स्थलों से प्रकाश पड़ता है :—

वेद —उत्तर० २/१२, ४/१८ **उपनिषद्**—महावीरचरित का प्रारम्भिकश्लोक उत्तर० के २/३, २/'पन्थानो देवयानाः' ४/'असुर्या नाम ते लोकाः····' **वेदान्त**— उत्तर० ३/४ में 'विवर्त', ६/६ 'विद्याकल्पेन····क्वापि प्रविलयः कृतः। **योग**— महावीरचरित के तीसरे अङ्क में तथा मालतीमाधव के पांचवे अङ्क में। **तन्त्र-जातक**—'अतिबोधिसत्त्वैः' मा० मा०, **सांख्य**—'प्रचीयमानसत्वप्रकाशाः' (उत्तर० अङ्क ५) **धर्मशास्त्र**—उत्तर० ४/'समांसो मधुपर्कः' 'पराक—सान्तपन' आदि। **न्याय**—उत्तर० ४/'निगृहीतोऽसि···· ' तथा मा० मा० ५ वें अङ्क में अनेक स्थानों पर। **कामसूत्र**—मा० मा० १/६ तथा सातवें अङ्क में एक उद्धरण **राजनीति**— महावीरचरित ४/के अनेक अंश, मा० मा० में 'कामन्दकी' नामकरण 'कामन्दकीय' नीति का परिचायक। **नाट्यशास्त्र**—भरत के लिये 'तौर्यत्रिक सूत्रधार' का प्रयोग (उत्तर०) तथा मा० मा० १/६। कहीं कहीं उन्होंने वैदिक शैली पर भी रचना की है:—'परं ते ज्योतिः प्रकाशताम्। उभयं त्वा पुनातु देवः परोरजा य एष तपति।'

(उत्तर० अंक ४)

कभी न कभी तो उन्हें पहचानने वाले लोग होंगे ही ।[1] ऐसा प्रतीत होता है उनको प्रारम्भिक जीवन में सम्मान प्राप्त नहीं हुआ था । 'उत्तररामचरित' की रचना के पश्चात् उनका यश चारों ओर फैला और अपनी प्रौढ़ावस्था में उन्हें यशोवर्मा का आश्रय प्राप्त हुआ था । उनके नाटक भगवान् कालप्रियानाथ की यात्रा के अवसर पर ही खेले गये थे । कालप्रियानाथ से कुछ लोग उज्जयिनी के महाकाल का ग्रहण करते हैं और कुछ राजशेखर के उद्धरण से 'कालप्रियानाथ' के मन्दिर का[2] । कुछ भवभूति के निवासस्थान 'पद्मपुर' में किसी मन्दिर की कल्पना करते हैं ।

[illegible] भवभूति स्वभाव से वहुत ही गम्भीर थे । उनके पात्रों में विदूषक का अभाव [illegible] का परिणाम है । यों एक-आध स्थल पर उनकी हास्य-प्रियता भी दृष्टिगोचर [illegible] है । उत्तररामचरित में चित्रदर्शन के अवसर पर उर्मिला के विषय में सीता का [illegible]ना—'वच्छ ! इयं वि अवरा का ? (वत्स ! इयमप्यपरा का ?)' चतुर्थ अङ्क [illegible]तकि और दण्डायन का वार्तालाप तथा चतुर्थ अङ्क में ही ब्रह्मचारियों के द्वारा [illegible] वर्णन उनके विनोदी स्वभाव की एक झलक देता है; किन्तु यह हास्य स्मित स आग नहीं वढ़ पाता ।

भवभूति सुखमय परिवार के जीवन के वड़े ही चतुर चित्रकार थे । दाम्पत्य का जैसा सरल, स्वाभाविक, सजीव एवं मर्यादित चित्रण इन्होंने किया है कदाचित् ही कहीं मिले । उनके मत में स्त्री 'घर की लक्ष्मी',[3] जीवनसङ्गिनी और पवित्रता की

---

१. 'ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां,
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः ।
उपत्स्यते मम तु कोऽपि समान धर्मा
कालो ह्यय निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥' (मालतीमाधव १।८)

२. अनियतत्वाद् दिशामनिश्चितो दिग्विभाग' इत्येके । तथाहि—श्रीवामनस्वामिनः पूर्वः स ब्रह्मशिलायाः पश्चिमो, यो गाधिपुरस्य दक्षिणः स कालप्रियस्योत्तर इति । 'अवधिनिबन्धमिदं रूपमितरत्त्वनियतमेव' इति यायावरीयः ।'
राजशेखर, काव्यमीमांसा, कविरहस्य खण्ड)

३ (१) इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्त्तिर्नयनयोः ।' (उत्त०, १।३८)

(२) 'प्रेयो मित्र बन्धुता वा समग्रा,
सर्वे कामाः शेषधिर्जीवितं वा ।
स्त्रीणां भर्त्ता धर्मदाराश्च पुंसा-
मित्यन्योन्यं वत्सयोर्ज्ञातमस्तु ।" (मालतीमाधव ६।१८)

(३) 'अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु य-
द्विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्न हार्यो रसः ।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्प्रेमसारेस्थितं,
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते ॥' (उत्त०, १।३९)

मूर्ति है। सन्तान परिवार के सुख में चार चांद लगा देती है। विवाह केवल विलास के लिए नहीं है, अपितु कर्त्तव्य पालन के लिए है; त्याग और तपस्या के लिये है; 'प्रजातन्तु विच्छिन्न न हो'—इसलिए है। दम्पती के अन्तःकरण की स्नेहमय आनन्दग्रन्थि ही तो सन्तान होती हैं।[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि भवभूति अपने जीवन के सरस दिनों में ही विधुर हो गये थे। उनका वारम्वार विधुरावस्था का मार्मिक[2] वर्णन इसी ओर सङ्केत करता हुआ प्रतीत होता है। बहुत सम्भव है कि बहुत दिनों तक साहित्य-क्षेत्र में अपनी उपेक्षा और अपने पारिवारिक जीवन के दुःखद अवसान ने उन्हें गम्भीर बना दिया हो

भवभूति बड़ी ही सच्चरित्रता निष्ठा और मर्यादा से जीवन व्यतीत करने वाले थे। धर्म के प्रति उनमें गहन आस्था थी। इस पवित्रता की धवल धारा में अवगाहन करके उन्होंने जो कुछ दिया है वह साहित्य-संसार की सचमुच अक्षय निधि है।

'भवभूति का व्यक्तित्व संस्कृत-साहित्य में जीवन की मधुरता और कटुता, अन्तःप्रकृति तथा वाह्यप्रकृति के कोमल और विकट दोनों रूपों का ग्रहण करने की क्षमता रखता है। भवभूति वे श्रीकण्ठ हैं जिन्होंने एक साथ चन्द्रकला की शीतल सरसता और विष की तिक्तता—दोनों को जीवन के उल्लासमय तथा वेदनाव्यथित दोनों तरह के पहलुओं को सहर्ष अङ्गीकार किया है।'[3]

कवित्व—

भवभूति की तीन रचनाएं उपलब्ध होती हैं:—(१) मालतीमाधव (२) महावीर चरित तथा (३) उत्तररामचरित। इन रचनाओं के कालक्रम के विषय में विद्वानों में मतभेद है। उत्तररामचरित को प्रायः सभी आलोचक, कवि की अन्तिम कृति मानते हैं, किन्तु श्री रे का मत है कि 'मालतीमाधव' कवि की अन्तिम रचना थी। परन्तु रे महोदय का मत युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। महावीरचरित और मालतीमाधव के रचना-क्रम के विषय में पर्याप्त मतभेद है। पण्डित टोडरमल, डा० भण्डारकर, चन्द्रशेखर पाण्डेय आदि महावीरचरित को कवि की प्रथम कृति

---

१. 'अन्तःकरणतत्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंप्रयात्।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति पठ्यते॥' (उत्त० ३।१७)

२. (१) 'प्रियानाशे कृत्स्न किल जगदरण्यं हि भवति।' (उत्त०, ६।३०)
(२) 'जगज्जीर्णारण्यं भवति च कलत्रेऽप्यु (ह्यु) परते।' (उत्त०, ६।३८)

३. डा० भोलाशंकर व्यास, 'संस्कृत-कवि-दर्शन', पृष्ठ, ४०८।

मानते हैं। डा० कीथ का भी ऐसा ही विचार है परन्तु वे निश्चित रूप से कोई व्यवस्था देने को तैयार नहीं हैं। हमारा अपना विचार है कि भवभूति ने अन्य अनेक रचनाएं की होंगी, जिनका उचित सम्मान नहीं हुआ तब उन्होंने 'मालतीमाधव' प्रकरण की रचना की, जिसमें अपने आलोचकों के प्रति उनकी खीझ स्पष्ट व्यक्त हुई है, किन्तु उसका भी अधिक सम्मान नहीं हुआ तब वे रामचरित की ओर उन्मुख हुए और प्रारम्भिक आलोचना के बाद अपने जीवन में ही एक उच्चकोटि के कलाकार की ख्याति प्राप्त करने में सफल हुए। उनकी रचनाओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:—

(१) मालतीमाधव—यह १० अङ्कों का प्रकरण है । इसमें मालती और माधव के प्रेम और विवाह की काल्पनिक कथा चित्रित की गई है। भूरिवसु और देवरात क्रमशः पद्मावती और विदर्भ के राजमन्त्री थे। उन्होंने यह प्रण किया था कि वे अपने पुत्र—पुत्रियों का परस्पर विवाह करेंगे। समय पर देवरात के पुत्र और भूरिवसु के पुत्री उत्पन्न हुई। भूरिवसु देवरात के पुत्र माधव के साथ, अपनी प्रतिज्ञानुसार, मालती का विवाह करना चाहते हैं, परन्तु राजा का साला और मित्र (नर्मसुहृद् नन्दन मालती से अपना विवाह करना चाहता है। राजा का समर्थन भी उसे प्राप्त है। माधव का एक साथी मकरन्द है और नन्दन की बहिन मदयन्तिका मालती की सहेली है। मालती और माधव एक शिव-मन्दिर में मिलते हैं। वहीं मदयन्तिका को मकरन्द एक सिंह से बचाता है। तभी वे एक दूसरे पर अनुरक्त हो जाते हैं। इधर राजा मालती और नन्दन का विवाह कराने के लिए तैयार हैं। माधव अपनी प्रेमसिद्धि के लिए श्मशान में तन्त्र सिद्धि कर रहा है कि उसे एक स्त्री की चीख सुनाई पड़ती है। वहां जाने पर उसे पता चलता है कि अघोरघण्ट और उसकी शिष्या कपालकुण्डला मालती को चामुण्डा की बलि चढ़ाने का उपक्रम कर रहे हैं। माधव अघोरघण्ट को मारकर मालती को बचा लेता है। राजा के सैनिक ढूंढते हुए श्मशान पहुंचते हैं और मालती को ले आते हैं। मालती और नन्दन के विवाह की तैयारी की जाती है परन्तु कामन्दकी (भूरिवसु की शुभ-चिन्तिका तापसी) की चतुरता से मकरन्द का विवाह नन्दन से हो जाता है और कामन्दकी शिव-मन्दिर में ले जाकर मालती-माधव का गन्धर्व विवाह करा देती है। इधर प्रथम मिलन के अवसर पर मकरन्द नन्दन को पीट देता है। नन्दन वहां से चला जाता है। मदयन्तिका अपनी भाभी को समझाने जाती है, पर उसे अपना प्रेमी जानकर उसके साथ भाग जाती हैं परन्तु सैनिकों द्वारा मकरन्द पकड़ लिया जाता है। यह सुनकर माधव मालती को छोड़कर अपने मित्र की सहायता करने के लिए चल पड़ता है। इसी बीच अपने गुरु का बदला लेने के लिए कपालकुण्डला मालती को चुराकर श्रीपर्वत पर ले जाती है। उधर सैनिकों और माधव-मकरन्द का भयङ्कर युद्ध होता हैं। राजा उनकी वीरता से प्रसन्न होकर उन्हें छोड़ देता है। माधव मकरन्द के साथ विक्षिप्तावस्था में विन्ध्य पर्वत पर मालती की खोज में घूम रहा है। वहीं कामन्दकी की शिष्या सौदामिनी बतलाती है कि मालती उसकी

कुटिया में सुरक्षित है। इस समाचार को मकरन्द भूरिवसु, मदयन्तिका आदि को देता है। बाद में मालती-माधव के मिलन के साथ ही मकरन्द-मदयन्तिका का विवाह सम्पन्न हो जाता है।

'मालतीमाधव' की रचना में कवि को बहुत सम्भव है बृहत्कथा अथवा अन्य लोककथाओं से प्रेरणा मिली हो। कुछ विद्वानों की सम्मति में भास के 'अविमारक' का मालतीमाधव पर प्रभाव पड़ा है। वस्तुयोजना की दृष्टि से मालतीमाधव की कथा बहुत विश्रृङ्खलित है। लम्बे-लम्बे समास और संवाद उसकी नाटकीयता में व्याघात उपस्थित करते हैं।

(२) महावीरचरित—यह सात अङ्कों का नाटक है। इसमें रामचन्द्र जी के राज्याभिषेक तक की घटनाओं का वर्णन हैं। मालतीमाधव की अपेक्षा यह नाटक अधिक संगठित हैं। कवि ने इसमें अनेक नवीन कल्पनाए की हैं। आरम्भ में ही रावण सीता-विवाह का अभिलाषी चित्रित करके कवि ने नाटक में संघर्ष की अवतारणा कर दी है। रामचन्द्रजी धनुष तोड़कर सीता जी से विवाह करते हैं। रावण अत्यन्त क्रुद्ध होता हैं, उसका मन्त्री माल्यवान अपनी कूटनीति का प्रयोग करता है। पहले तो वह परशुराम को राम के विरुद्ध भड़काकर भेजता है पर जब यह युक्ति असफल हो जाती है तब वह शूर्पणखा को मन्थरा वेश में भेजकर कैकयी से राम को वन भेजने का षडयन्त्र कराता है। वन में निवास करते समय माल्यवान ही सीताहरण कराता है और बाली को भड़काता है। वाली राम से युद्ध करने आता है और मारा जाता है। अन्त में, राम सुग्रीव की सहायता से लङ्का पर चढ़ाई करते हैं और रावण-वध के अनन्तर पुष्पक–विमान से अयोध्या लौट आते हैं।

महावीरचरित मालतीमाधव से अधिक गठा हुआ होने पर भी वर्णनों की अधिकता, सटीक चरित्र–चित्रण के अभाव एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की न्यूनता के कारण प्रथम श्रेणी का नाटक नहीं कहा जा सकता है।

(३) उत्तररामचरित—भूवभूति का सर्वश्रेष्ठ नाटक है। इसमें कवि ने अपनी कल्पना का प्रयोग करके अद्भुत सृष्टि की है। इसमें सात अङ्क हैं और इसमें रामचन्द्रजी के उत्तर चरित्र का वर्णन है। यह महावीरचरित का उत्तर भाग ही समझा जा सकता है। प्रथम अङ्क में राम को दुर्मुख नामक दूत से सीतापवाद विषयक सूचना मिलती है और वे प्रजारञ्जन के लिए उनका त्याग कर देते हैं। इसकी भूमिका बड़े ही कौशल से संयोजित की गई है। 'चित्रदर्शन' के अवसर पर स्वयं सीताजी गंगा जी का दर्शन करने की इच्छा व्यक्त करती हैं और गंगा-दर्शन के लिये उनका जाना अनजाने में ही राम से बिछुड़ जाना होता है। दूसरे अङ्क का प्रारम्भ १२ वर्ष के बाद होता है। आत्रेयी नामक तापसी तथा वासन्ती नामक वनदेवी के सम्भाषण से हमें ज्ञात होता है राम ने अश्वमेघ यज्ञ प्रारम्भ कर दिया है और महर्षि वाल्मीकि किसी देवता के द्वारा सौंपे गये दो प्रखरबुद्धि बालकों का पालन कर रहे हैं। राम दण्डकारण्य में प्रवेश कर शूद्र मुनि का वध करते हैं। तृतीय अङ्क में तमसा और मुरला–दो नदियों के वार्तालाप से ज्ञात होता है कि

परित्यक्त होने के अनन्तर सीता जी प्राण-विसर्जन करने के लिये गङ्गा जी में कूद पड़ीं और वहीं उन्होंने लव–कुश को जन्म दिया। गङ्गाजी ने उनके पुत्रों की रक्षा करके वाल्मीकिजी को समर्पित कर दिया है। आज उनकी बारहवीं वर्ष गांठ है इसलिए भगवती भागीरथी ने सीता जी को आज्ञा दी है कि वे अपने कुल के उपास्यदेव भगवान् सूर्य की उपासना करें। उन्हें भागीरथी का वरदान है कि उन्हें पृथ्वी पर देवता भी नहीं देख सकते, पुरुषों की तो बात ही क्या है ? गङ्गा जी को यह बात ज्ञात है कि अगस्त्याश्रम से लौटते समय रामचन्द्र जी पञ्चवटी के दर्शन अवश्य करेंगे, कहीं ऐसा न हो कि पूर्वानुभूत दृश्यों का स्मरण कर वे विक्षिप्त चित्त हो जायें। इसलिए उन्होंने सीता जी को राम का दर्शन करने की योजना बनाई है और उनकी देखरेख के लिए उन्होंने (तमसा) को उनके साथ भेजा है। इसके अनन्तर भगवान् रामचन्द्र जी का प्रवेश होता है। पञ्चवटी प्रवेश में वनदेवी वासन्ती के साथ पूर्वानुभूत दृश्यों को देखकर सीता की स्मृति से अत्यन्त व्याकुल होते हैं। सीता अदृश्य रूप में उन्हें स्पर्श करके प्रबुद्ध करती है। 'छाया' नामक इस तृतीय अङ्क में सीता के हृदय की शुद्धि हो जाती है। चतुर्थ अङ्क में वाल्मीकि—आश्रम में जनक, कौशल्या, वशिष्ठ आदि का आगमन होता है। कौशल्या और जनक का मिलन होता है। वहीं एक क्षत्रिय-बालक (लव) को ये देखते हैं। अन्य ब्रह्मचारियों द्वारा रामचन्द्रजी के यज्ञाश्व की सूचना सुनकर वह भाग जाता है। पाँचवे अङ्क में यज्ञाश्व के रक्षक चन्द्रकेतु से लव का वाद-विवाद होता है। और वे युद्ध करने के लिए तैयार हो जाते हैं; यद्यपि उनमें एक दूसरे के प्रति प्रेम उमड़ता है। छठे अङ्क में एक विद्याधर-युगुल के द्वारा दोनों के युद्ध का वर्णन प्राप्त होता है। इसी बीच रामचन्द्रजी के आजाने से युद्ध रुक जाता है। कुश भी सूचना पाकर आजाता है। राम के हृदय में उनके प्रति अत्यन्त प्रेम उमड़ पड़ता है। परन्तु उन्हें यह ज्ञात नहीं हो पाता कि ये उन्हीं की सन्तान हैं। सातवें अङ्क में एक 'गर्भाङ्क'–नाटक का प्रयोग होता है। वहीं वाल्मीकि की योजना से सीता-राम का मिलन होता है।

(ग) उत्तररामचरित की नाटकीय विशेषताएं

कथावस्तु का स्रोत और उसमें परिवर्तन—

उत्तररामचरित की कथावस्तु रामायण पर आधारित है, किन्तु भवभूति ने अनेक परिवर्तन किये हैं। निस्सन्देह उनकी प्रतिभा के बल से उत्तररामचरित का कथानक एक नवीन रूप में अवतीर्ण हुआ है। यो 'पद्मपुराण' में भी रामकथा का यह प्रसंग उत्तररामचरित की घटनाओं से मिलता है और इसी आधार पर वेलबल्कर प्रभृति विद्वानों का विचार है कि भवभूति के उत्तररामचरित का स्रोत वही पुराण था, किन्तु पुराणों की निश्चित तिथि निर्धारित न होने तथा उनमें समय-समय पर अनेक प्रक्षेप होने के कारण यह विचार हृदयङ्गम प्रतीत नहीं होता। बहुत सम्भव

हैं उत्तररामचरित की रचना के अनन्तर किसी ने उसके आधार पर वह प्रसङ्ग पद्म-पुराण में जोड़ दिया ।

भवभूति ने रामायण की कथा में निम्नलिखित परिवर्तन किये हैं:—

(१) रामायण की कथा दुःखान्त है । सीता पृथ्वी में समा जाती है और राम हाथ मलते रह जाते हैं, किन्तु संस्कृत नाट्यशास्त्र के नियमों का ध्यान रखते हुए भवभूति ने उसे सुखान्त चित्रित किया है । राम सीता, लव-कुश आदि सभी के सुखद मिलन के साथ नाटक समाप्त होता है ।

(२) प्रथम अङ्क में 'चित्रवीथी' की कल्पना कवि के उर्वर मस्तिष्क की उपज है । मूलकथा में उसका उल्लेख नहीं है । इस प्रयोग से राम के उत्तर-चरित के साथ पूर्व चरित भी संयोजित कर दिया गया है ।

(३) शम्बूक की कथा यद्यपि रामायण में भी मिलती है, परन्तु उत्तर-रामचरित के द्वितीय अङ्क में वह एक नये रूप में प्रस्तुत की गई है, जिससे राम पञ्चवटी में पहुंच सकें ।

(४) तृतीय अङ्क में 'छाया' सीता की कल्पना तो कवि की मौलिक सूझ है ही । 'छाया' सीता की अवतारणा नाटकीय दृष्टि से वहुत ही महत्वपूर्ण है । राम का पञ्चवटी में वासन्ती से मिलन भी कवि की अपनी उद्भावना है । इस पात्र की कल्पना से कवि ने राम के हृदय का सच्चा चित्र दर्शकों के सामने रखने में अपूर्व सफलता पाई है ।

(५) चतुर्थ अङ्क में वसिष्ठ अरुन्धती, जनक आदि को वाल्मीकि-आश्रम में एकत्रित करना भी कवि का ही कौशल है ।

(६) रामायण की कथा में यज्ञाश्व चुराने के प्रसङ्ग में राम और लव-कुश का युद्ध वर्णित है, और उसमें राम की पराजय भी दिखलाई गई है, परन्तु भवभूति ने वड़ी कुशलता से अपने नायक की मान-रक्षा की है । उन्हें ऐसी असमञ्जसकारी परिस्थिति से वचाया है । युद्ध लव और चन्द्रकेतु में ही दिखाया गया है, जो कि समन्वय आदि के कारण औचित्यपूर्ण है । युद्ध-वर्णन से राम के मञ्च पर आने में सहायता मिलती हैं ।

(७) सातवें अङ्क में गर्भाङ्क कवि का नूतन प्रयोग है । उत्तररामचरित का प्रारम्भ भी नाटक से है और अन्त भी ।

'उत्तररामचरित' का नामकरण ही वड़ा सारगर्भित है । हमने अपनी टीका में १९ वें पृष्ठ पर इसकी विशद व्याख्या की है । नामकरण की भाँति मङ्गलाचरण भी कवि के मानसिक विकास को समझने में सहायक होगा । स्पष्टतः कालिदास की भाँति यद्यपि इनमें 'आपरितोषाद्विदुषां न साधुमन्ये प्रयोगविज्ञानम्' की-सी भावना नहीं है फिर भी उनके स्वभाव में महान् परिवर्तन दिखाई पड़ता है ।

'उत्तररामचरित' भवभूति की सर्वश्रेष्ठ रचना है। उनकी प्रारम्भिक रचनायें भले ही असफल रही हों, परन्तु 'उत्तररामचरित' के विषय में उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते' यह प्रशस्ति पत्र उन्हें सहृदय समाज की ओर से दिया गया। वस्तु, नेता और रस की सुन्दर योजना ने इसे नाट्य-साहित्य का उज्ज्वल रत्न बना दिया है।

कथावस्तु में मौलिक परिवर्तनों का संकेत हम ऊपर कर चुके हैं। उनका वस्तु विन्यास बड़ा ही कलापूर्ण है। कथावस्तु को अङ्कों में इस प्रकार विभाजित किया गया है कि आगामी घटना-चक्र पर उसका प्रभाव पड़ता चला जाता है। 'चित्र-दर्शन नामक प्रथम अङ्क में ही हम नाटक के सुखान्त होने की सूचना पाते हैं—"सर्वथा ऋषियों देवताश्च श्रेयो विधास्यन्ति"। जृम्भकास्त्रों की सीता के पुत्रों को प्राप्ति, गङ्गा और पृथ्वी के द्वारा सीता की आगामी सहायता—सब का बीज इसी अङ्क में मिल जाता है। पताका-स्थानकों के सुन्दर प्रयोग कथा को और भी अधिक प्रभावशाली बना देते हैं। राम के 'किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः' कहने पर प्रतिहारी का यह कहना 'देव ! उपस्थितः' और राम का घबराकर यह पूछना—'अयि कः ?' और प्रतीहारी का यह उत्तर देना—'आसन्न परिचारकों देवस्य दुर्मुखः' पताकास्थानक के प्रतिनिधि रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इसी प्रकार के प्रयोग अनेक स्थलों पर नाटक के सौन्दर्य को बढ़ाते हैं।

दूसरे अङ्क की घटनायें बारह वर्ष के अनन्तर होती हैं। प्रजापालन के लिए शम्बूक का वध करने के हेतु राम दण्डकारण्य में आते हैं। कवि ने इन बारह वर्षों के बीतने का संकेत प्राकृतिक परिवर्तनों के आधार पर बड़ी कुशलता से किया है। (२।२७)। नदियों की धारायें बदल गई हैं, सीता के पालतू पशु-पक्षी बड़े हो गये हैं, परन्तु राम के हृदय में सीता का प्रेम ज्यों का त्यों है। वह प्रेम दण्डकारण्य में आकर एकदम प्रदीप्त हो उठता है। रामचन्द्रजी के चरित्र का विकास इस अङ्क में नाटककार ने बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से दिखाया है।

सीता के हृदय की शुद्धि के लिए तीसरा अङ्क अवतरित किया गया है। इस अङ्क का नाम 'छाया' रक्खा गया है। पञ्चवटी के पूर्वानुभूत दृश्यों को देखकर राम का फूट-फूट कर रोना निःसंदेह सीता के 'परित्याग-शल्य' को उखाड़ फेंकता है और उनके हृदय में जो यत्किञ्चित रोष था, दूर हो जाता है। 'अहमेवैतस्य हृदयं जानामि ममैषः' कहकर वे अपने हृदय का परम विश्वास व्यक्त करती हैं। हिरण्यप्रतिमा का समाचार सुनकर तो उनका समस्त आक्रोश श्रद्धा और विश्वास में परिवर्तित हो जाता है। सीता का अदृश्य रूप में वर्णन कवि की निःसन्देह मौलिक सूझ है। बहुत से आलोचकों ने इस अङ्क पर यह आरोप लगाया है कि इसके कारण नाटक की गतिशीलता में विघ्न उत्पन्न होता है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि तृतीय अङ्क में बाह्य गतिशीलता नहीं, आन्तरिक गतिशीलता है।

करुण रस के दीर्घ प्रवाह के अनन्तर हम पुनः एक बार औत्सुक्य हास्य और प्रसन्नता के क्षणों में आते हैं। चतुर्थ अङ्क में कारुण्य की गहराई से निकलकर दर्शक कुछ विश्रान्ति का अनुभव करता है। इस अङ्क की घटनाओं का सम्वन्ध दूसरे अङ्क की घटनाओं से है। वहाँ आत्रेयी और वासन्ती के वार्तालाप से अरुन्धती कौशल्या और वसिष्ठ जी के वाल्मीकि-आश्रम में गमन, लव-कुश, राम के अश्वमेघ यज्ञ, यज्ञ के अश्व की रक्षा में संलग्न चन्द्रकेतु, वाल्मीकि के काव्य आदि के सम्वन्ध में चर्चा हुई थी। यहाँ उन तथ्यों का विस्तार दृष्टिगत होता है।

चतुर्थ अङ्क के अन्त से ही पांचवें अङ्क की भूमिका प्रारम्भ हो जाती है और घटनाचक्र बड़ी तीव्रता से बढ़ता है।

कवि ने छटे अङ्क की भूमिका दूसरे अङ्क से ही प्रारम्भ कर दी थी। शम्बूक-वध करके राम विमान से अयोध्या लौटते समय वाल्मीकि-आश्रम में भी जायेंगे, यह सम्भावना होती है। रङ्गमञ्च पर उनके प्रवेश के लिए कवि ने समुचित भूमिका प्रस्तुत की है। लव-कुश से उनका मिलन बड़ी चातुरी से कराया गया है। नाटक की चरमावधि(Climax) तक पहुँचने के लिए इस अङ्क की महत्ता स्वतः सिद्ध है।

नाटक के सुखद उपसंहार में सातवें अङ्क का गर्भाङ्क बड़ा ही महत्वपूर्ण है। कवि ने यदि 'चित्रवीथी' दृश्य से नाटक के प्रथम अङ्क में रामचन्द्रजी का पूर्व-चरित्र प्रदर्शित किया है तो गर्भाङ्क से उनके उत्तरचरित्र पर प्रकाश डाला है। यह अङ्क समग्र नाटक की कथावस्तु का संक्षेप में परिचय प्रस्तुत कर देता है। नाटक के तृतीय अङ्क का 'छाया' चित्र सप्तम अंक में वास्तविक रूप धारण कर लेता है।

उक्त घटना यदि तृतीय अंक में स्वप्न थी तो यहां जागरण, यदि वहां कल्पना थी तो यहां प्रत्यक्ष; यदि वहां चित्र की एक प्रच्छन्न रेखा थी तो यहां उभरा हुआ मनोहर दृश्य। इस विविध भावों के सम्मेलन के साथ ही सम्मेलन नामक सातवां अंक समाप्त होता है। नाटक का आरम्भ राजमहलों के दृश्यों से होता है और समाप्ति महर्षि वाल्मीकि के गङ्गा तट के पवित्र आश्रम पर।

'उत्तररामचरित' में विष्कम्भकों का प्रयोग भी कुशलता से हुआ है। उनमें सभी आवश्यक घटनाओं की सूचना दे दी गई है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से 'उत्तररामचरित' एक सफल नाटक है। राम प्रजापालक हैं और अपना सर्वस्व प्रजाहित के लिए वलिदान कर सकते हैं। सीता—'करुणस्य मूर्तिः' अथवा 'शरीरिणी विरहव्यथा' होने पर भी अपने लोकोत्तर तेज से नाटक के प्रत्येक क्षेत्र को आभासित कर रही हैं। लक्ष्मण आज्ञापालक, कर्त्तव्यनिष्ठ, गम्भीर और कुछ तेजस्वी स्वभाव के चित्रित किये गये हैं। कौशल्या विपत्ति की मारी हुई, जनक दुर्भाग्य-ग्रस्त होने पर भी क्षात्र धर्म से प्रदीप्त हैं, लव-कुश बाल-सुलभ चापल्य से युक्त होने पर भी वीरता से युक्त हैं। चन्द्रकेतु राजकुमार होने पर भी विनय और वीरता से युक्त हैं। तमसा वासन्ती, आत्रेयी नारी गुणों के साथ

ही अपनी-अपनी भूमिकाएं चित्रित करने में पूर्णतः सफल हुई हैं। अष्टावक्र, वाल्मीकि मितभाषी ऋषियों के रूप में चित्रित किये गये हैं। सुमन्त्र स्वामिभक्त, वात्सल्यपूर्ण और नीतिज्ञ हैं। दण्डायन और सौधातकि अनध्यायप्रिय छात्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ऋषि पत्नी अरुन्धती परम साध्वी के रूप में हमारे सामने आती हैं। दुर्मुख तो दुर्मुख है ही।

भवभूति की प्रतिभा की सशक्त तूलिका से ये सभी चित्र बड़े ही प्राणवान् चित्रित किये गये हैं। यह हो सकता है कि उनके ये चित्र बहुत भड़कीले न हों, परन्तु इनमें जो गम्भीर–प्रभावोत्पादन–क्षमता है वह किसी को मन्त्र–मुग्ध किये बिना नहीं रह सकती।

नाटकीय संवाद अधिकांशतः छोटे-छोटे और सहज बोधगम्य हैं। कभी-कभी छोटे-छोटे वाक्य बड़े-बड़े अर्थों की अभिव्यक्ति करते हैं। सीता का 'वत्स ! इयमप्यपरा का ?' पूछना, लक्ष्मण का 'आर्ये ! दृश्यतां द्रष्टव्यमेतत्' यह कहना, वन देवता का 'हन्त ! तर्हि पण्डितःसंसारः' कहना उनके सारगर्भित कथनोपकथनों के उदाहरण हैं। भवभूति के सम्वाद इस नाटक में न तो 'मालतीमाधव' की तरह दीर्घसमास युक्त हैं और न ही 'महावीरचरित' की भाँति उनमें शब्दों का अकाण्ड ताण्डव तथा श्लथत्व ही है। 'उत्तररामचरित' में श्लोकों को विभक्त करके सम्वादोपयोगी रूप देने में भवभूति बहुत सफल हुए हैं।

प्रकृति–चित्रण की दृष्टि से 'उत्तररामचरित' बहुत ही महत्वपूर्ण है। वहाँ के द्रुम और मृग भी सीता–राम के बन्धु-बान्धव हैं। मयूर भी सीता का स्मरण करता है। वृक्ष भी पुष्पों से राम को अर्घ्य देते हैं और उनके रुदन पर पत्थर भी फूट-फूट कर रोने लगते हैं। प्रकृति-वर्णन में भवभूति का कौशल इस बात से आँका जाना चाहिए कि उन्होंने पञ्चवटी में सभी पशु-पक्षी युगल रूप' में चित्रित किये हैं, जबकि राम और सीता ही अकेले–अकेले हैं। राम के हृदय को रुला–रुला कर काव्यन्याय (Poetic Justice) दिखाने मे अपूर्व सफलता प्राप्त की है। विदूषक का अभाव भी इस नाटक की अन्य विशेषता है।

दाम्पत्य--प्रेम (Conjugal Love) का 'उत्तररामचरित' में बहुत ही सुन्दर चित्रण किया गया है। संसार में सच्चा दाम्पत्य प्रेम बड़ी कठिनता से प्राप्त होता है। प्रथम अङ्क के ३८–३६ वें श्लोकों में इस पर बहुत सुन्दर प्रकाश डाला है। न केवल दाम्पत्य-प्रेम, अपितु सर्वविध प्रेम के विषय में भवभूति ने अपने विचार बड़े मञ्जुल रूप में व्यक्त किये हैं*।

सारगर्भित सुभाषित उत्तररामचरित की अन्य विशेषता है। इन सूक्ति-रत्नों से नाटक की यह मञ्जूषा दमक रही है। सुभाषितों के लिये परिशिष्ट (घ) देखिये।

(*) उत्तररामचरित, ५।१७, ६।१२।

भाषा की दृष्टि से उत्तररामचरित भवभूति के अन्य नाटकों की अपेक्षा से सरल है यद्यपि एक-आध स्थल पर हमें कठिनता के भी दर्शन होते हैं। भावातिरेक के कारण कभी-कभी कवित्व नाटकत्व से बढ़ जाता है और वहाँ नाटकीय गति-शीलता दबी हुई सी प्रतीत होती है।

नाट्यशास्त्र की दृष्टि से इसकी कथावस्तु प्रख्यात है। नायक धीरोदात्त है। नायिका स्वीया है। इसमें प्रतिनायक वा प्रतिनायिका का अभाव है। अर्थप्रकृतियों अवस्थाओं, सन्धियों का यथास्थान चारुता से सन्निवेश किया गया है। इसमें 'करुण विप्रलम्भ–रस' को प्रधानता है, वीर, अद्भुत आदि रस अङ्ग हैं। रस–विवेचन हम नीचे करेंगे।

उत्तररामचरित की रस-योजना के सम्बन्ध में प्रायः सभी आलोचकों ने 'करुण' रस को अङ्गी रस के रूप में स्वीकार किया है। उनकी मान्यता का आधार ही भवभूति का अपना ही श्लोक 'एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्...' (३।४७) इन विद्वानों के मत में भवभूति करुण रस के ही समर्थक थे और उन्होंने नाट्यशास्त्र के नियमों को चुनोति देकर वीर और शृङ्गार के स्थान पर 'करुण' को अङ्गी रस स्वीकार किया है।

परन्तु यहाँ यह विचारणीय प्रश्न उठता है कि उत्तररामचरित में 'करुण रस' है या 'करुण विप्रलम्भ' ? करुण का स्थायी भाव 'शोक' है जिसका लक्षण है—

"इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं 'शोक'–शब्दभाक्।"

इसमें पुर्नमिलन की आशा नहीं रहती परन्तु 'करुण विप्रलम्भ' में पुर्नमिलन की आशा बनी रहती है, जैसा कि उसके लक्षण से स्पष्ट है :—

"यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदैकस्ततो भवेत् करुणविप्रलम्भाख्यः॥" (साहित्य–दर्पण)

यहाँ राम और सीता का पुर्नमिलन होता है। अतः हमारे मत में 'करुणविप्रलम्भ' मानना ही उपयुक्त होगा।

रही 'करुण' की बात; उसके विषय में उत्तर यह है कि 'शोक' शोक' तक ही रहता है, रस तक नहीं पहुंच पाता। वह 'अनिर्भिन्न, अन्तर्गूढ़ घनव्यथ' तथा 'पुटपाक-प्रतीकाश' ही रह जाता है। कवि ने 'पुटपाक' शब्द का प्रयोग किया है। पुटपाक के अनन्तर ही 'रस'–सिद्धि होती है। अतः यह स्पष्ट है कि कवि भी अपने करुण को अभी पूर्ण परिपक्व नहीं मानते। राम के हृदय की व्याकुलता का वर्णन करना उन्हें अभीष्ट है। भवभूति के प्रशंसकों ने उनके सम्बन्ध में जो प्रशस्तियां की हैं उनमें भी 'करुण रस' का प्रयोग नहीं आता अपितु 'कारुण्य' (करुण भाव) का ही उल्लेख है :—

"भवभूतेः सम्बन्धात् भूधरभूरेव भारती भाति।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा ?

यह विचार कि भवभूति एकमात्र 'करुण' के ही समर्थक थे, उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि यदि उन्हें केवल करुण रस ही अभीष्ट होता तो वे 'रसः करुण एव' कहते, 'एकः' विशेषण उन्होंने अपने नाटक के तृतीय अङ्क के लिए ही दिया है। जहाँ एक 'करुण' निमित्त भेद से भिन्न-भिन्न पात्रों में विभिन्न रूप से प्रति-विम्बित हो रहा है। भवभूति अन्य रसों को स्वीकार न करते हों, यह बात नहीं है, 'उत्तररामचरित' में उन्होंने 'जनितात्यद्भुतरसः और 'वीरो रसः किमयम्' आदि रसान्तरों का स्पष्ट उल्लेख किया है। अत: भवभूति को केवल 'करुण रस' का ही समर्थक मानना सत्य का अपलाप करना है। वे 'करुण' के पक्षपाती हो सकते हैं, किन्तु रसान्तरों के विरोधी नहीं।

इस विषय पर विस्तार से विवेचन के लिये हमारी 'एको रसः करुण एव' श्लोक पर २९०–९४ पृष्ठ की टिप्पणी देखिये।

भवभूति ने १।३९ में व्यञ्जना से अपने नाटक की ओर भी संकेत किया है:—

'उत्तररामचरित' सदृश मङ्गलकारी नाटक कठिनता से ही (देखने को या पढ़ने को) मिलता है। यह नाटक सभी अवस्थाओं में (कार्यावस्थाओं में) सुख, दुःख का अनुपम अद्वैत है; इसमें सर्वत्र आनन्द और करुणा की स्रोतस्विनी प्रवाहित होती रहती है; इस नाटक को देखने अथवा सुनने अथवा पढ़ने से हृदय अपार विश्राम का लाभ करता है; कहीं भी रस की धारा विच्छिन्न नहीं होती; हृदय में सत्त्वोद्रेक होने से तम का आवरण नष्ट हो जाने के कारण यह प्रेम-तत्वमय प्रतीत होता है।

इससे बढ़कर 'उत्तररामचरित' की विशेषता के सम्बन्ध में और क्या कहा जा सकता है ?

भवभूतिः एक समीक्षा––

भवभूति अपगे व्यक्तित्व और पाण्डित्य की दृष्टि से संस्कृत-साहित्य की अनुपम निधि हैं। वाणी को अपने संकेत पर नचाने वाली कतिपय अङ्गुलिगण्य विभूतियों में उनकी गणना की जाती है। मानव-भावों के विश्लेषण में, प्रकृति-चित्रण में कथा-शिल्प में, कल्पना की उड़ान में, रस की अवतारणा में विशुद्ध प्रेम के चित्रण में भवभूति का स्थान वहुत ही उच्च है।

उनकी शैली में भाषा और भाव का अद्भुत सामञ्जस्य है। उनकी भाषा विषयानुसारिणी है। वे भयावह दृश्यों के वर्णन में समास-संकुल ओजोगुणविशिष्ट पद्य भी लिख सकते हैं और कोमल प्रसङ्गों में असमस्त और सरस रचना भी कर सकते हैं। गौड़ी रीति के सम्राट् होने पर भी वे वैदर्भी के उपकरण हैं। एक ओर वे यदि—

"वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति॥' (२१७)

जैसे सरल पद्य लिख सकते हैं तो दूसरी ओर—

"ज्याजिह्वया वलयितोत्कटकोटिदंष्ट मुद्भूरिघोरघनघर्घरघोषमेतत् ।
ग्रासप्रसक्तहसदन्तकवक्त्रयन्त्र-लीला विडम्बि विकटोदरमस्तु चापम् ।"

(४।२९)

जैसे विरटबन्ध वाले पद्य भी लिख सकते हैं। एक ओर यदि वे परम सुकुमार भावों का चित्रण कर सकते हैं तो दूसरी ओर परुष भावनाओं का चित्र उपस्थित कर सकते हैं। उनकी रचनाओं में भाषा की प्रौढ़ता, शब्द विन्यास की प्राञ्जलता और अर्थगौरव की प्रधानता प्रचुर रीति से उपलब्ध होती हैं। उन्होंने स्वयं अपनी शैली के विषय में संकेत किया है—

"यत्पौढ़त्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवम् ।
तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमकं पाण्डित्य वैदग्ध्ययोः ॥"

भवभूति का भावपक्ष बहुत प्रबल है। भावनाओं का सटीक वर्णन करने में बहुत कम कवि उनकी तुलना कर सकेंगे। पञ्चवटी में राम का दर्शन कर सीताजी के हृदय की क्या अवस्था है, इसका वर्णन तमसा कर रही है :—

"तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवशाद्,
वियोगे दीर्घेऽस्मिन् झटिति घटनोत्तम्भितमिव ।
प्रसन्नं सौजन्याद्दयितकरुणैर्गाढकरुणं,
द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन् क्षण इव ॥ (३।१३)

एक साथ अनेक भावनाओं का कैसा सुन्दर चित्रण किया गया है। इस प्रकार भावशबलता के अनेक उदाहरण उनके नाटकों में उपलब्ध होते हैं।

'भवभूति की विशद वर्णना शक्ति अद्भूत है। वे प्रवाहयुक्त शोभा के साथ वर्णन कर सकते हैं और मार्मिक वेग के साथ भी। वे बाल्यावस्था की मुग्धकारी की सरलता (१।२०, ४।४); किशोरावस्था की सहज चपलता (४।२६), यौवन की उद्दाम किन्तु मर्यादित शृङ्गारभावना (६।३५) तथा प्रौढ़त्व एवं वार्धक्य की स्नेहपूर्ण वात्सल्यवृत्ति (४।१९,६।२२) का बड़ा ही सरस एवं हृदयग्राही वर्णन करते हैं।'[1] विविध रसों तथा भावों का एक पद्य में ही वर्णन कर देना भवभूति की विशेषता है।

भवभूति में शब्दचित्र उतारने की बड़ी प्रबल क्षमता है। उनके शब्दों में अर्थ के अनुरूप ध्वनि स्वतः ही मुखरित हो जाती है।[2]

भवभूति पात्रानुरूप ही भाषा का प्रयोग कराते हैं। अष्टावक्र, वाल्मीकि ब्रह्मचारी वटुओं की भाषा आश्रमों के अनुरूप है। जनक आदि वसिष्ठ आदि को

१. संस्कृत-साहित्य की रूपरेखा।
२. उत्तर०, २/३०

भाषा दार्शनिक चिन्तन से ओतप्रोत है और तमसा, मुरला, विद्याधर-विद्याधरी आदि की भाषा कुछ अलौकिक तत्व से युक्त-सी है।

भवभूति के यहाँ अलङ्कार स्वतः ही उमड़ते चले आए हैं। भवभूति के पाण्डित्य से अपरिचित व्यक्ति को वे यत्नपूर्वक बिठाये हुए लग सकते हैं; परन्तु उनकी शैली से परिचित सहृदय को वे 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य, ही प्रतीत होंगे। उपमा के प्रयोग में वे वहुधा मूर्त की उपमा अमूर्त से दिया करते हैं :—

'परिपाण्डुदुर्बलकपोलसुन्दरं दधती विलोल कवरीकमाननम्।
करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी, विरहव्यथेव समुपैति जानकी ॥'' (३।५)

भवभूति के वर्णनों में विविध शास्त्रों के परिभाषिक शब्द स्वतः उमड़ते चले आते हैं। इस सम्वन्ध में हम अनेक उदाहरण पीछे दे चुके हैं।

भवभूति अपने श्लोकों को अनेक संवादों में विभक्त कर देते हैं और वे बहुधा अपने श्लोकों को अपनी कृतियों में दुहराया करते हैं कभी-कभी वे अपनी कृतियों के सम्वन्ध में प्रशंसासूचक संकेत भी करते चलते हैं। जैसे—'अहो ! संविधानकम् !', 'अहो ! सरसरमणीयता संविधानकस्य !', और अस्ति वा कुतश्चेदेवं भूतमद्भुतं विचित्ररमणीयोज्वलं प्रकरणम् !'

वे अपनी रचनाओं में प्रायः हास्य को विशेष स्थान नहीं देते जहाँ प्रसङ्ग आये हैं, वे बड़े ही शिष्ट एवं मर्यादित हैं। वस्तुतः यह उनकी स्वाभाविक गम्भीरता का परिणाम है।

भवभूति ने प्रकृति के सुकुमार और भयावह दोनों ही रूपों का चित्रण किया है। तीनों नाटकों में प्रकृति चित्रण को उन्होंने प्रमुख स्थान दिया है। कालिदास ने अपनी रचनाओं में प्रकृति के मृदुल मांसल रूप के ही दर्शन किये हैं। किन्तु भवभूति ने उसके दोनों* पक्षों का विस्तार से वर्णन किया है।

भवभूति प्रकृति का मानवीकरण कालिदास के समान तो नहीं कर सके परन्तु उन्होंने जिस प्रकार उसके दृश्यों का अङ्कन किया है वह हृदयस्पर्शी अवश्य है।

करुण भावनाओं के चित्रण में भवभूति के समान सफलता सम्भवतः बहुत कम कवियों को मिली हो भवभूति के कारुण्योत्पादक काव्य को सुनकर—

''अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।''

समस्त तृतीय अङ्क इसी करुण-धारा से आप्लावित है। करुण भाव की अभिव्यक्ति में भवभूति छांट छांट कर ऐसे विभावादि लाते हैं, जिससे बरबस हृदय पिघल जाता है। वासन्ती राम को पहली बातों का स्मरण कराती हुई कहती है—महाराजा ! यह वही लता कुञ्ज है जहाँ बैठकर आप सीता के रास्ते में आँखें बिछाये रहते थे;

* देखिए उत्तरराम०, (२/२०, २/१६) विस्तारभय से अधिक उदाहरण नहीं दिये जा रहे हैं।

परन्तु उसे गोदावरी के किनारे पर हंसों से खेल करते हुए विलम्ब हो गया था। लौटने पर आपको कुछ खीजा हुआ सा देखकर अत्यन्त कातरता से (क्षमायाचना के लिए) कमल-कोमल ऊंगुलियों को जोड़कर प्रणाम किया था :—

"अस्मिन्नेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षणः,
सा हंसैः कृतकौतुका चिरमभूद् गोदावरीसैकते।
आयान्त्या परिदुर्मनायितपिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया।
कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः।"

भवभूति के सम्बन्ध में गोवर्धनाचार्य (३।३७) ने बहुत ही सुन्दर आर्या कही है :—

भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा ?"

भवभूति आदर्श प्रेम के व्याख्याता थे। वासनामय कलुषित प्रेम को उन्होंने अपनी रचनाओं में कभी नहीं आने दिया। प्रेम किन्हीं बाह्य कारणों पर आश्रित नहीं होता उसमें तो कोई अनिर्वचनीय आन्तरिक कारण ही प्रमुख होता है। सूर्य के उदय होने पर ही कमल खिलता है और चन्द्रमा के उदय होने पर ही चन्द्रकान्त मणि द्रवित होने लगती है (६।१२) सच्चा प्रेम सदा-सर्वदा एक-सा रहता है। उसमें समय के साथ कमी नहीं आती; वह उत्तरोत्तर-समृद्ध ही होता रहता है। उसमें हृदय को परम विश्राम मिलता है। ऐसा दाम्पत्य प्रेम वड़ी ही कठिनता से प्राप्त होता है। (१।३९) प्रेमी अपने प्रिय के लिए कुछ भी न करने पर भी एक बहुत बड़ी निधि होता है (६।५)। सन्तान इस पारिवारिक प्रेम को बढ़ाने वाली होती है —वह दम्पती के अन्तःकरण की आनन्दग्रन्थि होती है (३।१७)। स्त्री के लिए उसका पति और पति के लिए उसकी पत्नी-दोनों परमप्रिय मित्र हैं। यही सबसे बड़ा सम्बन्ध है। यहीं सारी इच्छाओं की पूर्णता ही सबसे बड़ी निधि है; साक्षात् जीवन ही है। (मा० मा० ६।८) ऐसे पवित्र प्रेम के धरातल पर भवभूति ने अपनी रचनाएं अवतरित की थी।

इस क्षेत्र में कालिदास भी उनकी तुलना में पीछे ही रह जाते हैं। कालिदास के यहाँ यद्यपि सीता-राम, शिव-पार्वती आदि का प्रेम बड़ी सुन्दरता से चित्रित किया गया है परन्तु उसमें पवित्रता की वह ज्योति नहीं दिखाई देती जो भवभूति की रचनाओं में।

कभी-कभी मेघदूत और उत्तररामचरित के दाम्पत्य-प्रेम की तुलना की चर्चा की जाती है। इन दोनों में कोई सामानता नहीं है। उत्तररामचरित का दाम्पत्य प्रेम विशुद्ध भावभूमि पर आधारित है। उसमें वासना का नाम भी नहीं है; जबकि मेघदूत का प्रेम कामी का प्रेम है। मेघदूत के दम्पती नव विवाहित है, जबकि उत्तर-रामचरित के प्रौढ़। यक्ष अपने प्रेम को सन्देश देकर व्यक्त कर देता है, परन्तु राम

भीतर ही भीतर घुटते रहते हैं। वहाँ केवल यक्ष का ही प्रेम दिखलाया गया है, जबकि यहाँ दोनों का। यक्ष कर्त्तव्य च्युत होकर वियुक्त हुआ है और राम कर्त्तव्य के लिए वियुक्त हुए हैं। यक्ष का विरह सावधिक है, परन्तु यह निरवधिक। वह स्वच्छन्द व्यक्ति का प्रेम है जबकि यह मर्यादापुरुषोत्तम का। दाम्पत्यप्रेम की तीव्रता दोनों में है, परन्तु दिशाएं दोनों की भिन्न भिन्न हैं।

भवभूति की इन विशेषताओं ने उन्हें महान् कलाकारों की कोटि में ला बिठाया है, परन्तु उनके कुछ दोष भी हैं जिन पर एक विहङ्गम दृष्टिपात कर लेना उचित होगा भवभूति लम्बे-लम्बे समासों से युक्तवाक्य और संवाद नाटकों में प्रयुक्त करते हैं। परिणामस्वरूप नाटकों की गतिशीलता रुक जाती है। यह दोष उनके प्रारम्भिक दो नाटकों में बहुत अधिक है। कहीं-कहीं पारिभाषिक शब्दावली की जटिलता भी उनके नाटकों की दृश्यकाव्यता में बाधक होती है। उनका वस्तुविन्यास भी कहीं-कहीं बड़ा शिथिल हैं। उत्तररामचरित का पाँचवा अंक यदि निकाल दिया जाय तो, कतिपय आलोचनों का विचार है कि नाटकीय गतिशीलता में कोई बाधा नहीं पड़ेगी। छठे अङ्क में लव-कुश के सामने रामचन्द्रजी का अपने एकान्त जीवन का वर्णन करना भी उचित नहीं है। वाल्मीकि आश्रम में सभी प्रमुख व्यक्तियों के एकत्रित हो जाने पर भी भरत का अनुपस्थित रहना खटकने वाला है।

यह सब होनें पर भी भवभूति को संस्कृत-साहित्य में बड़ा सम्मान प्राप्त है। उनके सम्बन्ध में विद्वानों ने अनेक प्रशस्तियां कहीं हैं, जिन्हें परिशिष्ट (···) में देखना उचित होगा, यहाँ कलेवरा वृद्धि के भय से अधिक विवेचन नहीं किया जा रहा है। दो शब्दों में कतिपय दोष होते हुए भी भवभूति का व्यक्तित्व संस्कृत-साहित्य में ऐसा प्रिय है जैसा कि भक्तों को भूति (भस्म) युक्त भव (शङ्कर) शरीर।

भवभूति और कालिदास

कविता-कामिनी के विलास कालिदास की समकक्षता में बैठने का श्रेय यदि किसी को प्राप्त है तो वे भवभूति ही हैं। इन दोनों की तुलना साहित्य में एक मनोरञ्जक चर्चा का विषय है। कुछ विद्वानों के अनुसार कालिदास श्रेष्ठ है, तो कुछ के अनुसार भवभूति। भवभूति के समर्थकों का कथन है कि कालिदास तो केवल कवि हैं परन्तु भवभूति महाकवि। इस पर कालिदास के समर्थकों का कथन है कि स्वर्ग के पारिजात आदि भी तो केवल वृक्ष ही है। हाँ स्नुही वृक्ष केवल महावृक्ष है:—

'कवयः कालिदासाद्या भवभूतिर्महाकविः।
तरवः पारिजाताद्याः स्नुही वृक्षो महातरुः॥'

भवभूति ने कालिदास की रचनाओं का पर्याप्त अध्ययन किया था। इससे जाने या अनजाने उन पर कालिदास का प्रभाव प्रचुर मात्रा में पड़ा। 'उत्तर-रामचरित' की 'चित्रवीथी' की प्रेरणा सम्भवतः 'रघुवंश' के निम्नलिखित श्लोक से ली गई है :—

'तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुषोः सद्मसु चित्रवत्सु ।
प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु संचिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन् ॥'
[रघुवंश–१४।२५]

'उत्तररामचरित' के छठे अङ्क में राम और लव-कुश के मिलन दृश्य पर 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के सातवें अङ्क का स्पष्ट प्रभाव है । कुछ लोग 'छाया सीता' की कल्पना की प्रेरणा 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के छठे अङ्क से मानते हैं जहाँ सानुमती अप्सरा अदृश्य रूप से दुष्यन्त की विरह दशा देखती है। परन्तु इतनी दुरारूढ़ कल्पना हमें उचित प्रतीत नहीं होती । 'मालतीमाधव' में विरही माधव अपनी प्रेमिका के पास मेघ द्वारा जो सन्देश भेजता है वह तो 'मेघदूत' से स्पष्ट प्रभावित जान पड़ता है ।

उन दोनों कवियों की अभिव्यक्ति में बहुत अन्तर है। भवभूति अभिधा से अधिक से अधिक भावप्रकाशन करते हैं, किन्तु कालिदास व्यञ्जना वृत्ति से अपने भावों को व्यक्त करते हैं। भवभूति विशद वर्णन करते हैं किन्तु कालिदास बहुत कुछ सहृदयों के लिए छोड़ देते हैं । कालिदास के पात्र वियोग दशा को आँसू बहाकर ही समाप्त कर देते हैं किन्तु भवभूति के फूट-फूट कर रोते हैं। कालिदास की भाषा सरसता, वैदर्भी रीति और प्रसादयुक्त होती है, किन्तु भवभूति की शैली आडम्बर-युक्त, प्रौढ़ और दीर्घ समास वाली होती है। कालिदास ने प्रकृति के ललित एवं कोमल पक्ष को ही छुआ है परन्तु भवभूति ने उसके सुकुमार और भयावह दोनों ही रूपों का चित्रण किया है । कालिदास बहुधा मूर्त की उपमा मूर्त से देते हैं जबकि भवभूति मूर्त की उपमा अमूर्त से । कालिदास ने शृङ्गार का वर्णन किया है, भवभूति करुण का वर्णन करते हैं । कालिदास की दृष्टि बहुधा नारी के बाह्य सौन्दर्य पर रही है जबकि भवभूति ने उसके अन्तःसौन्दर्य का उद्घाटन किया है । कालिदास में यौवन की उद्दाम भावनाओं का ही प्रचुरता से वर्णन है जबकि भवभूति में दाम्पत्य-प्रेम का ही आधिक्य है । कालिदास के नाटकों में विदूषकों का होना उनकी विनोदी प्रकृति का सूचक है जब कि भवभूति की रचनाओं में उसका अभाव उनकी गम्भीरता का सूचक है ।

इन दोनों महाकवियों की तुलना करते हुए श्रीद्विजेन्द्रलाल राय ने लिखा है :—"विश्वास की महिमा में, प्रेम की पवित्रता में भाव की तरङ्ग-क्रीडा में, भाषा के गाम्भीर्य में और हृदय के माहात्म्य में 'उत्तररामचरित' श्रेष्ठ है । और घटनाओं की विचित्रता में, कल्पना के कोमलत्व में, मानवचरित्र के सूक्ष्म विश्लेषण में, भाषा की सरलता और लालित्य में 'अभिज्ञानशाकुन्तल' श्रेष्ठ है । संस्कृत साहित्य में ये दोनों नाटक अद्वितीय हैं । 'अभिज्ञान शाकुन्तल' शरद् ऋतु की पूर्ण चाँदनी है और 'उत्तररामचरित' नक्षत्र खचित नीलाकाश है । एक व्यञ्जन है दूसरा हविष्यान्न है; एक वसन्त है दूसरा वर्षा है; एक नृत्य है दूसरा अश्रु है; एक उपभोग है दूसरा पूजन है ।"

महाकवि-भवभूति-प्रणीतम्

उत्तररामचरितम्

'प्रियम्वदा'-ख्य संस्कृत-हिन्दी-टीकोपेतम्

प्रथम अंक
(चित्रदर्शन)

"स्नेहं, दयाञ्च, सौख्यञ्च, यदि वा जानकीमपि
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ।।"

प्रथम अङ्क की कथावस्तु का विश्लेषण

[स्थान—अयोध्या]

उत्तर रामचरित के प्रथम अङ्क की वस्तु को प्रधानतया निम्नलिखित सात भागों में विभक्त किया जा सकता है :—

(१) प्रस्तावना, (२) अष्टावक्र और राम, (३) राम और लक्ष्मण, (४) चित्रदर्शन एवं तज्जन्य राम तथा सीता की मनोदशा, (५) दुर्मुख और राम, (६) लवणत्रासित ऋषि-समुदाय की सुरक्षा में श्री रामचन्द्र जी की सक्रियता (७) सीता जी का वन-यात्रा के लिये प्रस्थान।

(१) प्रस्तावना

नान्दी-पाठ के अनन्तर सूत्रधार का प्रवेश होता है। वह सर्व-प्रथम नाटककार का परिचय देता है। उसके अनुसार नाटककार कश्यपगोत्र में उत्पन्न हुए हैं; वे व्याकरण, मीमांसा और न्याय-शास्त्र के विद्वान् हैं; उनके पिता का नाम जतुकर्णी है; उनका नाम श्रीकण्ठ है तथा वे 'भवभूति' इस उपाधि से विभूषित हैं।

तदनन्तर नट प्रवेश करता है। नट तथा सूत्रधार की उक्तियों से निम्नलिखित बातें स्पष्ट हो जाती हैं :—

(क) लंका के युद्ध में सहायक बनने वाले महात्मा, राक्षस (विभीषण), ब्रह्मर्षि आदि को श्रीरामचन्द्र जी द्वारा उनके स्थानों पर भेज देने के कारण चत्वर-स्थान चारणों से शून्य दिखाई दे रहे हैं।

(ख) महाराज राम की माताएं यज्ञ के लिए अपने जामाता ऋष्यशृंग के आश्रम में गई हुई हैं। गर्भवती होने के कारण सीता जी उनके साथ नहीं जा सकी हैं।

(ग) रावण के घर में रहने के कारण अग्नि-परिशुद्ध सीताजी को भी साधारणतया लोक विशुद्ध नहीं मानता, किन्तु श्री रामचन्द्र जी अभी इस तथ्य से परिचित नहीं हैं।

(घ) गुरुजन के विरह से खिन्न सीता देवी को सान्त्वना देने के लिये रामचन्द्र 'धर्मासन' से उठकर 'वासगृह' में प्रविष्ट हो जाते हैं।

(२) अष्टावक्र और राम

[स्थान—वासगृह]

वासगृह में रामभद्र और सीता देवी के वार्त्तालाप के मध्य ही कञ्चुकी अष्टावक्र के आगमन की सूचना देता है। अष्टावक्र की उक्तियों से निम्नलिखित सूचनायें मिलती हैं:—

(क) रामचन्द्र और सीता देवी के कुशल-प्रश्न का उत्तर देते हुए अष्टावक्र कुलगुरु भगवान् वसिष्ठ के सीता जी को दिये गए 'केवलं वीरप्रसवा भूयाः '(केवल' वीरप्रसविनीहो)' इस आशीर्वाद को सुनाते हैं।

(ख) वे भगवती अरुन्धती, कौशल्या आदि रानियों तथा शान्ता का सन्देश भगवान् राम से कहते हैं कि सीता का जो भी गर्भ दोहद हो उसकी पूर्ति अवश्य करनी चाहिये।

(ग) ऋष्यशृंग सीता जी को पुत्रपूर्णोत्सङ्गा रूप में देखने की कामना से युक्त हैं।

(घ) भगवान् वसिष्ठ का आदेश है कि महाराज राम पूर्ण रूप से प्रजा का पालन करें।

(३) राम और लक्ष्मण

[स्थान-वासगृह]

वासगृह में लक्ष्मण जी प्रविष्ट होते हैं। उनको देखकर अष्टावक्र निकल आते हैं। लक्ष्मण रामचन्द्र जी से अर्जुन नामक चित्रकार द्वारा चित्रित उनके (रामचन्द्र जी के) सीता जी की अग्नि परिशुद्धि तक के चरित्र को देखने की प्रार्थना करते हैं। रामचन्द्र जी उसको देखने के लिये सीता जी के साथ प्रस्तुत हो जाते हैं।

(४) चित्रदर्शन एवं तज्जन्य राम तथा सीता की मनोदशा

[स्थान—चित्रवीथी Picture Gallery]

इस प्रसङ्ग में सर्वप्रथम जृम्भकास्त्रों के दर्शन होते हैं, जिनको रामचन्द्र जी के आदेशानुसार सीता जी प्रणाम करती हैं तथा रामचन्द्र जी भी "सर्वथेदानीं त्वत्प्रसूतिमुपस्थास्यन्ति"—यह आशीर्वाद देते हैं।

तदनन्तर प्रधान रूप से (१) मिथिलावृत्तान्त, (२) अयोध्यावृत्तान्त एवं

(३) पञ्चवटीवृत्तान्त चित्रित किये गए हैं।

(१) मिथिलावृत्तान्त—में रामचन्द्र जी का सौन्दर्य, जनक आदि द्वारा वसिष्ठ आदि की पूजा, कुशिक-नन्दन का स्मरण, केश-संस्कार-सम्पन्न चारों भ्राता, सीता, माण्डवी (भरतपत्नी) श्रुतकीर्ति (शत्रुघ्नपत्नी), उर्मिला, भार्गव-चरित्र का प्रदर्शन किया गया है।

(२) अयोध्या वृत्तान्त—में माताओं का स्मरण, सीता की विवाह-कालीन अवस्था, मन्थरावृत्तान्त, इंगुदीपादप जहाँ निषाद-राज से रामचन्द्र जी की भेंट हुई, जटा-संयमनवृत्तान्त, भागीरथी-दर्शन, श्यामनामकवट, उसके नीचे सीता देवी के शयन का स्मरण, विराध-वृत्तान्त, वैखानसाश्रित तपोवनों का दर्शन, जनस्थान के मध्य में प्रस्रवण नामक पर्वत, वहाँ की लक्ष्मण द्वारा की गई शुश्रूषा का स्मरण, गोदावरी, राम एवं सीता—दोनों के वन—निवास का रामचन्द्र जी द्वारा स्मरण चित्रित किया गया है।

(३) पञ्चवटी-वृत्तान्त—में शूर्पणखा-वृत्तान्त को चित्रित करने के साथ-साथ तीनों की पुरानी स्मृतियां जागृत हो जाती हैं। राम व्याकुल हो उठते हैं; लक्ष्मण सीताहरण के अनन्तर पत्थरों को भी रुला देने वाले रामचन्द्र जी के चरित्र का वर्णन करते हैं और दोनों की व्याकुलता को जटायु का चित्र दिखाकर दूर करना चाहते हैं। जटायु-दर्शन के अनन्तर दण्डकारण्य, कुञ्जवान् पर्वत, मतङ्गऋषि का आश्रम, श्रमणा नदी, शबरतपस्विनी, पम्पासरोवर, हनुमान्, माल्यवान् पर्वत का प्रदर्शन किया जाता है। इसी बीच सीता जी थक जाती हैं, लक्ष्मण विश्राम की प्रार्थना करते हैं और सीता जी रामचन्द्र जी से वनभ्रमण के पश्चात् गंगा-स्नान की इच्छा प्रकट करती हैं, जिसको रामचन्द्र जी स्वीकार कर लेते हैं।

(५) दुर्मुख और राम

[स्थान—वातायन का उपकण्ठ]

चित्रदर्शनपरिश्रान्ता सीता वातायन के उपकण्ठ में रामचन्द्र जी का सहारा लेकर उनके वक्ष पर सो जाती हैं। प्रतीहारी प्रवेश कर गुप्तचर 'दुर्मुख' के आने की सूचना देती है। प्रतीहारी दुर्मुख को प्रविष्ट कराकर चली जाती है। दुर्मुख की वार्ता से यह सूचना मिलती है :—

"प्रजा महाराज रामचन्द्र जी से पूर्ण रूप से सन्तुष्ट है; किन्तु राक्षस के घर में रहने वाली सीता देवी की अग्निशुद्धि के विषय में उसका विश्वास नहीं है।"

इस पर लोकाराधक नूतन राजाराम अपने पूर्वजों और वसिष्ठ की लोकाराधन विषयक आज्ञा का स्मरण करते हुए जगत् को पवित्र बना देने वाली देवी सीता का दुर्जनों के वचनों से परित्याग निश्चित कर लेते हैं।

(६) लवणत्रासित ऋषि—समुदाय की सुरक्षा में श्री रामचन्द्र जी की सक्रियता
[स्थान—नेपथ्य]

नेपथ्य में यमुनातीर-निवासी ऋषियों का समूह लवण नामक राक्षस से त्रस्त होकर रक्षा के लिए रामचन्द्र जी के पास आता है। रामचन्द्र जी उसका संहार करने के लिए शत्रुघ्न को भेजने का प्रबन्ध करते हैं और भगवती पृथ्वी से सीता देवी की देखभाल की प्रार्थना करके रोते हुए मञ्च से निकल जाते हैं।

(७) सीता जी का वन यात्रा के लिए प्रस्थान
[स्थान—वातायन का उपकण्ठ]

रामचन्द्र जी के चले जाने के अनन्तर सीता जी उत्कण्ठित होकर जाग जाती हैं। दुर्मुख वनयात्रा के लिए रथ-सज्जित होने की सूचना देता है। सीता जी गर्भभार के कारण धीरे-धीरे वनयात्रा के विचार से रथ की ओर चली जाती हैं। इस प्रकार प्रथम अङ्क समाप्त हो जाता है।

प्रथम अङ्क का नाटकीय महत्व

(१) भवभूति 'उत्तररामचरित' के प्रथम अङ्क को 'चित्र-दर्शन" की संज्ञा देते हैं; किन्तु सूक्ष्म रूप से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस अङ्क का प्रधान कार्य सीता-निर्वासन ही है। नाटक की विभिन्न परिस्थितियां इसी की पुष्टि करती हैं। यहाँ इतना अवश्य-ध्यातव्य है कि सीता जी इस प्रकार के निर्वासन से पूर्ण अपरिचित हैं।

सीता-निर्वासन के दो प्रधान कारण हैं :—(१) चित्रदर्शन और (२) प्रजा की असन्तुष्टि। चित्रदर्शन से सीता जी पुनः वन-भ्रमण की इच्छा करती है; जिसकी अरुन्धती कौशल्या आदि के "यः कश्चिद् गर्भदोहदो भवत्यस्याः सोऽवश्यमचिरान्मानयितव्यः' इस आदेश के अनुसार रामचन्द्र जी स्वीकृति दे देते हैं। उधर दुर्मुख के वचनानुसार प्रजा की असन्तुष्टि से रामचन्द्र जी के सीतापरित्याग का निश्चय, जिससे सीता जी अपरिचित हैं, उक्त स्वीकृति को निर्वासन रूप में परिणत कर देता है।

यदि अयोध्या में वसिष्ठ आदि गुरु या माताएं उपस्थित होतीं अथवा लङ्का-समर के साथी उपस्थित होते तो रामचन्द्र जी का सीता-विषयक निर्वासन का निश्चय और प्रजा का असन्तोष आज्ञा एवं प्रमाणों द्वारा स्थगित किया जा सकता था; इसलिए नाटककार ने गुरुजन को जामाता के यज्ञ में, और लंका-समर के साथियों को उनके निवास स्थान पर भेज दिया है।

(२) जृम्भकास्त्रों का अपना नाटकीय महत्व है। इस अङ्क में रामचन्द्र जी सीता जी से इन अस्त्रों के विषय में "सर्वथेदानीं त्वत्प्रसूतिमुपस्थास्यन्ति" कहते हैं। आगे षष्ठ अङ्क में लव एवं कुश पर इन अस्त्रों को देखकर रामचन्द्र जी का इन बालकों के प्रति कौतूहल जागृत हो उठता है और यह कौतूहल सप्तम अङ्क में निश्चय की स्थिति को धारण कर लेता है।

(३) इसके अतिरिक्त प्रथम अङ्क में ही दर्शक (या पाठक) आगे आने वाली कुछ घटनाओं का नाटकीय सोत्प्रासों (Dramatic Irony) द्वारा अथवा अन्य प्रकारों द्वारा अनुमान लगा लेता है, जिसमें प्रधानतया, (१) सीता जी का विरह, (२) निर्वासनकाल में उनकी सुरक्षा तथा (३) पुनः गुरुजन से उनका मिलन तथा नाटक का सुखान्त होना सूचित होता है।

(१) सीता जी के शयन कर लेने के अनन्तर जब श्री रामचन्द्र जी—

"इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्त्तिर्नयनयो—
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः,
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः॥" (१·३८)

कहते हैं 'उसी समय प्रतीहारी प्रवेश करके, देव ! उवट्ठिहो' (देव उपस्थित हो गया) कह देती है, जिससे दुर्मुख की उपस्थिति की सूचना के साथ-साथ विरहोपस्थिति की भी सूचना मिल रही है।

(२) चित्रदर्शन के समय रामचन्द्र जी का भागीरथी के प्रति "सा त्वमम्ब ! स्नुषायामरुन्धतीव सीतायां शिवानुध्याना भव" और लवणत्रासित ऋषियों की सुरक्षा का प्रबन्ध करने के लिए एकान्त में सोयी हुई सीता जी की सुरक्षा के लिए पृथ्वी के प्रति "सुश्लाघ्यां दुहितरमवेक्षस्व जानकीम्" यह कथन निर्वासन काल में सीता जी की सुरक्षा की सूचना देता है, जिसका निर्वाह द्वितीय और सप्तम अंक में किया गया है।

(३) अष्टावक्र द्वारा "ननान्दुः पत्या देव्याः सन्दिष्टम् "वत्से ! कठोरगर्भेति नानीतासि। वत्सोऽपि रामभद्रस्त्वद्विनोदार्थमेव स्थापितः, तत्पुत्रपूर्णोत्सङ्गामायुष्मतीं, द्रक्ष्यामः, इति।" इस कथन से गुरुजन की सीता से पुनर्मिलन की सूचना मिलती है जो कि सप्तम अंक में दिखाया गया है।

(४) नाटककार प्रथम अङ्क में ही रामभद्र एवं सीता देवी के चरित्रों का भी उद्घाटन आरम्भ कर देता है। सीता जी को वन-यात्रा के व्याज से गर्भावस्था में ही निर्वासित किया जा रहा है इससे दर्शक (अथवा पाठक) की उनके प्रति सहानुभूति बढ़ती हुई प्रतीत होती है।

(५) प्रथम अंक के चित्रदर्शन का अपना विशेष महत्व है। पूर्वचरित के बिना उत्तर चरित अधूरा ही रह सकता था; अतः उत्तरचरित की पूर्ति के लिए भगवान् राम का, सीता जी की अग्नि शुद्धि तक का, चरित्र चित्रवीथी में प्रस्तुत है; किन्तु सीता जी के थक जाने के कारण नाटक में उनका चरित्र माल्यवान् पर्वत की घटनाओं तक ही दिखलाया जाता है।

❀ श्रीहरिः ❀

महाकविश्रीभवभूतिप्रणीतम्

उत्तररामचरितम्

"श्री प्रियम्वदा"-ख्य-संस्कृत-हिन्दी-टीकोपेतम् ।

प्रथमोऽङ्कः ।

इदं कविभ्यः पूर्वेभ्यो नमोवाकं प्रशास्महे ।
विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम् ॥१॥

❀ टीकाकृन्मङ्गलाचरणम् ❀

विघ्नाशनिपुणो गणनाथः,
सर्वभक्तवरदो वरणीयः ।
चन्द्रमौलिगिरिजातनयो नः,
सन्ततं दिशतु सिद्धिमशेषाम् ॥१॥

वज्र-प्रभा-भासुर-देह-कान्तिः,
सिंहासनासीनतया प्रसिद्धा ।
कल्याणहेतोर्जगतोऽवतीर्णा,
साम्बा सदा स्तात्प्रमदस्य हेतुः ॥२॥

अथ तत्रभवान् महाकविर्भवभूतिः 'उत्तररामचरितम्' नाम नाटकं चिकीर्षुरादौ मङ्गलरूपां नान्दीमवतारयति—इदमिति ।

अन्वयः—पूर्वेभ्यः, कविभ्यः, नमोवाकम्, "आत्मनः, अमृताम्, कलाम्, देवताम्, वाचम्, विन्देम" इदं प्रशास्महे ॥१॥

अवतरणिका—महाकवि भवभूति अपने 'उत्तररामचरित'—नाटक की निर्विघ्न समाप्ति के लिये मङ्गलात्मक नान्दी की अवतारणा करते हैं। श्लोक के

विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं, संक्षेप में उनका निर्देश करने के अनन्तर हम अपने मत भी प्रदर्शित करेंगे।

१. अर्थ—हम प्राचीन (वाल्मीकि आदि) कवियों को प्रणाम कर यह कामना करते हैं कि (हम) "ब्रह्माजी की अंशभूत सनातनी सरस्वती (वाणी) को प्राप्तकरें।" [अर्थात् ब्रह्माजी की नित्यकला (सरस्वती) हमारे मन-मन्दिर में सदा प्रकाशित होती रहे जिससे सब अर्थों का हमारे अन्तःकरण में परिस्फुरण हो जाय। वह प्राचीन कवियों के ग्रन्थों के अनुशीलन से ही सम्भव है। अतः सर्वप्रथम उनको प्रणाम करना उचित ही है।]

२. अथवा—[मंगलवाचक 'इदम्' को विशेष्य तथा नमोवाकम्' को विशेषण मानकर यह अर्थ निकलता है—]

"हम इस नमस्कारात्मक मङ्गल को प्राचीन कवियों के लिये प्रयुक्त करते हैं (जिनके अनुग्रह से) हम शाश्वती शारदा को प्राप्त करें।"

३. अथवा—['इदंकविभ्यः' को एक समस्त पद तथा 'नमः' और 'वाकम्' को भिन्न-भिन्न पद मानकर रामायण-पक्ष में यह अर्थ निकलता है—]

"हम (इदं कविभ्यः=इस राम-कथा के कवियों को वाचिक नमस्कार कर यह कामना करते हैं कि उस (अमृताम्) मोक्ष-प्रदायिनी परमात्मा का प्रतिपादन करने वाली (रामायण-स्वरूप कला=) विद्या को प्राप्त करें।"

[विशेष :—'कला' का प्रयोग निम्नलिखित अर्थों में होता है—"विद्यायां कालभेदे च मुक्तौ शिल्पे कलेति च" (वैजयन्ती रामायण की मोक्षप्रदता सर्वशास्त्र-सम्मत है—"एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्।"]

४. अथवा—[आदिकवि वाल्मीकि के लिये आदरसूचक अर्थ में 'कविभ्यः' इसमें बहुवचन का प्रयोग मानकर यह अर्थ अभिव्यक्त होता है—]

"हम आदिकवि श्रीवाल्मीकि जी को प्रणाम करते हैं जिससे कि हम उनकी अमरवाणी (रामायण) को प्राप्त कर सकें।"

५. अथवा—"कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः" के अनुसार 'कवि' शब्द से भगवान् श्री राम का ग्रहण होता है। बहुवचन आदरार्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'देवता कला' से जगज्जननी सीता का ग्रहण होता है। तब इस प्रकार अर्थ होगा—]

"हम परमात्मा-स्वरूप भगवान् श्री रामचन्द्र जी को प्रणाम कर प्रार्थना करते हैं कि (हम) उनकी अंशभूत श्री सीता देवी को प्राप्त करें।"

हमारे मत में तो—

१. 'इः'=काम को देने वाले—(इः=कामस्तं ददाति—'इदम्'। 'नमोवाकं' का विशेषण)—मनोरथ सिद्ध करने वाले—नमस्कार को ब्रह्मा जी, वाल्मीकि आदि रामकथा के कवियों तथा भगवान् श्री रामचन्द्र जी के लिए प्रयुक्त करते हैं जिससे

कि हम आत्म-बोध तथा शक्ति-स्वरूपिणी सीता देवी को प्राप्त कर सकें। (क्योंकि 'उत्तररामचरित' में सीता जी की ही प्रधानता है। शक्तिस्वरूपिणी भगवती के बिना परमात्मा की प्राप्ति सम्भव नहीं है। और वह दैवी शक्ति प्राचीन कवियों के ग्रन्थों के अनुशीलन से अनायास ही उद्बुद्ध हो जाती है। अतः उनकी वन्दना करना उचित है।)

२. अथवा—"इः=खेद, उसका विनाश करने वाले (इः=खेदस्तं द्यति=खण्डयति—इति-'इदम्'—मंगल का विशेषण, इस मंगल का प्रयोग करते हैं। क्योंकि अपने गुप्तचर 'दुर्मुख' के (लोकापवाद-विषयक) कथन से भगवान् रामचन्द्र जी को अत्यन्त खेद हुआ था। (उसकी शान्ति नमस्कार-विधान से ही सम्भव है।)"

३. अथवा—"इः=कोपोक्ति को शान्त करने वाले (इः=कोपोक्तिस्तां द्यति=खण्डयतीदम् इस मंगल का प्रयोग करते हैं; क्योंकि श्रीसीताजी के उस प्रकार के परित्याग को जानकर (उनका मन रखने के लिए) सर्वज्ञ वाल्मीकि भी—"अस्त्येष मन्युर्भरताग्रजे मे" कह कर कुपित हो गये थे। उनके उस क्रोध को शान्त करने के लिये नमस्कार करना उपयुक्त ही है।"

४. अथवा—['कवि' शब्द से भगवान् भास्कर का ग्रहण होता है। तब इस अर्थ की अभिव्यक्ति होती है—]

"हम भगवान् भुवनभास्कर को नमस्कार करते हैं, जिनकी कृपा से उस "गायत्री-स्वरूपिणी दिव्य वाणी को प्राप्त कर सकें।"

(आशय यह है कि गायत्री के प्रसाद से ही सरस्वती की प्राप्ति होती है; क्योंकि वह वेद-जननी है। रामायण का 'गायत्री की व्याख्या' होना सुप्रसिद्ध है। अतः उस कथा तक पहुंचने के लिए 'गायत्री' का आराधान परमावश्यक है। इसके लिए भगवान् सूर्य को नमस्कार करना नितान्त औचित्यपूर्ण है।)

तात्पर्य—"हम गुरु-तुल्य प्राचीन कवियों को प्रणाम करते हैं, जिनके अनुग्रह से रस, भाव, गुण, अलङ्कार, रीति, ध्वनि आदि से युक्त, सहृदय-हृदयाह्लादिनी, आत्म-प्रसादिनी, कविवरों से वन्दनीय सदातनी 'काव्य-स्वरूपिणी-शक्ति' सदा हमारे हृदय में निवास करे, जिससे कि काव्य सफलता-पूर्वक विकास प्राप्त कर सके।

संस्कृत-व्याख्या

अस्य श्लोकस्यार्थ-विषये विदुषां विभिन्नानि मतानि सन्ति। तत्रान्येषां कानिचित्प्रदर्श्य स्वीयमपि मतं प्रदर्शयिष्यते।

१. 'नमोवाकम्' इति क्रियाविशेषणम्। वचनं वाकः; 'वच् परिभाषणे' इति धातोर्भावे घञ्प्रत्यय, कुत्वञ्च। ततश्च नमोवाको यस्मिन् तद् यथा स्यात्तथा पूर्वेभ्यः=प्राचीनेभ्यः, कविभ्यः=वाल्मीक्यादिभ्यः, नमस्कारपूर्वकम् इदं=वक्ष्यमाणं प्रशास्महे=वाञ्छामः। किन्तदित्याह—(वयम्) "आत्मनः=विधेः, अमृतां=

शाश्वतीं सर्वदा प्रकाशमानामिति यावत्, देवतां=दिव्यगुणमयीं, सरस्वतीं, कलाम्=अंशभूताम्, विन्देम=प्राप्नुयाम । ब्रह्मणो नित्या कलाऽस्माकं मनोमन्दिरे सर्वदा प्रकाशिता भवतु, येन सर्वार्थप्रकाशोऽस्माकं स्यादिति भावः । प्राचीनकवीनां प्रबन्धाध्ययनं विना तादृशो बोधः सर्वथा दुर्लभः, इति तेषां प्रणामः पूर्वमुचितः, इति तत्वम् ।

२. अथवा—इदमिति विशेष्यवाचकं पदम् । नमोवाकमिति च विशेषणम् । 'इद' मिति च 'मङ्गलमित्यस्य वाचकम् । ततश्च नमो वाको यस्मिन्, तदिदं नमस्कारात्मकं मङ्गलं पूर्वेभ्यः कविभ्यः प्रशास्महे । यदनुग्रहेण सदातनी भगवती भारती सदैवास्माकं हृदये प्रकाशिता भवतु ।

३. अथवा—"इदं कविभ्यः" इत्येकं पदम्, 'इदं' -पदस्य 'कवि' —पदेन सह समासत्वात् । 'नमः' इति 'वाकम्' इति च पदद्वयम् । ततश्च—प्राचीनेभ्यः इदंकविभ्यः=अस्या रामकथायाः कविभ्यः, उच्यतेऽनेन तद् 'वाकम्' । करणे घञ्प्रत्ययः । वाकं नमः=वाचिकं नमः, प्रशास्महे=इच्छामः । तां प्रसिद्धाम्, अमृताम्=मोक्षः, अस्या अस्तीति मोक्ष-दात्रीम्, आत्मनः=परमात्मनः प्रतिपादयित्रीं कलां=विद्यां ("विद्यायां कालभेदे च मुक्तौ शिल्पे कलेति च", इति वैजयन्ती) रामायणस्वरूपामित्यर्थः, प्राप्नुयाम । रामायणस्य मोक्षप्रदत्वञ्च—"एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्" इति "वेदवेद्ये परे पुंसि" इत्यादौ च विशदीकृतम् ।

४. अथवा—"कविभ्यः, 'इत्यादिकवये' इत्यमर्थः । आदरार्थे च बहुत्वम् । ततश्च-आदिकवि-प्रणामपूर्वकमेव तदीया वाक् (रामायण) प्राप्तिः सम्भवति, इति ।

५. अथवा—"कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः" इत्यादिवचनात् 'कविभ्यः' इत्यत्रादरार्थे बहुवचनात् 'कवि'-शब्देनात्र परमात्मरूपो भगवान् रामो गृह्यते । "देवता-कला" इति च शब्द-युगलेन शक्तिरूपिणी भगवती जगज्जननी सीता गृह्यते । ततश्च—भगवते श्रीरामाय नमोवाकं प्रशास्महे । दिव्यगुणोपेताम्, आत्मनः=परमेश्वरस्य श्रीरामस्य कलाम्=अंशरूपाम्, तां भगवतीं सीतां विन्देम, सा च परित्यक्ता सत्यपि नित्येति भावः ।

वयन्तु:—

१—"इः"=कामस्तं ददातीति 'नमोवाक" मित्यस्य विशेषणम् । ततश्च कामप्रपूरकं नमोवाकं पूर्वेभ्यः कविभ्यः=ब्रह्मणे, वाल्मीकिप्रभृतिभ्यो रामायण-कथाकविभ्यः, भगवते परमात्मने रामाय आदिकवये च प्रशास्महे । अपि च—दिव्याम् आत्मनः सम्बन्धिनीं कलां शक्ति=बोधम्, शक्तिस्वरूपिणीं सीतादेवीं विन्देम । उत्तरे रामचरिते तस्या एव प्राधान्यात् [इदमग्रे स्फुटीकरिस्यामः] । शक्तिरूपां भगवतीं विना भगवतः परमात्मनः प्राप्तिः सर्वदा दुर्लभा । सा च दैवी शक्तिः पूर्वतनेभ्यः कविभ्यस्तेषामाराधनैव सम्प्राप्तुं शक्यते ।

२. अथवा—'इः"=खेदः, तं द्यति (खण्डयति) इति 'इदम्' । दुर्मुख-

वचन-श्रवणाद्भगवतो रामस्य खेदः समजनि, तस्य प्रशमनं च प्रणाम-करणेनैव सम्भाव्यते ।

३. अथवा—"इः"=कोपोक्तिः, तां द्यति खण्डयतीतीदम् । सीतादेव्यास्तथाविधं परित्यागं विदित्वा विदितवेदितव्योऽपि देवी-प्रसादनाय कुपितो महामुनिवाल्मीकिः । अतएवोक्तं कविकुलगुरुणा :—

"उत्खातलोकत्रयकण्टकेऽपि, सत्यप्रतिज्ञेऽप्यविकत्थनेऽपि ।
त्वां प्रत्यकस्मात्कलुषप्रवृत्तावस्त्येष मन्युर्भरताग्रजे मे ॥"

[रघुवंशे, सर्ग १४, श्लोकः ७३]

ततश्च आदिकवेः कोप—प्रशमनाय नमस्कार-करणमौपयिकमेव ।

४. अथवा—"कवि"-शब्देन भगवान् भास्करो गृह्यते । श्री भास्करस्य याज्ञवल्क्यात् विद्याप्रदानत्वं प्रसिद्धमेव । ततश्च भुवन-भास्कराय श्रीसूर्याय इदं नमस्कारात्मकं मंगलं समर्प्यते । तदनुग्रहेणैव आत्मनः प्रकाशिकां दिव्यां वाचं गायत्रीरूपां विन्देम । गायत्र्याः प्रसादादेव सरस्वत्याः प्राप्तिर्भवति । तस्याः वेदजननीत्वात् । रामायणस्य च गायत्री-व्याख्यान-स्वरूपत्वं प्रसिद्धमेव । भगवत्या वाचो मीमांसाशास्त्रे नित्यत्वम् । पुराणादौ च विष्णुरूपत्वं स्फुटमेव । तथाचोक्तं विष्णुपुराणे—

"काव्यालापाश्च ये केचिद् गीतकान्यखिलानि च ।
शब्दमूर्तिधरस्यैते, विष्णोरंशा महात्मनः ॥"

इत्येवमन्येऽपि बहवोऽर्थाः सम्भवन्ति, विस्तृति-भयादिहैव विरम्यते ।

सरलार्थस्तु—प्राचीनेभ्यो गुरुतुल्येभ्यः कविभ्यः इदं नमोवाकं प्रशास्महे । तेषां कृपा-लवेनैव रस-भाव-गुणालङ्कार-रीति-ध्वन्यादि-सहिता सहृदय-हृदय-प्रसादिनी, आत्माराधिनी च कविकुलवन्दनीया काव्यरूपा दिव्या शक्तिः सर्वदाऽस्माकं कल्याणकारिणी साहाय्यं कुर्यात्, येन "लोकोत्तरवर्णननिपुणकविकर्मकाव्यम्" साफल्येन विकासं लभतामिति ।

'प्रशास्महे' इत्यत्राङ् पूर्वकत्वं शासेः प्रायिकमिति सिद्धान्तकौमुदीकारवचनान्न दोष-लेशः ।

अत्र काव्यार्थसूचकोऽर्थोऽपि ध्वन्यते । तथाहि—सीता-प्राप्त्यनन्तरं लक्ष्मणादीनां कथनम्:—"श्रीवाल्मीकिमुनये गङ्गादिभ्यो वा प्रणामं कुर्मः । येषां परमेणानुग्रहेणाधुना वन्दनीयचरणाः परमात्मनः श्री महाराजस्य ज्येष्ठभ्रातुः कलात्मिका भगवती सीतादेवी पुनः प्रत्यक्षीक्रियते" इति ।

"उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते" इति कथनानुसारमत्राद्यश्लोके एव कवेर्वैशिष्ट्यं प्रतिभाति । "इद" मिति नपुंसकम् । "नमोवाक" मिति च पुल्लिङ्गपदम् । अत्र समाधानार्थं विदुषां बुद्धि-वैभवं प्रसृतम् । 'सामान्ये नपुंसक' मिति समाधानादिप्रकारः प्रायः प्रदर्शितः । केचित्तु—"नमोवाकम्" इति णमुल-प्रत्ययान्तं वैदिकं मत्वा

चकारस्य च छान्दसं कुत्वं प्रतिपादयन्तः "नमः उक्त्वा" इत्यर्थमभ्युपगच्छन्ति ।

अपि च—यो हि 'मालतीमाधवे'—

"ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां,
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः ।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा,
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥"

इति साहङ्कारमाह, स एवात्र पूर्वान् प्रणमति, इति सारल्यं स्वभावस्य प्रशंसनीयमेव । तथापि—"स्वभावो दुरतिक्रमः" इत्यभियुक्तोक्त्यनुसारं पूर्वानेव प्रणमति, न च वर्तमानान् । न वा भविष्यतः । अत्रापि स्वभावो गुप्तः । पूर्वगुरुजनप्रणाम-प्रणाली च प्रायः शिष्टैरनेकैः कविभिः स्वीकृतैव ।

अत्र कविनिष्ठा गुरुजनविषया भगवद्–विषया च रतिः प्रधानतया वर्तते । श्लेषालङ्कारः । तल्लक्षणं च यथा—

"श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते ।
वर्णप्रत्ययलिङ्गानां, प्रकृत्योः पदयोरपि ।
श्लेषाद्विभक्तिवचनभाषाणामष्टधा च सः ॥"

पथ्यावक्त्रं छन्दः । तल्लक्षणं यथा—

"युजोर्जेन सरिद्भर्तुः पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ।" इति ॥

ग्रन्थादौ, ग्रन्थमध्ये ग्रन्थान्ते च मंगलाचरणं शिष्टजनसम्मतम् । तच्च मङ्गलम् आशीर्वादात्मकम्, नमस्कारात्मकम्, वस्तुनिर्देशात्मकमिति त्रिविधं भवति । अत्र च नमस्कारात्मकाशीर्वादात्मकयोरुभयोरपि स्वीकारः ॥१॥

टिप्पणी

(१) भारतीय परम्परा के अनुसार विघ्नविघातार्थ ग्रन्थारम्भ में मंगल का प्रयोग किया जाता है । वह मंगल तीन प्रकार का होता है—(१) आशीर्वादात्मक (२) नमस्कारात्मक (३) वस्तुनिर्देशात्मक । यहाँ नमस्कारात्मक एवं आशीर्वादात्मक मंगल है ।

(२) इस श्लोक से इस नाटकीय घटनाचक्र की ओर भी संकेत प्राप्त होता है जबकि सीता-प्राप्ति के अनन्तर लक्ष्मण आदि श्री वाल्मीकि सहित गंगा-प्रभृति को प्रणाम करते हैं और स्वीकार करते है कि उन्हीं के अनुग्रह से वे पुनः भगवान् श्री रामचन्द्र जी की अंशभूत परमवन्दनीया सीता देवी का पुनः साक्षात्कार कर रहे हैं ।

(३) 'मालतीमाधव' में 'ये नाम केचिदिह……' इत्यादि गर्वोक्ति करने वाले भवभूति के स्वभाव में 'उत्तररामचरित' तक पहुंचते-पहुंचते परिवर्तन हो गया था; परन्तु इस विनम्रता का प्रदर्शन उन्होंने केवल प्राचीन कवियों के ही प्रति किया है—समसामयिक अथवा भावी कवियों के प्रति नहीं ।

(४) (क) 'कविभ्यः' में 'प्रशास्महे' का उद्देश्य होने के कारण चतुर्थी हुई है। 'क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्'। 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' —इससे भी चतुर्थी हो सकती है। कुछ विद्वानों के मत में 'नमः' के योग में चतुर्थी है। कुछ लोग वाल्मीकि के लिये ही आदरार्थं में बहुवचन का प्रयोग मानते हैं। (ख) नमोवाकम्—क्रिया विशेषण। वचनं वाकः। √'वच् परिभाषणे' इति धातोर्भावे घञ् प्रत्ययः, कुत्वञ्च अथवा—कुछ विद्वान् 'नम इति उक्त्वा नमोवाकम्' यह णमुलन्त प्रयोग भी स्वीकार करते हैं। (ग) प्रशास्महे—'आङ्' पूर्वक √'शास्' धातु इच्छार्थक है परन्तु यहाँ कवि ने 'प्र' पूर्वक √'शास्' धातु का प्रयोग इच्छार्थ में किया है। इसका समाधान यह है कि 'आङ्' का प्रयोग प्रायिक है—अनिवार्य नहीं। "आङ् पूर्वत्वं प्रायिकं, तेन 'नमोवाकं प्रशास्महे' इति सिद्धम्" (सि० कौ०)। (घ) विन्देम—√ विद् (तुदादि) लिङ्।

(५) कुछ पुस्तकों में 'कविभ्यः' के स्थान पर 'गुरुभ्यः' तथा 'विन्देम देवतां वाचम्' के स्थान पर 'वन्देमहि च तां वाणीम्' प्रयोग भी मिलते हैं। उनका अर्थ क्रमशः होगा 'गुरुओं को' और 'उस सरस्वती को प्रणाम करते हैं'।

(६) इसमें 'पथ्यावक्त्र' छन्द तथा श्लेष अलंकार हैं। कविनिष्ठ भगवद्विषयक अथवा गुरुविषयक रतिभाव है। (विशेष विस्तार के लिये संस्कृत-टीका देखिये।)

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधारः—अलमतिविस्तरेण। अद्य खलु भगवतः कालप्रियानाथस्य यात्रायामार्यमिश्रान्विज्ञापयामि—एवमत्रभवन्तो विदांकुर्वन्तु। अस्ति खलु तत्रभवान्काश्यपः श्रीकण्ठपदलाञ्छनः पदवाक्यप्रमाणज्ञो भवभूतिर्नाम जतुकर्णीपुत्रः।

[नान्दी के अनन्तर]

सूत्रधार—बस, अधिक विस्तार मत करो। आज भगवान् कालप्रिय-नाथ (शङ्कर की) यात्रा के अवसर पर मैं सम्माननीय महानुभावों से निवेदन करता हूं कि आप लोग यह जानें कि कश्यपगोत्रोत्पन्न, व्याकरण, मीमांसा तथा न्याय के पण्डित 'श्रीकण्ठ' उपाधि से विभूषित 'जतुकर्णी' के सुपुत्र आदरणीय 'भवभूति' नामक कवि हैं।

संस्कृत-व्याख्या

नान्द्यन्ते इति—नाटकादौ भारतीय-नाट्यशास्त्रादेशानुसारम्—'पूर्वरङ्गः', 'सभापूजा', 'कविनाम्नो नाटकनाम्नश्च कीर्तनम्', 'आमुखम्—(प्रस्तावना)'—इति पञ्चकार्याण्यावश्यकानि।' नाटके कुशीलवैः (नटैः) रङ्गविघ्नोपशान्तये यन्मङ्गलं

क्रियते, नाटकीयभाषायां तस्यैव 'नान्दी' इति संज्ञास्ति। तथा चोक्तं साहित्य—दर्पणे—

"तत्र पूर्वं पूर्वरङ्गः, सभापूजा ततः परम्।
कथनं कविसंज्ञादेर्नाटकस्याप्यथाऽऽमुखम् ॥"

'पूर्वरङ्गश्च'—

"यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति, पूर्वरङ्गः स उच्यते ॥
प्रत्याहारादिकान्यङ्गान्यस्य भूयांसि यद्यपि।
तथाप्यवश्यं कर्तव्या 'नान्दी' विघ्नोपशान्तये ॥" इति ॥

नन्दयति=प्रसादयति सामाजिकानां मनांसीति व्युत्पत्या 'नान्दी'। तस्याः स्वरूपञ्च यथा—

"आशीर्वचनसंयुक्ता, स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते।
देवद्विजनृपादीनां, तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥
मङ्गल्य—शङ्ख—चन्द्राब्ज—कोक—कैरव-शंसिनी।
पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत ॥"

इत्युक्त लक्षणानुरूपमत्र नाटके 'द्वादशपदा' नान्दी। 'पद'–शब्देनात्र श्लोक-पादो गृह्यते—इति केचित्। सुप्तिङन्तं पदमेव गृह्यते, इति चान्ये। एतन्मतानुसारमेवात्र—[१–इदम्, २–कविभ्यः, ३–पूर्वेभ्यः, ४–नमोवाकम्, ५–प्र, ६–शास्महे, ७–विन्देम, ८–देवताम्, ९–वाचम्, १०–अमृताम्, ११–आत्मनः, १२–कलाम्] इत्येव द्वादश-पदानि सन्ति। 'प्र' उपसर्गस्य भिन्नपदत्वमेव भवतीति सिद्धान्तः।

सूत्रधारः इति। नाटकस्य प्रबन्धकर्ता सूत्रधारो भवति। 'सूत्रं' च नाटकीयं वस्तु। सूत्रधारस्य लक्षणं यथा—

"नाट्योपकरणादीनि 'सूत्र' मित्यभिधीयते।
सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते ॥"

अलमिति। "सूत्रधारः पठेन्नादीम्" इति भरतमुनि—निर्देशात् स्वयम्पाठे विलम्बमालक्ष्य प्रेक्षकाणामानन्दे विघ्नमाशंक्याह—'अलमिति'। मंगलाचरणेऽतिकालो नोचितः, इति भावः। अन्ये नरा महता विलम्बेन 'नान्दी'—कर्मणि निरता भवन्ति, तन्निवारयितुं सूत्रधारः प्राह 'अलमिति' केषाञ्चित् सिद्धान्तः।

अद्येति—भगवतः कालप्रियायाः=श्री दुर्गादेव्या नाथस्य श्री शशिशेखरस्य यात्रायाः प्रसंगे समुपस्थिते आर्यमिश्रान्=आर्यान्=श्रेष्ठान्, मिश्रान्=सम्माननीयान् प्रेक्षकमहानुभावान् निवेदयामि। 'आर्य'—लक्षणञ्च यथा—

"कर्तव्यमाचरन् कर्म, ह्यकर्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्रकृताचारे, स वा 'आर्य' इति स्मृतः ॥ इति ॥

एवम्=वक्ष्यमाणप्रकारेण भवन्तो जानन्तु—तत्रभवान्=वन्दनीयः [तत्रभवान्, अत्रभवान् इति च पदद्वयमादरसूचकत्। सम्मुखस्थेषु—'अत्रभवान्' परोक्षेषु च तत्र-

भवान्' इति प्रयुज्यते।] कश्यपगोत्रोत्पन्नः, 'श्रीकण्ठ'—पदेन प्रसिद्धः। श्रीः=सरस्वती, कण्ठे यस्य सः। 'श्रीकण्ठ' इति पित्रा कृतं नाम, 'भवभूतिः' इति चौपाधिकम्। इति केचित्। अपरे पुनः 'भवभूति' रिति नाम, 'श्रीकण्ठ' इति चोपाधिः। तत्र "साम्वा पुनातु भवभूति-पवित्रमूर्तिः" इति कवितामाकर्ण्यैव राज्ञा केनापि 'भवभूतिः' इत्युपाधिना सत्कृतोऽयं कविरिति कथयन्ति। पदम्=व्याकरणशास्त्रम्, वाक्यम्=मीमांसाशास्त्रम्, प्रमाणम्=प्रत्यक्षादि—प्रमाण—प्रतिपादकं न्यायदर्शनशास्त्रम्, रामचरिते तस्या एव प्राधान्यात् [इदमग्रे स्फुटीकरिष्यामः]। शक्तिरूपां भगवतीं जानातीति ज्ञः। जतुकर्णी=भवभूतेर्जननी। तस्याः पुत्रः। भवभूतिः कविरस्ति। उपाधिप्रदानेन कवीनां नामानि प्रचलन्तीति युक्तमेव। यथा कविकुलगुरोः दीपशिखा,-वर्णनेन 'दीपशिखा कालिदासः', माघस्य च घण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलां' विभ्राणस्य रैवतकस्य वर्णनेन 'घण्टामाघः' एवमेवास्य कवेरपि 'भवभूति' रित्युपाधि-नाम प्रसिद्धमिति भावः। एवञ्च—कश्यपगोत्रोत्पन्नः परमविद्वान् 'भवभूति' रित्यु-पाधियुक्तः 'श्रीकण्ठ' नामा कविरस्ति।

टिप्पणी

(१) 'नान्दी' नाटक के प्रारम्भ में किये गये मंगलाचरण को 'नान्दी' कहते हैं। "नन्दयति प्रसादयति सामाजिकानां मनांसीति नान्दी।" अथवा "नन्दन्ति प्रसीदन्ति देवता अस्यां सा नान्दी।" √नदि+घञ्+वृद्धि ङीप्। अथवा √नन्द्+पचादित्वादच्+प्रज्ञादिभ्यश्च, अण्+ङीप्। अथवा नन्दनं नन्दः, भावे घञ्+नन्दस्येयं नान्दी, 'तस्येदम्' अण्+ङीप्। नान्दी आठ या बारह पदों की होती है। 'पद' शब्द के अर्थ में विद्वानों में मतभेद है। (१) कुछ लोग सुप्-तिङन्त शब्दों को पद मानते हैं। (२) कुछ श्लोक के चरण को पद मानते हैं। (३) कुछ श्लोक के अनन्तर वाक्यों में से प्रत्येक वाक्य को पद मानते हैं। यहां 'सुप्तिङन्तं पदम्' वाला सिद्धान्त ही माना गया है। यह 'द्वादश-पदा' नान्दी है। 'नान्दी'—पाठ सूत्रधार भी कर सकता है, अन्य पात्र भी। भरत मुनि के अनुसार नान्दी-पाठ सूत्रधार को करना चाहिये—'सूत्रधारः पठेन्नान्दीं मध्यमं स्वरमाश्रितः।" यहाँ 'नान्द्यन्ते' सूत्रधारः के प्रयोग से प्रतीत होता है कि नान्दी-पाठक तथा सूत्रधार एक ही व्यक्ति है। जहाँ अन्य पात्र नान्दी का प्रयोग करते हैं वहाँ "नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः" यह निर्देश प्राप्त होता है। (२) सूत्रधारः—कथा-सूत्र के सञ्चालक को सूत्रधार कहते हैं। 'सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते'। सूत्र+√धृ+णिच्+स्वार्थे अण्। (३) कालप्रियानाथ—कुछ लोगों के मत में वर्तमान उज्जयिनी के महा-कालेश्वर ही कालप्रियानाथ हैं। श्री घाटे शास्त्री का मत है कि भवभूति के निवास-स्थान 'पद्मपुर' में कालप्रियानाथ का मन्दिर था। कालप्रिया=पार्वती उनके पति शंकर। प्राचीन काल में देवताओं की यात्रा आदि के उत्सवों पर नाटक खेले जाते थे। (४) विदांकुर्वन्तु=√विद्+कृ+लोट्। विस्तरेण=वि+

√स्तृ+अय्। (५) श्रीकण्ठपदलाञ्छनः—'श्रीकण्ठ' इति पदं शब्दो लाञ्छनं यस्य सः। श्रीकण्ठ नामक। "ऋचो यजूंषि सामानि सा हि श्रीरमृता सताम्" इति श्रुत्युक्ता 'त्रयी लक्षणा वाक्' कण्ठे यस्य स श्रीकण्ठः, इति पदं लाञ्छनं चिन्हं यस्य तथाभूतः। श्री घनश्याम इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—"श्रीकण्ठस्य शिवस्य पदे पादावेव लाञ्छनं विरुदं यस्य इति वार्थः। शिवपादाब्जनिरतः इति यावत्। कुछ लोगों का विचार है कि भवभूति का वास्तविक नाम श्रीकण्ठ था, भवभूति उनकी उपाधि थी जो कि उन्हें—"साम्बा पुनातु भवभूति पवित्रमूर्तिः" तथा "गिरिजायाः कुचौ वन्दे भवभूति—सिताननौ" लिखने के कारण प्रसन्न होकर विद्वत्सम्प्रदाय ने दी थी। जैसे कि कालिदास को 'दीपशिखा कालिदास' की, माघ को 'घण्टामाघ' की तथा भारवि को 'आतपत्रभारवि' को। कुछ लोगों का कहना है कि भवभूति उनका वास्तविक नाम था 'श्रीकण्ठ' उनकी उपाधि। इनमें पहिला मत ही अधिक उचित प्रतीत होता है। उसके अनुसार यह अर्थ होगा—"कश्यपगोत्रोत्पन्न पदवाक्यप्रमाणज्ञ, 'भवभूति' उपाधिधारी 'जतुकर्णी'—पुत्र 'श्रीकण्ठ' नामक कवि हैं।" (६) पदवाक्यप्रमाणज्ञः—पद=व्याकरण। वाक्य=मीमांसा। प्रमाण=न्याय।

यं ब्रह्माणमियं देवी वाग्वश्येवानुवर्तते।
उत्तरं रामचरितं तत्प्रणीतं प्रयोक्ष्यते ॥२॥

तस्यासाधारणपाण्डित्य—प्रकर्षं सूचयितुमाह—यमिति।

अन्वयः—यम्, ब्रह्माणम्, इयम्, देवीवाक्, वश्या इव, अनुवर्तते, तत्प्रणीतम्, उत्तरं रामचरितम्, प्रयोक्ष्यते ॥ २ ॥

हिन्दी—जिस (भवभूति) का 'यह ब्रह्मा है' यह समझकर सरस्वती वशवर्तिनी-सी होकर अनुगमन करती है, (आज) उनके द्वारा विरचित 'उत्तररामचरित' का अभिनय किया जायेगा ॥२॥

संस्कृत-व्याख्या

सः कविर्न साधारणः कविरपितु साक्षात् कविः=ब्रह्मास्ति। अतएव ब्रह्माणं मत्वैव इयं भगवती सरस्वती वश्या=वशंगतेव, यं भवभूतिं सर्वदाऽनुवर्तते। सिद्धसरस्वतीकोऽसाविति भावः। तेन प्रणीतम् 'उत्तरं रामचरितम्' (नाटकम्) अस्माभिरिदानीं प्रयोक्ष्यते=अभिनेष्यते। प्रयोगोऽभिनयः। स चावस्थानुकरणरूपश्चतुर्विधो भवति। तथाहि–साहित्यदर्पणे,

"भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः स चतुर्विधः।
आङ्गिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्त्विकस्तथा ॥" इति ॥

'उत्तरं 'रामचरितम्' इति नाटकस्य नाम । "नाम कार्यं नाटकस्य गर्भितार्थप्रकाशकम्" इति नियमादत्र गर्भिता अर्था विन्यस्यन्ते । इमे चार्था अस्मदुपज्ञा एव प्रायेणेति विज्ञाः सहृदया विवेचयन्तु ।

(१) उत्तरं रामस्य चरितं यस्मिन् । श्रीरामस्य चरितं पूर्वोत्तरभेदाद् द्विधा विभक्तम् । राज्याभिषेकात् पूर्वतनं वनवासादिचरितं पूर्वचरितम्, राज्याभिषेकानन्तरञ्चोत्तरं चरितम् । ततश्चात्र नाटके राज्याभिषेकानन्तरं चरितमेव निबध्यते, पूर्वचरितन्तु एतत्कविनिबद्धे 'महावीर-चरिते'ऽस्ति ।

(२) अथवा—उत्तरम्=उत्कृष्टं · · · ·रामस्यचरितं यस्मिन् तत् । सीतापरित्यागेन रामस्योत्कृष्टराज्यधर्मपालनव्रतत्वं सूच्यते ।

(३) अथवा—उत्तरन्ति संसारार्णवतो जना येन तदुत्तरं 'रामस्य चरितम् । रामचरितानुकरणेन संसार-सिन्धोः पारमुत्तरन्ति जनाः ।

(४) अथवा—उत्तरं=सर्वोत्कृष्टं, रामायाः=श्री सीतादेव्याश्चरितं प्रयोक्ष्यते ।

वस्तुतस्त्वयमेवार्थो विशेषरूपेणास्मभ्यं रोचते । श्री सीतादेव्याश्चरितमेवात्रोत्कृष्टतरम् । वक्ष्यति च स्वयं भगवान् श्री रामोऽपि—

"उत्पत्तिपरिपूतायाः, किमस्याः पावनान्तरैः ।
तीर्थोदकञ्च वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः ।" इति ॥

भगवती श्री वशिष्ठसहधर्मिणी स्वयमरुन्धती देवी च—

"अग्निरिति वत्सां प्रति लघून्यक्षराणि । सीतेत्येव पर्याप्तम् ।" भगवत्यौ गंगा-पृथिव्यावपि च वक्ष्येते—

"जगन्मङ्गलमात्मानं कथं त्वमवमन्यसे ?
आवयोरपि (तव) संसर्गात् पवित्रत्वं प्रकृष्यते ॥" इति ॥

इयमेव विशेषताऽस्य कवयितुर्नाटकनामकरणेऽपि संलक्ष्यते । यथार्थता तु सतां विचारमेवावलम्बते ।

(५) अथवा—रामा च रामश्च रामौ, तयोश्चरितम् । एतेनोभयोरपि सीतारामयोरुत्कर्षताऽत्रेति भावः । एतानाभेदबुध्यैव कविर्वर्णितवानिति सूच्यते ।

(६) अथवा—'उत्तरोगोपतिर्गोप्ता' इति विष्णुसहस्रनामानुसारं 'उत्तरः' इति विष्णोर्नाम । ततश्च-उत्तरश्चासौ राम इति उत्तररामः=विष्णुरूपरामः, तस्य चरितमित्यर्थः ।

प्रयोगः=अभिनेतव्यं नाटकम् । तल्लक्षणं यथा—

"नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्, पञ्चसन्धि-समन्वितम् ।
विलासर्द्ध्यादिगुणवद्, युक्तं नाना विभूतिभिः ॥
सुख-दुःख-समुद्भूति-नानारसनिरन्तरम् ।

पञ्चादिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्तिताः ॥
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान् ।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान् नायको मतः ॥
एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा ।
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः ॥
चत्वारः पञ्च वा मुख्याः कार्यव्यापृतपूरुषाः ।
गोपुच्छाग्रसमाग्रन्तु बन्धनं तस्य कीर्तितम् ।" इति ॥

अत्र संस्कृते भाषणाद् भारती वृत्तिः । तल्लक्षणं यथा—
"भारती संस्कृत-प्रायो वाग्व्यापारो नराश्रयः ।" इति ॥

तस्याश्चात्र 'प्ररोचना' नामाङ्गं वर्णितम् । उक्तञ्च—
"तस्याः अङ्गानि—प्ररोचना, वीथी तथा प्रहसनामुखे ।" इति तस्याश्चत्वार्यङ्गानि भवन्ति । तत्र—"उन्मुखीकारः प्रशंसातः प्ररोचना" इति प्ररोचना-स्वरूपमुक्तं दर्पणे ।

'यं ब्राह्मणमिति' पाठे तु न किमपि वैचित्र्यम्, ब्राह्मणस्य सतस्तथा कथनेन कोऽभिप्रायः ? ब्राह्मणत्वञ्चास्य—'काश्यपः' इति कथनेनैव सिद्धमिति । अत्रोक्त पाठे चार्थंकृता चमत्कृतिः स्वस्मिन् ब्रह्मणत्वोत्प्रेक्षणे सुव्यक्तैवेति दिक् ।

अत्र वाचो वश्यत्वोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षालङ्कारः । तल्लक्षणञ्च—
भवेत्सम्भावनोत्प्रेक्षा, प्रकृतस्य परात्मना ।
वाच्या प्रतीयमाना सा ।" इति ।

कवेश्चास्य ब्रह्मणा सहोपमानोपमेयभावो व्यज्यते । पथ्यावक्त्रं छन्दः । लक्षणं पूर्वश्लोके दत्तम् । अत्र च प्रसादो गुणः । लक्षणञ्च यथा—
'चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः ।
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ॥" इति ॥

गौडी रीतिः 'गौडी डम्बर-बन्धे'ति लक्षणाद् ॥ २ ॥

टिप्पणी

१. यं ब्रह्माणं' कहकर कवि ने अपने को ब्रह्मा के समान सिद्ध किया है । 'जिस प्रकार ब्रह्मा जी के पास सरस्वती सदा रहती है उसी प्रकार वह मेरी वशवर्तिनी है' कवि की यह गर्वोक्ति वस्तुतः तथ्य पर आधारित है । यं ब्राह्मणं यह पाठ अधिक रमणीय नहीं है । ब्राह्मणत्व तो उसका 'काश्यप' कहने से ही सिद्ध हो चुका है ।

२. यहाँ भारती वृत्ति का प्ररोचना' भेद है । प्ररोचना का लक्षण है—
"उन्मुखीकारः प्रशंसातः प्ररोचना ।"

३. उत्प्रेक्षा अलङ्कार है । कवि का ब्रह्मा के साथ उपमानोपमेयभाव व्यङ्ग्य है । पथ्यावक्त्र छन्द है । प्रसाद गुण और गौड़ी रीति है ।

४. कवि ने अपने नाटक का शीर्षक बड़ा ही महत्वपूर्ण रखा है। इससे नाटकीय घटना चक्र पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है। 'नाम कार्यं नाटकस्य गर्भितार्थ-प्रकाशकम्" इस नाटकीय नियम का पूर्णतः पालन किया गया है। यहाँ 'उत्तर-रामचरित' इस शीर्षक के कतिपय अर्थ दिये जा रहे हैं। सहृय-गण विचार करें। इनमें से अधिकांश हमारे द्वारा ही उद्भावित हैं।

(क) रामचन्द्र जी का उत्तरचरित जिसमें वर्णित हो। उनका पूर्वचरित भवभूतिविरचित महावीचररित' में वर्णित है। उससे अगला चरित इस नाटक का प्रतिपाद्य विषय है।

(ख) अथवा—उत्तरम्= उत्कृष्टं रामस्य चरितं यस्मिन् तत्' अर्थात् जिसमें भगवान् रामचन्द्र जी के उत्कृष्ट चरित्र का वर्णन हो। लोकाराधन के लिए अपनी प्राणप्रिया सीता का भी परित्याग कर देने से बढ़कर चरित्र की उत्कृष्टता और क्या हो सकती है?

(ग) अथवा—'उत्तरन्ति=संसारार्णवतो जना येन तदुत्तरं रामचरितम्।' जिससे संसार-सागर से लोग पार उतर जाते हों वह 'उत्तर' चरित।

(घ) अथवा—'उत्तरं=सर्वोत्कृष्टं, रामाया.=श्रीसीतादेव्याश्चरितम्। अर्थात् जिसमें भगवती सीता का सर्वोत्कृष्ट चरित वर्णित हो। वास्तव में यही अर्थ सबसे रमणीय प्रतीत होता है। उत्तररामचरित की पंक्ति-पंक्ति श्री सीतादेवी के उत्कृष्ट चरित की साक्षी दे रही है। उनके सम्बन्ध में विभिन्न पात्रों के उद्गार संस्कृत–टीका में देखिये।

(ङ) अथवा—जिसमें राम और सीता दोनों का चरित समान रूप में वर्णित हो। "रामा च रामश्च रामौ। तयोश्चरितम्"। इस अर्थ में राम-सीता के प्रति कवि की अभेद-बुद्धि व्यक्त होती है।

(च) अथवा—उत्तरो 'गोपतिर्गोप्ता' इस 'विष्णुसहस्रनाम' के श्लोक के अनुसार 'उत्तर विष्णु का नाम है। उस दशा में "उत्तरश्चासौ रामः इति 'उत्तर रामः'=विष्णुरूपस्तस्य चरितम्' यह अर्थ होगा। अर्थात् विष्णु के अवतार राम का चरित वर्णित हो।

५. 'चरित' और 'चरित्र' ये दो शब्द अंग्रेजी के 'Life' और 'Character' के समानार्थक हैं। यहाँ 'चरित' शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्थात् जिसमें रामचन्द्र जी का लङ्का-विजय के बाद का जीवन चित्रित हो। 'उत्तरचरितम् अधिकृत्य कृतम्' इस व्युत्पत्ति से 'अधिकृत्य कृत्ये ग्रन्थे' इस सूत्र से 'अण् का विधान करते "लुबाख्यायिको बहुलम्" इस वार्तिक से उसका लोप करके 'उत्तररामचरितम्' सिद्ध होता है। अथवा इसे लांक्षणिक प्रयोग भी माना जाता है।

एषोऽस्मि कार्यवशादायोध्यकस्तदानींतनश्च संवृत्तः। (समन्तादवलोक्य) भो भोः, यदा तावदत्रभवतः पौलस्त्यकुलधूमकेतोर्महाराजरामस्यायं पट्टाभिषेकसमयो रात्रिंदिवमसंहृतनान्दीकः, तत्किमिदानीं विश्रान्तचारणानि चत्वरस्थानानि।

(प्रविश्य)

नटः—भाव ! प्रेषिता हि स्वगृहान्महाराजेन लङ्कासमरसुहृदो महात्मानः प्लवङ्गमराक्षसाः सभाजनोपस्थायिनश्च नानादिगन्तपावना ब्रह्मर्षयो राजर्षयश्च, यत्समाराधनायैतावतो दिवसान्प्रमोद आसीत्।

सूत्रधार :—आ, अस्त्येतन्निमित्तम्।

नट :—अन्यच्च—

वसिष्ठाधिष्ठिता देव्यो गता रामस्य मातरः।
अरुन्धतीं पुरस्कृत्य यज्ञे जामातुराश्रमम् ॥३॥

कारणमेवाह—वशिष्ठेति।

अन्वयः—वशिष्ठाधिष्ठिता देव्यो, रामस्य मातरः अरुन्धतीं पुरस्कृत्य, यज्ञे, जामातुः आश्रमम्, गताः ॥ ३ ॥

हिन्दी—मैं कार्यवश (अभिनय के लिए) अयोध्यावासी तथा उसी श्रीरामचन्द्र जी के अभिषेक के समय का हो गया हूं। (चारों ओर देखकर) अरे, (प्रवन्धकर्ताओ !) जब रावण-कुल के लिये अग्नि के समान (संहारक) परमपूज्य महाराज श्री रामचन्द्र जी के राज्याभिषेक के समय रात-दिन नान्दी-प्रयोग (गानवाद्य) हो रहा है तो फिर चौराहे चारण-शून्य क्यों हैं ? (उत्सव के समय भी ऐसी शान्ति क्यों छाई हुई है ?)

[प्रवेशकर]

नट—आर्य ! महाराज ने, जिनके स्वागत के लिये इतने दिन तक यह उत्सव था, उन लङ्का-समर के सुहृद वानारों, राक्षसों तथा अभिनन्दन के लिए आये हुए, नाना दिशाओं को पवित्र करने वाले ब्रह्मर्षि एवं राजर्षियों को अपने घर से (आदरपूर्वक) विदा कर दिया है। (अतः अब उनके चले जाने पर अहर्निश आमोद-प्रमोदों की क्या आवश्यकता है ?)

सूत्रधार—ओह ! यह कारण है ?

नट—(इतना ही नहीं,) और भी है—

श्लोक ३. श्री वशिष्ठ जी की अध्यक्षता में भगवती अरुन्धती को आगे करके श्री रामचन्द्र जी की (कौशल्या आदि) माताएं यज्ञ में (सम्मिलित होने के लिए) जामाता (ऋष्यशृङ्ग) के आश्रम में गई हैं। (अतः अतिथियों तथा गुरुजनों की अनुपस्थिति में उत्सव मनाना अनुचित समझकर यह बन्द कर दिया गया है।)

संस्कृत-व्याख्या

एष इति। अहं (सूत्रधारः) सूत्रधार-पदं परित्यज्य कार्यवशादिदानीं नाटकारम्भः क्रियते, इति हेतोरायोध्यकः=अयोध्यावासी, श्री रामराज्याभिषेक-कालिकः संवृत्तः=सञ्जातोऽस्मि। अधुना तदानीन्तनेनैव मया कार्यं क्रियते; इति भावः।

समन्तात्=परितोऽवलोक्य कथयति—भो भो ! इति। भोः ! प्रबन्धकर्तारः। राक्षसानां तृणतुल्यं कुलं विनाशयितुमग्नितुल्यस्य श्रीरामस्य राज्याभिषेक-समयेऽधुना रात्रिन्दिवं नान्दी-प्रयोगो=नृत्यवादित्रगायनादिकं प्रवर्तते, पुनरिदानीं चत्वर-स्थानेषु चारणाः=नराः कथन्न सन्ति ? उत्सव-समयेऽपि मौनताया नग्ननृत्यं कथं भवतीति भावः।

एतत्प्रश्नस्य समाधानाय कश्चिन्नटः प्रविश्योत्सव-निरोधस्य कारणमाह-भावेति। आर्य ! राज्याभिषेकनिमित्तं ये लंकासमरस्य सुहृद्भूताः सर्वशक्तिसम्पन्ना महात्मानः प्लवङ्गमाः=वानराः राक्षसाः, सभाजनाय=समभिनन्दनाय समुपस्थिताः, स्वयात्रयैव नानादिगन्ताम् पावयन्तः=पवित्रीकुर्वन्तः, ब्रह्मर्षयः=विशिष्ठादयो, राजर्षयः=जनकादयश्च श्रीमहाराजरामचन्द्रेणैतो विसर्जितास्तेषामेव कृते एतावतो बहून् दिवसान् यावदयं प्रमोदः=उत्सवसमारोहानन्द आसीत्। इदानीं गतेषु समागतेषु का आवश्यकता महोत्सवस्येति कृत्वा समवरुद्धः स इति भावः।

सूत्रधारस्य—'आ ! एवं मयापि स्मृतम्, एतन्निमित्तमस्तीति वचनं निशम्य नटः पुनरप्याह—अन्यच्चेति। न केवलमेतदेव कारणम्; इदन्तु वस्तुतस्तुच्छमिव वर्तते, विशिष्टन्तु किमप्यन्यदेवास्ति। सावधानतया श्रूयताम्, तदपि मया निवेद्यते—इति भावः।.

श्री वशिष्ठस्याधिष्ठातृत्वे भगवतीं अरुन्धतीमग्रे विधाय श्री रामस्य मातरः कौशल्यादयो जामातुराश्रमे सम्भूयमाने यज्ञे गताः। यज्ञे इत्यत्र "निमित्तात्कर्मयोगे" इति सप्तमी अतः समागतानां महानुभावानां, स्वगुरुजनानाञ्चानुपस्थितौ महोत्सव-समारम्भः सर्वथाऽनुचित एवेति निरुद्धो महोत्सव इति भावः॥ ३॥

टिप्पणी

(१) आयोध्यक :—अयोध्यायां जातो दृष्टोवेति, अयोध्या+वुञ्।

तदानीन्तनः—तस्मिन् काले इति तत्+ङि (सप्तमी)+दानीं स्वार्थे=तदानीम्, तदानीं भव इति तदानी+ट्युल्, तुडागम।

पौलस्त्यः=पुलस्त्यस्य गोत्रापत्यं पुमान्, पुलस्त्य+यञ्।

रात्रिन्दिवम्=रात्रौ च दिवा चेति रात्रिन्दिवा+अल् समासान्त रात्रिन्दिवम्।

असंहृतनान्दीकः=असंहृता=अविश्रन्ता नान्दी यस्मिन् सः। प्लवङ्गमः=प्लवेन गच्छतीति प्लवङ्गमः। प्लव+√गम्+खच्+मुम्। वशिष्ठः=अतिशयेन वशी इति वशिन्+इष्ठन्। अधिष्ठिताः=अधि+√स्था+क्त। पुरस्कृत्यः=पुरस्+√कृ+ल्यप्। यज्ञे=''निमित्तात्कर्मयोगे'' सप्तमी।

(२) सूत्रधार के लिये नट को 'भाव' शब्द का प्रयोग करना चाहिये। ''मान्यो भावेति वक्तव्यः किञ्चन्न्यूनस्तु मारिषः।'' ''भावो विद्वान्'' इत्यमरः।''

सूत्रधार :—वैदेशिकोऽस्मीति पृच्छामि। कः पुनर्जामाता ?

नट—कन्यां दशरथो राजा शान्तां नाम व्यजीजनत्।
अपत्यकृतिकां राज्ञे रोमपादाय तां ददौ ॥४॥

विभाण्डकसुतस्तामृष्यश्रृङ्ग उपयेमे। तेन द्वादशवार्षिकं सत्रमारब्धम्। तदनुरोधात्कठोरगर्भामपि जानकीं विमुच्य गुरुजनस्तत्र यातः।

अन्वयः—राजा, दशरथः, शान्तां, नाम, कन्यां, व्यजीजनत्। राज्ञे, रोमपादाय, अपत्यकृतिकां, तां ददौ॥ ४॥

सूत्रधार— मैं परदेशी हूं, इसलिए पूछता हूं कि यह जामाता कौन है ?

नट—राजा दशरथ के शान्ता नाम की कन्या उत्पन्न हुई। उन्होंने उसे, 'अपत्यकृतिका' के रूप में, राजा रोमपाद को दे दिया है॥४॥

विभाण्डक ऋषि के सुपुत्र ऋष्यश्रृङ्ग ने उससे विवाह कर लिया। अब उन्होंने बारह वर्ष तक चलने वाला यज्ञ प्रारम्भ किया है। उनके (यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए) आग्रह से, पूर्ण गर्भवती होने पर भी श्री सीता देवी को छोड़ कर गुरुजन वहाँ चले गये हैं।

संस्कृत-व्याख्या

वैदेशिकोऽहं न जानामि, कोऽयं जामाता ? इति श्रुत्वा नटः पुनराह—कन्यामिति ।

महाराजदशरथस्य, शान्ता नाम कन्या समभवत् । तेन च सा पुत्रं मत्वा राज्ञे रोमपादाय प्रदत्ता । ताञ्च विभाण्डकस्य महर्षेः पुत्रः ऋष्यशृङ्ग उपयेमे=परिणीतवान्=विवाहितवान् इति यावत्, तेन चाधुना द्वादशवर्षाणि यावत् प्रवर्तमानो यज्ञः प्रारब्धः । अत्रत्यान् गुरुजनानाकारयितुञ्च तेन महानुरोधः कृतः । तस्यानुरोध-वशादेव, कठोरगर्भामपि=परिपूर्णगर्भामपि सीतादेवीमिहैव परित्यज्य गुरुजनस्तत्र प्रयातः इति भावः ॥४॥

टिप्पणी

(१) अपत्यकृतिका—"अपत्यस्य कृतिर्व्यापारो यस्याः सा" अथवा, "अपत्याय कृतिर्ग्रहणं यस्याः सा" अथवा "अपत्यस्य कृतिर्व्यापरो यस्यास्तथाविधाम्" । कृत्रिम पुत्री के रूप में गृहीत पुत्री अथवा "इसके गर्भ से जो पुत्र होगा वह मेरा पुत्र होगा" इस शर्त के साथ जो कन्या दी जाती है उसे भी 'अपत्यकृतिका' कहते हैं ।

"अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्य कन्यामलङ्कृताम् ।
अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति ।" (वशिष्ठः)
"अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम् ।
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात् स्वधांकरम् ॥
अनेन तु विधानेन पुरा चक्रेऽथ पुत्रिकां ।
विवृद्धयर्थं स्ववंशस्य स्वयं दक्षः प्रजापतिः ॥" (मनुः)

राजा रोमपाद ने निस्सन्तान होने के कारण राजा दशरथ से शान्ता को ले लिया था । तदन्तर विभाण्डक के पुत्र ऋष्यशृङ्ग के साथ उसका विवाह कर दिया था । इस सम्बन्ध से ऋष्यशृङ्ग दशरथ के जमाता हुए । ऋष्यशृङ्ग प्रारम्भिक जीवन में बड़े ही एकान्तसेवी थे । उन्हें सांसारिक बातों का ज्ञान न था । अङ्गदेश के राजा रोमपाद ने अपने यहाँ अनावृष्टि होने के कारण वेश्याओं के द्वारा युक्ति-पूर्वक उन्हें बुलाया । उनके आते ही वर्षा हो गई और उन्होंने शान्ता का विवाह उनसे कर दिया ।

रामायण के वर्णन से प्रतीत होता है कि शान्ता दशरथ की नहीं, रोमपाद की ही कन्या थी—

"एवमङ्गाधिपेनैव गणिकाभिऋ‍र्षेः सुतः ।
आनीतोऽवर्षयद्देवः शान्ता चास्मै प्रदीयते ॥
ऋष्यशृङ्गस्तु जामाता पुत्रांस्तव विधास्यति ।"
(रामायण, बालकाण्ड)

'विष्णुपुराण' में इस कथा का उल्लेख है कि दशरथ ने निःसन्तान रोमपाद को शान्ता नाम की कन्या दी—
'उत्तररामचरित' में इसी कथा को स्वीकार किया गया है।

(२) वैदेशिकः=विदेशे भव इति, विदेश+ठञ्।
व्यजीजनत्=वि+√जन+णिच्+चङ् लुङ् तिप्।
कृतिका=कृत+कन्+टाप्।
द्वादशवार्षिकः=द्वादशवर्षाणि भविष्यतीति। द्वादशवर्ष+ठक्,
["तमधीष्टो भृतो भूतो भावी" इति ठीक्। "वर्षस्याभविष्यति" इत्युत्तरपदवृद्धिः।]
कठोरगर्भाम्=कठोरः पूर्णो गर्भो यस्यास्तथोक्ताम् ॥४॥

—०—

सूत्रधारः—तत्किमनेन ? एहि, राजद्वारमेव स्वजातिसमयेनोपतिष्ठावः।

नटः—तेन हि निरूपयतु राज्ञः सुपरिशुद्धामुपस्थानस्तोत्रपद्धतिं भावः।

सूत्रधार—मारिष !

सर्वथा व्यवहर्तव्यं, कुतो ह्यवचनीयता।
यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः ॥५॥

अन्वय :—सर्वथा व्यवहर्तव्यम्, अवचनीयता कुतः ? हिं जनः, यथा, स्त्रीणां, तथा, वाचां, साधुत्वे, दुर्जनः ॥५॥

हिन्दी—

सूत्रधार—(हमें) इससे क्या प्रयोजन ? आओ, अपनी जाति के स्वभावानुसार हम राज-दरबार में ही उपस्थित होते हैं।

नट—यदि ऐसा है तो आप महाराज के उपस्थान (स्तुति) के योग्य निर्दोष प्रशस्ति का विचार कर लें।

[श्लोक—५] सर्वात्मना व्यवहार (स्तुति) करते रहना चाहिये। दोष-राहित्य की सम्भावना कैसे की जा सकती है ? क्योंकि दुर्जन जैसे स्त्रियों के चरित्र के विषय में शङ्का करता है, वैसे ही निर्दोष वाली के विषय में भी दोष निकालने की चेष्टा करता है। (अतः दुष्टों के द्वारा उद्भावित किये जाने वाले दोषों के भय से व्यवहार का परित्याग नहीं करना चाहिए) ॥५॥

संस्कृत-व्याख्या

तत्किमिति । एतत्कथनमस्माकं कृतेऽनावश्यकमेव । ततो नटानां जातिस्वभावेनावामपि राजद्वारमेव गमिष्यावः इति सूत्रधारस्याशयः ।

मारिष इति । 'मारिष' इति सूत्रधारो नटं प्रति सम्बुद्धिपदं कथयति 'आर्य' इति चास्यार्थः । "आर्यस्तु मारिषः" इत्यमरः । सूत्रधारः स्व पारिपार्श्विकं=सहचरं नटमित्यर्थः, 'मारिषेति, वदेदिति नाट्यशास्त्रस्य नियमः ।

'सूत्रधारो मारिषति नियमोक्तेः ।'

सुपरिशुद्धां स्तोत्रपद्धतिं निरूपयितुं दुःशकरमिति वदति सूत्रधारः—सर्वथा इति ।

सर्वथा व्यवहर्तव्यमेव । यादृक् स्तोत्रं भवेत् तादृगुच्चारयेदित्येवोचितम् । अवचनीयता=दोषराहित्यं तु कुतः सम्भाव्यते ? बुद्धिमतोऽपि वाक्ये दोषसम्भावना भवत्येव । यतो जनो (प्राकृतो मूर्खः) यथा स्त्रीणां साधुत्वे दुर्जनो भवति =संशयं करोति, तथैव वाचां=वाणीनां विषयेऽपि । तस्माद् दुर्जनकृतदोषाशङ्कया व्यवहारो नैव परित्यक्तव्यो वाचां व्यवहारः । इति भावः ।

अत्र काव्यलिङ्गालङ्कार उपमाचेति तयोः संसृष्टिः । काव्यलिङ्गस्य लक्षणं च यथा—"हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिंगं निगद्यते, इति ।

उपमालक्षणञ्च यथा—"साम्यं वाचमवैधर्म्यं वाक्यैक्ये उपमा द्वयोः" (द्वयोः =उपमानोपमेययोः) ।

संसृष्टि-लक्षणञ्च यथा—"मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते ।" इति 'तिलतण्डुल' न्यायेन परस्परमनपेक्षितालङ्काराणां द्वयोर्वा सन्निधाने संसृष्टिर्भवति ।

अत्र मुखसन्धेः 'समाधान'—नामकमङ्गं प्रदर्शितं कविना । 'आरम्भ' 'बीजयो' रत्र सहावस्थानात् । 'समाधानस्य' लक्षणं तु यथा साहित्यदर्पणे—

"बीजस्यागमनं यत्तु तत्समाधानमुच्यते ।" इति ।

नाटकेष्ववश्यं प्रयोजनीयाः सन्धयः पञ्च भवन्ति । 'मुख'-'प्रतिमुख'-'गर्भ-विमर्श'-'उपसंहार'-भेदात् । लक्षणानि च क्रमशः उच्यन्ते ।

मुखसन्धिर्यथा—

'यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा ।
प्रारम्भेण समायुक्ता, तन्मुखं परिकीर्तितम् ॥"

प्रतिमुखसन्धिर्यथा—

"फलप्रधानोपायस्य, मुखसन्धिनिवेशिनः ।
लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखञ्च तत् ॥"

गर्भसन्धिर्यथा—

"फलप्रधानोपायस्य, प्रागुद्भिन्नस्य किञ्चन ।
गर्भो यत्र समुद्भेदो, ह्रासान्वेक्षणवान्मुहुः ॥"

विमर्शसन्धिर्यथा—

"यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः ।
शापाद्यैः सान्तरायश्च, स विमर्ष इति स्मृतः ॥"

उपसंहार (निर्वहण) सन्धिर्यथा—

"बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ।
एकार्थमुपनीयन्ते यत्र, निर्वहणं हि तद् ॥"

बीजलक्षणञ्च यथा—

"अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद् विसर्पति ।
फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजं तदभिधीयते ॥" इति ॥

एतेषां चतुःषष्टि भेदा भवन्ति । ते च नाटकादौ यथास्थानं प्रयुज्यन्ते महाकविभिरिति भावः ।

नाटकादौ—आरम्भः, यत्नः प्राप्त्याशा, नियताप्तिः, फलागमः—एताः कार्यस्य पञ्चावस्था वर्णनीया भवन्ति । ताश्च क्रमशः पञ्च सन्धिषु सन्निवेश्यन्ते । ततश्च—'आरम्भो'—'मुख'—सन्धौ, 'यत्नः'—'प्रतिमुख'—सन्धौ, 'प्राप्त्याशा'—गर्भसन्धौ' 'नियताप्तिः'–विमर्ष–सन्धौ, 'फलागमः'–'उपसंहारसन्धौ'–इत्येवं वर्णनीया भवन्ति' । अत्र च—वन्दनीयचरितायाः सीतादेव्याश्चरितविषये दुर्जनाः सशङ्काः सन्तीति 'चित्र-दर्शन'—प्रसङ्गोऽवतारितः । स एव 'सीतापरित्याग'स्य आरम्भः, बीजञ्च' इति कृत्वा 'समाधान' नामकमङ्ग वर्णितमिति हृदयम् ॥५॥

टिप्पणी

(१) स्वजातिसमयेन—'स्वजात्याञ्चारणजात्याः समयेन राजस्तुतिरूपेणाचारेण ।' अपनी जाति के द्वारा स्वीकृत स्तुतिरूप व्यवहार से । 'समयाः शपथाचार-कालसिद्धान्तसंविदः ।" इत्यमरः ।

(२) मारिषः—सूत्रधार नट को 'मारिष' कहता है । 'आर्यस्तु मारिषः ।" "मा न रेषति=सभ्यानुद्वेजयतीति व्युत्पत्या 'मारिष' शब्दः ।"

(३) 'सर्वथा व्यवहर्तव्यं' के स्थान पर "व्यवहर्तव्ये" पाठ भी मिलता है । जिसका अर्थ होगा—"सर्वथा करणीय कार्य में ।"

(४) "यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः" कहकर कवि ने सीता-विषयक-अपवाप की अवतारणा की है । यहाँ बीज नामक अर्थप्रकृति का समाधान' नामक अङ्ग अवतारित किया गया है—

(५) 'वाचां साधुत्वे···" आदि कहकर कवि ने 'मालतीमाधव' तक पाठकों के द्वारा अपनी उपेक्षा किये जाने पर कदाचित् आक्रोश व्यक्त किया है ॥५॥

(६) काव्यलिङ्ग तथा उपमा की संसृष्टि ।

नट :—अतिदुर्जन इति वक्तव्यम् ।
देव्या अपि हि वैदेह्याः सापवादो यतो जनः ।
रक्षोगृहस्थितिर्मूलमग्निशुद्धौ त्वनिश्चयः ॥६॥

अन्वयः—यतो, देव्याः, वैदेह्याः अपि, जनः साऽपवादः । रक्षोगृहस्थितिः, मूलम्, अग्निशुद्धौ, तु, अनिश्चयः ।

हिन्दी—

नट—उसे तो 'अत्यन्त दुर्जन कहना' चाहिये । क्योंकि—

[श्लोक ६,] (परम पवित्र) श्री सीतादेवी के विषय में भी लोक सापवाद है। इस (अपवाद) का मूल कारण राक्षस (रावण) के घर में निवास है। (लोगों का) 'अग्नि-शुद्धि' में विश्वास (ही) नहीं है ॥६॥

संस्कृत-व्याख्या

दुर्जनः स्त्रीणां साधुतायां संशयानो भवतीति सूत्रधार-वाक्ये किमप्याधिक्यं वर्धयितुं नटः प्राह—अति इति । 'अति दुर्जनो भवतीति भवता वक्तव्यम् । दुर्जनानामयं स्वभावः तेऽपरेषां दोषदर्शनेनातितमां प्रसीदन्ति । इदानीमेते दुर्जना भगवत्याः सीतादेव्या विषयेऽपि निन्दितां चर्चां कुर्वन्तीत्याशयेनाह—देव्या इति ।

यतः=यस्मात्कारणात्, जनः परमपवित्रचरित्राया अपि श्री सीतादेव्या विषये सापवादः=अपवादेन=निन्दया सहितः तस्या अपि निन्दां करोति, अन्यस्यास्तु कथैव का ? तत्रापवादे रक्षसः=रावणस्य गृहे स्थितिरेव मूलमस्ति, अग्नि शुद्धौ च निश्चय एव नास्ति । [अत्र 'जनः' इत्येकवचनेनाद्यावधि त्वेक एव रजकादिरेवं कथयति, सोऽपि जनः =प्राकृतः=मूर्खः परमन्येऽपि कदाचिदेवं कथयेयुरिति सम्भाव्यते इति भावः ।

अत्र, 'अतिदुर्जन' इति कथनं प्रति 'देव्या अपि' इति 'वैदेह्या' इति च विशेषरूपेण, हेतुभूतं भवति । भगवती सीता 'देवी' दिव्यगुणैरुपेता न तु काचित् साधारणा नारी । विदेहस्य, जनकानां कुलमूर्धन्यस्य राजर्षेर्विदेहस्य पुत्री । यो जनकः स्वदेहसम्बन्धमपि प्रायो नानुभवति, तस्य सुतापि 'अयोनिजा, वर्तते, परं दुर्जनो जनो नास्या अपि विश्वासं करोति । अपि च—रावणवधानन्तरं वन्हौ सर्वसमक्षं विशुद्धा भगवती तथापि वक्तुर्मुखे को वा करमर्पयेत् ? अयं संसारस्य विचित्रः स्वभाव इति तत्वम् ।

अत्र सीता परित्यागस्य "सर्वथा ऋषयो देवताश्च श्रेयो विधास्यन्ति" इति वक्ष्यमाणतया मुखसन्धेरङ्गस्य 'उपक्षेपस्य' वर्णनं क्रियते । तल्लक्षणञ्च यथा —

"काव्यार्थस्य समुत्पत्ति 'रुपक्षेप' इति स्मृतः ।" इति ।

अत्र दोषाभावेऽपि दोष-कथनाद् 'विभावना अलंकारः । अग्निशुद्धावपि तदनिश्चयाद् 'विशेषोक्तिः' इत्यनयोः संसृष्टिः ।

विभावना—लक्षणं यथा—

"विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते ।" इति ।

विशेषोक्ति—लक्षणञ्च यथा—

"सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिर्निगद्यते ।" इति ।

'अतिदुर्जनं' इत्यस्य साधकत्वेनास्य श्लोकस्योक्तौ काव्यलिङ्गालङ्कारोऽपि ॥६॥

टिप्पणी

(१) यहां 'सीता-अपवाद' के सम्बन्ध में 'सर्वथा ऋषयो देवताश्च श्रेयो विधास्यन्ति" इस 'मुखसन्धि' के 'उपक्षेप' नामक अङ्ग का वर्णन किया गया है। उपक्षेप का लक्षण है—'काव्यार्थस्य समुत्पत्तिरुपक्षेप' इति स्मृतः ।"

(२) विभावना और विशेषोक्ति अलंकारों की संसृष्टि ।

(३) श्री सीता जी की 'अग्नि-परीक्षा' के सम्बन्ध में बाल्मीकि रामायण की निम्नलिखित पंक्तियां द्रष्टव्य हैः—

"चितां मे कुरु सौमित्रे ! व्यसनस्यास्य भेषजम् ।
मिथ्यापवादोपहता नाहं जीवितुमुत्सहे ॥
अधोमुखं स्थितं रामं ततः कृत्वा प्रदक्षिणम् ।
उपावर्तत वैदेही दीप्यमानं हुताशनम् ।
"यथा मां शुद्धचारित्रां दुष्टां जानाति राघवः ।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः ॥"
एवमुक्त्वा तु वैदेही परिक्रम्य हुताशनम् ।
विवेश ज्वलनं दीप्तं निःशंकेनान्तरात्मना ॥
विधूयाथ चितां तां तु वैदेहीं हव्यवाहनः ।
उत्तस्थौ मूर्तिमानाशु गृहीत्वा जनकात्मजाम् ॥
अब्रवीत्तु तदा रामं साक्षी लोकस्य पावकः ॥
एषा ते राम ! वैदेही पापमस्यां न विद्यते ॥" ॥६॥

सूत्रधार :—यदि पुनरियं किंवदन्ती महाराजप्रति स्यन्देत ततः कष्टं स्यात् ।

नट :—सर्वथा ऋषयो देवताश्च श्रेयो विधास्यन्ति । (परिक्रम्य) भो भोः, क्वेदानीं महाराजः ? (आकर्ण्य) एवं जनाः कथयन्ति—

स्नेहात्सभाजयितुमेत्य दिनान्यमूनि,
नीत्वोत्सवेन जनकोऽद्य गतो विदेहान् ।
देव्यास्ततो विमनसः परिसान्त्वनाय,
धर्मासनाद्विशति वासगृहं नरेन्द्रः ॥७॥

(इति निष्क्रान्तौ)

इति प्रस्तावना

अन्वयः—स्नेहात्, सभाजयितुम्, एत्य, अमूनि, दिनानि, उत्सवेन, नीत्वा, जनकः अद्य, विदेहान्, गतः। ततः, विमनसः, देव्याः, परिसान्त्वनाय, नरेन्द्रः, धर्मासनात्, वासगृहं विशति ॥७॥

हिन्दी—

सूत्रधार—यदि यह किंवदन्ती (जन-श्रुति) महाराज के कानों में पड़ जाय तो बड़ा कष्ट (अनर्थ) होगा।

नट—सब प्रकार से ऋषि (वशिष्ठ-वाल्मीकि आदि) तथा (गंगा-पृथिवी आदि) देवगण कल्याण करेंगे। घूमकर महानुभावो! इस समय महाराज कहां हैं? (सुनकर) लोग (नागरिक) यह कहते हैं कि—

[श्लोक ७]—राज्याभिषेकोत्सव में स्नेहपूर्वक स्वागत करने के लिए आए हुए जनक आज इतने दिन व्यतीत कर अपने विदेह-नगर को लौट गये हैं। (पिताजी के जाने से) दुःखी सीता को सान्त्वना देने के लिये महाराज न्यायासन से उठकर अन्तःपुर में प्रविष्ट हो रहे हैं (जा रहे हैं) ॥७॥

संस्कृत-व्याख्या

नट—मुखादिदं श्रुत्वा सखेदमाह—यदि पुनरिति। यदि परमियमनर्थमयी उक्तिः कर्णपरम्परया कथं कथमपि महाराजं श्रीरामं प्रति स्यन्देत=प्रस्रवेत्, प्राप्ता भवेत्, ततः परमकष्टं समुपस्थितं भवेद्। महाराज इदं श्रुत्वा कष्टमनुभविष्यति।

सर्वथा इति। सर्वथा ऋषयः (वशिष्ठवाल्मीकि-प्रमुखाः), देवताः (गंगा-पृथिव्यादयश्च) श्रेयः=कल्याणं विधास्यन्ति। लोकस्य गतिनिरोधस्तु कथमपि केनापि कर्त्तुं न शक्यते। परमस्मिन्नर्थे कल्याणं भविष्यत्येवेति निश्चयः। महाराजः कुत्रास्ति? इति जिज्ञासते। लोकानामुत्तरमनुवदन्नाह—स्नेहादिति ॥७॥

स्नेहपरवशो राजर्षिर्जनको राज्याभिषेकमहोत्सवे सभाजयितुं=सम्मानयितुं समागतः, अमूनि=एतावन्ति दिनानि समुत्सवपूर्वकं व्यतीत्याद्य पुनर्विदेहान् (स्वदेशं) प्रति निवृत्तः। तद् एव पितुर्गमनात् भगवती सीतादेवी विमनायमाना सञ्जाता, खिन्नां तां परिसान्त्वयितुं नरेन्द्रो=महाराजो धर्मासनं परित्यज्य [राज्यकार्य-निरीक्षणार्थं राजानो यस्मिन्नासने तिष्ठन्ति, तद् धर्मासनमित्युच्यते।] स्ववासभवनं एव प्रविशति। गुरुजनाभावादिदानीं कोऽन्यः परिसान्त्वयिष्यति देवी-मिति परमावश्यकमपि राज्य-कार्यं परित्यज्य महाराजो मध्येभवनं प्रविष्ट इति भावः।

अत्र स्वभावस्य कथनात् स्वभावोक्तिरलङ्कारः तल्लक्षणं च यथा—

"स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम्" इति।

वसन्ततिलकाच्छन्दः। तल्लक्षणञ्च यथा—

"उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।,, इति ॥ ७ ॥

इत्येवमुक्त्वा तौ द्वावपि रङ्गशालातो निष्क्रान्तावित्याशयेनाह—(इति निष्क्रान्तौ) इति।

इति प्रस्तावनेति । वर्णनीयो विषयो यत्र संक्षिप्तरूपेणोपन्यस्यते, सा प्रस्तावना, 'आमुखं' वेति नाटकीयभाषायामुच्यते । यथा चोक्तं साहित्यदर्पणे—

"नटी विदूषको वापि, पारिपार्श्विक एव वा ।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।
'आमुखं' तत्तु विज्ञेयं नाम्ना 'प्रस्तावना' पि सा ॥"

सा च प्रस्तावना पञ्चप्रकारा भवति । तथाहि—

"उद्घात्यकः, कथोद्घातः, प्रयोगातिशयस्तथा ।
प्रवर्तकावलगिते, पञ्च प्रस्तावनाभिदाः ॥" इति ॥

अत्र कतमा प्रस्तावना ? इति विषये विदुषां विसंवादाः सन्ति । तत्र केचित् 'प्रयोगातिशय'—रूपा प्रस्तावनेति कथयन्ति । तल्लक्षणं च यथा—

"यदि प्रयोगे एकस्मिन् प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते ।
तेन पात्र-प्रवेशश्चेत् प्रयोगातिशयस्तदा ॥" इति ॥

तेषां कथनस्यायमाशयः—अत्र नट-सूत्रधारयोः संलापविषये राजद्वाररूपे एकस्मिन् प्रयोगे श्रीरामस्य सीतानुरञ्जनार्थं भवन-प्रवेशरूपोऽन्यः प्रयोगः प्रयुक्तः, अतोऽत्र 'प्रयोगातिशयः' इति ।

अन्ये पुनरत्र प्रत्यवतिष्ठन्ते (विरोधमुपस्थापयन्ति । तेषामभिप्रायः—अत्र प्रयोगस्यान्यता न प्रतीयते । यत्रासाधारणो भेदः स्यात्तत्रैवान्यता, अतश्चात्र—'अवलगिता' ख्या प्रस्तावना । 'अवलगित'—लक्षणञ्च यथा—

यत्रैकत्रसमावेशात् कार्यमन्यत् प्रसाध्यते ।
प्रस्तुतेऽन्यत्र वाऽन्यत्स्यात् तच्चावलगितं द्विधा ॥" इति ॥

धनिकेनापि 'दशरूपक'-व्याख्ययामयमेव सिद्धान्तः स्वीकृतः ।

नवीनाः पुनर्नवीनमेव मतं परिस्थापयन्ति । तेषामेषा प्रतिपादन-पद्धतिः—अत्र 'प्रवर्तका' ख्या प्रस्तावना । तल्लक्षणञ्च यथा—

"कालं प्रवृत्तमाश्रित्य सूत्रधृग्यत्र वर्णयेत् ।
तदाश्रयश्च पात्रस्य प्रवेशस्तत् 'प्रवर्तकम्' ॥" इति ॥

अत्र सूत्रधारस्य कथनमेव प्रधानमिति तद्वर्णनानुसारमेव पात्रस्य प्रवेशो भवतीति ।

वस्तुतस्तु—अस्माकं मतेत्वत्र प्रयोगातिशय एव । कार्यस्यान्यता—प्रत्यये तु स्वकीयं हृदयमेव प्रष्टव्यम् । शेषं तु विज्ञैः स्वयं विवेचनीयम् ।

['नरेन्द्रः' इति पदं विशेषतां कवेरभिव्यञ्जयति । महाराजो नरेणापि सह प्रेम करोति । नराणामेवेन्द्रः ! नरस्य कथनमेव सीता परित्यागे हेतुः । लोकानुरञ्जन-व्रतत्वं चाग्रे स्फुटीभविष्यति ।]

इति प्रस्तावना ।

टिप्पणी

(१) 'सर्वथा ऋषयो देवताश्च श्रेयो विधास्यन्ति" कहकर कवि वशिष्ठ-वाल्मीकि, गंगा-पृथिवी आदि के द्वारा दिये जाने वाले कथासूत्र के योगदान की ओर संकेत करता है। साथ ही वह नाटक की 'सुखान्तता' की ओर भी संकेत करता है।

(२) श्लोक में स्वभावोक्ति अलङ्कार और वसन्ततिलका छन्द है।

(३) 'धर्मासनात्' और 'नरेन्द्रः' शब्द राम के चरित्र पर प्रकाश डालते हैं। राम राज-धर्म का दृढ़ता से पालन करने वाले हैं। वह पहले 'नरेन्द्र' हैं; पति आदि बाद में। आगामी घटना-चक्र का बहुत-कुछ अनुमान इसी शब्द से हो जाता है।

(४) प्रस्तावना पाँच प्रकार की होती है—(१) उद्घात्यक (२) कथोद्-घात (३) प्रयोगातिशय (४) प्रवर्तक (५) अवलगित। प्रस्तावना का लक्षण संस्कृत टीका में देखिए। [प्रस्तावना=प्र+√स्तु+णिच्+युच्+टाप्]।

उत्तररामचरित की प्रस्तावना के विषय में विद्वानों में मतभेद है कुछ 'प्रयोगातिशय' मानते हैं, कुछ 'अवलगित' और कुछ 'प्रवर्तक'। वास्तव में तो यहाँ 'प्रयोगातिशय' भेद ही मानना उचित होगा। क्योंकि नट-सूत्रधार के वार्तालाप में राजदरबार के एक प्रयोग में भवन-प्रवेश रूपी दूसरा प्रयोग प्रयुक्त किया गया है। 'प्रयोगातिशय' का लक्षण भी यही है—

"यदि प्रयोगे एकस्मिन् प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते।
तेन पात्र—प्रवेशश्चेत् प्रयोगातिशयस्तदा ॥"

(५) (आकर्ण्य) यह 'आकाशभाषित' है। जहां पात्र बिना किसी दूसरे पात्र के आकाश की ओर देखकर वार्तालाप करे, उसे 'आकाशभाषित' कहते हैं। उसका लक्षण है—

"किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत्।
श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत् स्यादाकाशभाषितम् ॥"

(ततः प्रविशत्युपविष्टो रामः सीता च)

रामः—देवि ! वैदेहि ! विश्वसिहि, ते हि गुरवो न शक्नुवन्ति विहातुमस्मान्।

किन्त्वनुष्ठाननित्यत्वं स्वातन्त्र्यमपकर्षति।
संकटा ह्याहिताग्नीनां प्रत्यवायैर्गृहस्थता ॥८॥

अन्वय:—किन्तु, अनुष्ठाननित्यत्वम्, स्वातन्त्र्यमपकर्षति, हि, अहिताग्नीनाम् गृहस्थता, प्रत्यवायैः, सङ्कटा ॥८॥

हिन्दी—

[तदनन्तर बैठे हुए राम और सीता प्रवेश करते हैं।]

राम—देवि सीते ! विश्वास रखो, वे गुरुजन (जनक जी) इनको छोड़ नहीं सकते।

श्लोक ८—परन्तु अनुष्ठान का नित्यरूप से पालन करना स्वतन्त्रता में विघ्न उत्पन्न कर देता है। क्योंकि अग्निहोत्रियों की गृहस्थता अनेक विघ्नों से सङ्कटापन्न होती है। [अर्थात्—विधि-लोप होने के भय से अग्निहोत्री चाहे जहां रुकने में स्वतन्त्र नहीं होते। उनका गृहस्थ में रहना संकटमय ही है। यही कारण है कि पूज्य गुरुजनों को न चाहने पर भी जाना पड़ा है।] ॥८॥

संस्कृत-व्याख्या

श्री सीतां समाश्वासयन्नाह भगवान् रामः—देवि ! इति। विश्वासं कुरु, देवि सीते ! ते गुरवः श्रीपितृपादाः (जनकमहोदयाः) अस्मान्=त्वां माञ्च विहातुं नैव शक्नुवन्ति, तेऽस्मान् परित्यक्तुं नैव वाञ्छन्ति, तथापि किमिति गताः ? इत्यत्र कारणमस्ति। किं तदिति निर्दिशति—किन्तु इति।

किन्तु, अनुष्ठानस्य नित्यत्वं=प्रतिदिनं सन्ध्यावन्दनाग्निहोत्रादि कर्मविधानं स्वतन्त्रतां दूरीकरोति। यो हि प्रतिदिनं नित्यविधिं करोति, स यत्रकुत्रापि स्वतन्त्रया स्थातुं नैव शक्नोति, विधिलोपभयात्। नित्यस्य कर्मणोऽकरणे प्रत्यवायः (पापम्) भवति। अतएव प्रत्यवायैः=विघ्नैः पापादिभिर्वा हेतुभूतैः, आहिताग्नीनां=स्वीकृताग्निहोत्रकर्मणां गृहस्थता संकटग्रस्ता भवति। [आहिताग्नयस्ते भवन्ति ये विवाह-समयात् प्रतिदिनं सायं-प्रातस्तस्मिनेवाग्नौ (वैवाहिकेऽग्नौ) हवनं कर्तुं व्रतं स्वीकुर्वन्ति। यावज्जीवं तथैव कुर्वन्ति नियम-पालनम्। मृत्यौ च तेनैवाग्निना तेषां दाहसंस्कारो भवति।] ते च यत्र-कुत्रापि स्वच्छन्दतया स्थितिं नैव कर्तुं शक्नुवन्ति। इत्येतदस्ति तेषां गमने विशिष्टं कारणमिति भावः।

अत्र पूर्वार्धगतमर्थं सहेतुकं कर्तुं पदार्थहेतुकः काव्यलिङ्गालङ्कारः। तस्यैवार्थस्य समर्थनादर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारश्चेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावसंकरः।

अर्थान्तरन्यासस्य लक्षणं यथा—

"सामान्यं वा विशेषेण, विशेषस्तेन वा यदि।
कार्यञ्च कारणेनेदं, कार्येण च समर्थ्यते॥
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः।" इति॥

संकरश्च नीर-क्षीर-न्यायेनैकत्र द्वयोर्बहूनां वाऽलंकाराणां प्रयोगे भवति। स च त्रिविधः—अङ्गाङ्गिभावेन, सन्देहतया, एकाश्रयानुप्रवेशेनेति चेति।

अनुष्टुप्छन्दः। गौड़ी रीतिः। माधुर्यं गुणः। केषाञ्चित् मते ओज—इति ॥८॥

टिप्पणी

(१) आहिताग्नीनाम्=आहिताः=आधानसंस्कारेण स्थापिताः, अग्नयः=दक्षिणाग्निगार्हपत्याहवनीयाख्याः, यैस्ते आहिताग्नयस्तेषाम्। स्वीकृताग्निहोत्रकर्मणामिति यावत्। अग्निहोत्रव्रत स्वीकार करने वालों की। आहिताग्नि वे व्यक्ति होते हैं

जो विवाह के समय, प्रतिदिन सायं-प्रातः उसी वैवाहिक अग्नि में हवन करने का व्रत स्वीकार करते हैं और जीवन-पर्यन्त इस व्रत का पालन करते हैं। मृत्यु के अनन्तर उनका दाह-संस्कार भी उसी अग्नि से होता है। उनके लिए चिरकाल तक बिना किसी अनिवार्य कारण के बाहर रहने का निषेध है—

"निक्षिप्याग्निं स्वदारेषु परिकल्प्यार्त्विजं तथा।
प्रवसेत् कार्यवान् विप्रो, वृथैव न चिरं वसेत्॥"

इसीलिये जनक जी बहुत दिन तक अयोध्या में नहीं रह सकते थे। अनुष्ठान उनके लिये 'नित्यकर्म' था। 'नित्यकर्म' उन्हें कहते हैं जिनके करने से कोई विशेष लाभ नहीं होता परन्तु न करने से हानि होती है। कर्म तीन प्रकार के होते हैं—नित्य, नैमित्तिक, काम्य।

आहितः=आङ्+√धा+क्त। स्वातन्त्र्यम्:=स्वम् आत्मा तन्त्रं यस्य स स्वतन्त्रस्तस्य भावः। स्वतन्त्र+ष्यञ्। प्रत्यवायः=प्रति+अव+√अय+घञ्।

(३) काव्यलिङ्ग—अर्थान्तरन्यास का अङ्गाङ्गिभावसंकर। अनुष्टुप् छन्द। गौडी रीति। माधुर्य गुण॥८॥

सीता—जाणामि अज्जउत्त ! जाणामि। किंदु संदावआरिणो बन्धुजणविप्पओआ होन्ति। [जानामि आर्यपुत्र ! जानामि, किन्तु सन्तापकारिणो बन्धुजनविप्रयोगा भवन्ति।]

रामः—एवमेतत्। एते हि हृदयमर्मच्छिदः संसारभावाः। येभ्यो वीभत्समानाः संत्यज्य सर्वान्कामानरण्ये विश्राम्यन्ति मनीषिणः।

(प्रविश्य)

कञ्चुकी—रामभद्र ! (इत्यर्धोक्ते शशंकम्) महाराज !

रामः—(सस्मितम्) आर्य ! ननु रामभद्र ! इत्येव मां प्रत्युपचारः शोभते तातपरिजनस्य, तद्यथाभ्यस्तमभिधीयताम्।

कञ्चुकी—देव ! ऋष्यशृङ्गाश्रमादष्टावक्रः संप्राप्तः।

सीता—अज्ज ! तदो किं विलम्बीअदि। (आर्य ! ततः किं विलम्ब्यते)।

रामः—त्वरितं प्रवेशय।

(कञ्चुकी निष्क्रान्तः। प्रविश्य—)

अष्टावक्रः—स्वस्ति वाम्।

रामः—भगवन् ! अभिवादये, इत आस्यताम्।

सीता—भअवं, णमो दे। अवि कुसलं सजामातुअस्स गुरुअणस्स अज्जाए सन्ताए अ? [भगवन्, नमस्ते। अपि कुशलं सजामातृकस्य गुरुजनस्यार्याया: शान्तायाश्च ?]

राम:—निर्विघ्न: सोमपीथी भावुको मे भगवानृष्यश्रृङ्ग:, आर्या च शान्ता?

सीता—अम्हे वि सुमरेदि? [अस्मानपि स्मरति?]

अष्टावक्र:—(उपविश्य) अथ किम्। देवि, कुलगुरुर्भगवान् वसिष्ठस्त्वामिदमाह—

हिन्दी—

सीता—आर्यपुत्र! मैं यह सब जानती हूं, परन्तु बन्धुजनों के वियोग सन्तापकारी हुआ (ही) करते हैं। (यह संसार का स्वभाव है, इसीलिये मेरा चित्त दुःखी हो रहा है।)

राम—ऐसा ही है, ये हृदय के मर्म-स्थलों को विदीर्ण कर देने वाले सांसारिक बन्धन हैं जिनसे घृणा करते हुए विज्ञ जन सम्पूर्ण कामनाओं का परित्याग कर वनों में विश्राम करते हैं। ['इच्छा' ही दुःखों का मूल है। इसको परित्याग कर ही तत्ववेत्ता मनुष्य सब कुछ सांसारिक झगड़े छोड़कर एकान्त शान्त जीवन व्यतीत करते हैं।]

(प्रवेश कर)

कञ्चुकी—रामभद्र…… ! (इतना कहने पर ही बीच में शङ्कित होकर) महाराज!—

राम—(मुस्कराहट के साथ) आर्य! पूज्य पिताजी के सेवक (वयोवृद्ध) आपका मेरे लिये 'रामभद्र' यह सम्बोधन करना ही अच्छा लगता है ('महाराज' कहना नहीं।) अतः अभ्यस्त ('रामभद्र') ही कहिए।

कञ्चुकी—महाराज! ऋष्यश्रृङ्ग जी के आश्रम से अष्टावक्र जी पधारे हैं।

सीता—आर्य! तब किसलिए (उनको यहाँ लाने में) विलम्ब किया जा रहा है।

राम—उनको अविलम्ब प्रविष्ट कराओ।

['कञ्चुकी' चला जाता है। प्रवेशकर]

अष्टावक्र—आप दोनों का कल्याण हो।

राम—भगवन्! प्रणाम करता हूं। इधर पधारिये।

सीता—भगवन्! नमस्ते! जामाता ('ऋष्यश्रृङ्ग') के सहित (कौशल्या आदि) गुरुजन तथा शान्ता देवी कुशल से तो हैं?

राम—सोमरस पीने वाले मेरे जीजा भगवान् 'ऋष्यश्रृङ्ग' तथा आर्या शान्ता सानन्द तो हैं ?

सीता क्या (कभी-कभी) हमारा भी स्मरण करते हैं ?

अष्टावक्र—(बैठकर) जी हां, देवि ! (इक्ष्वाकु—) वंश के गुरु भगवान् वशिष्ठ ने तुम्हारे लिए यह सन्देश भेजा है कि—

संस्कृत-व्याख्या

श्रीरामभद्रस्य कथनं समर्थयमाना सीतादेवी कथयति—जाणामीति। आर्यपुत्रेति धर्मपत्नी स्वपतिं सम्बोधयति नाटकीयभाषायामेष नियमः। आर्यस्य=श्वसुरस्य पुत्रस्तत्सम्बुद्धौ हे आर्यपुत्र ! इति। अहं सर्वं जानामि, किन्तु बन्धुजनानां वियोगा असह्यत्वात् सन्तापकारिणो भवन्ति। अयं संसारस्य स्वभाव एवेदृशो यद् बन्धुजनस्य वियोगो ज्ञानिनोऽपि प्राज्ञस्यापि दुःखप्रदो भवत्येवेति ममापि मनः खेदमनुभवतीति भावः।

सीतादेव्या वचनं यथार्थमिति भगवान् रामस्तस्य समर्थनं कुर्वन्नाह—एवमेतदिति। देवि ! भवती यथा वदति, तत्सर्वथा सत्यमेव। एते संसारस्य भावाः=पदार्था एवं विधाः कष्टप्रदा भवन्ति, अतएव एभ्यो बीभत्सां=घृणामिव स्वीकुर्वन्तो मनीषिणो विज्ञजनाः, सर्वा अपि कामनाः परित्यज्यारण्येषु गत्वा विश्रामं लभन्ते। संसारे विश्रामो मनागपि नास्ति, यद्यस्ति तर्हि कथं कथमपि वनेष्वेव, यदि कामनापरित्यागं कृत्वा निवासः क्रियेत। वस्तुतस्तु कामनैव दुःखस्य मूलम्। कामनां विना संसारेऽपि न दुःखम्, तथा चारण्येऽपि न सुखमिति भावः।

कञ्चुकी—इति। अन्तःपुरचारी वृद्धः प्रविशति। कञ्चुकि-लक्षणञ्च—

'अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः।
सर्वकार्यार्थकुशलः, कञ्चुकीत्यभिधीयते॥
जरा-वैक्लव्ययुक्तेन विशेद् गात्रेण कञ्चुकी॥" इति।

प्रागभ्यासानुसारं 'रामभद्र' इत्येवं, (पुनः स्मृत्वा) महाराज ! इति भाषमाणं तं श्री महाराजः सस्मितम्=स्मितहास्यं कृत्वा वदति। स्मितञ्च—"ईषद्विकासिनयन स्मितं स्यात् स्पन्दिताधरम्" इति लक्षणलक्षितं भवति।

आर्येति। आर्य, कञ्चुकिन् ! ननु तात-परिजनस्य=पितृचरणसेवकस्य भवतो मां प्रति रामभद्रेति चिराभ्यस्तमुपचारपदमेव शोभते, ततो यथा भवतोक्तं तदुचितमेवेति न शंकनीयमिति भावः। अत्र रामस्यौदार्यं प्रशंसनीयमेव। महाराजः सन्नप्येवं भृत्यान्निर्भयान् करोति।

कञ्चुकी श्रीरामं प्रति सविनयं निवेदयति—देवेति। महाराज ! ऋष्यश्रृङ्गस्य ऋषेराश्रमात् महात्मा अष्टावक्रः समायातः। अष्टसु स्थानेषु वक्रत्वादयमष्टावक्र इत्युच्यते।

('कहोड' नामा कश्चिद् ऋषिः सर्वां रात्रिमधीते स्म। स्वगुरोरुद्दालकस्य तनयां 'सुजाता'ञ्च विवाहितवान्। एकदा पूर्णगर्भायास्तस्या गर्भः स्वपितरमध्ययन-निरतं कथितवान्--'पितः ! इदमनुचितं यद्भवान् सर्वां रात्रिमधीते"। स च तं गर्भस्थमेव शशाप—यत् त्वमष्टसु अवयवेषु वक्रो भविष्यसि। तच्छापवशादसौ तदेव नाम स्वीचकार।। इयं महाभारतस्य कथाऽत्रानुसन्धातव्या।)

भगवान् श्रीरामः कुशल-प्रश्नानन्तरं तत्रभवतः ऋष्यशृङ्गस्य कुशलं पृच्छति—निर्विघ्न इति। सोमपीथी=सोमलता-पान-कर्ता, भावुको=विचारशीलः, कल्याणधर्मा मम भगिनीपतिः ('आवुत्तो भगिनिपतिः' इत्यमरः) कुशलः ? आर्या च शान्ताऽपि कुशलिनी ? पीथम्=पानमस्यास्तीति पीथी, —सोमस्य पीथी, सोमपीथी। अत्र 'थक्' प्रत्यय औणादिकः "पा–तृ-तु-दिव-चिरि-चिहि-चम्पस्थक्" इति शास्त्रेण भवति। ("सोमपीथी तु सोमपः" इत्यमरः)।

[सीता-रामाभ्यामुत्कण्ठातिशयेन त्रयः प्रश्नाः कृताः। महात्माष्टावक्रश्चा-द्यावधि समुपविष्टोऽपि नाभूदित्यत्रापि कवेर्वैशिष्ट्यम्। मानस-भाव-परीक्षणे सिद्धहस्तः कविस्त्रीन् प्रश्नान् कारयन् सहृदय-समाजे उच्चतरस्थाने तिष्ठति।]

उपविश्य सर्वेषां प्रश्नानामेवोत्तरं ददानोऽष्टावक्रो वाक्य-रचना-शास्त्रपार-दर्शित्वं स्वस्य मितभाषित्वं च प्रकटयति अथ किमिति। आम् यद्भवद्भ्यां कुशल-स्मरणादिप्रश्नः कृतः, स सर्वोऽप्युचितः। स्मरन्ति सर्वे भवन्तौ। कुशलिनश्च सर्वे। सीतां सम्बोध्य विशेषरूपेणाह—देवि ! सूर्यवंशस्य गुरुर्भगवान् वशिष्ठो भवतीमेवं (वक्ष्यमाणं) प्राह— सावधानतया श्रूयताम्।

टिप्पणी

(१) बीभत्समानः=जुगुप्समानः—घृणा करते हुए। √बध् (वैरूप्ये)+ सन्+शानच्। 'येभ्यः' में "जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्" से पञ्चमी।

हृदयमर्मच्छिदः=हृदयस्य मर्माणि छिन्दन्तीति। हृदयमर्मच्छिद्+क्विप्।

मनीषिणः=मनीषा अस्यास्तीति मनीषी, बहुवचने मनीषिणः।

इन पंक्तियों में कवि ने संसार की असारता और उद्वेजकता का बड़ा मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है। संसार दुःखों का घर है। कामनाएं दुःखों का मूल हैं। इन का परित्याग करने पर ही वनों में भी शान्ति मिल सकती है।

(२) कञ्चुकी—शुद्ध चरित्र, अन्तःपुरचारी वृद्ध ब्राह्मण को 'कञ्चुकी' कहते हैं—

"अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः।
सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते॥"

(३) उपचारः—उप+√चर+घञ्=व्यवहार। राम के चरित्र पर इस कथन से बहुत प्रकाश पड़ता है। राज्य पाकर भी वे उन्मत्त नहीं है। पुराने सेवकों के साथ उनका निरभिमान, आदरयुक्त तथा हृदय को लुभाने वाला व्यवहार है।

(४) अष्टावक्रः—(अष्टसु अवयवेषु वक्रः । "अष्टनः संज्ञायामिति" दीर्घः) 'कहोड' नामक ऋषि ने अपने गुरु 'उद्दालक' की कन्या 'सुजाता' से विवाह किया था एक बार शिष्यों के बीच में बैठे हुए 'कहोड' से सूजाता के पूर्ण गर्भ ने कहा— "पिताजी, आप सारी रात पढ़ते हैं, परन्तु वह ठीक-ठीक नहीं होता।" पिता को यह सुनकर बहुत क्रोध आया। उन्होंने उसे शाप दे दिया—'तू अभी से ऐसी टेढ़ी-टेढ़ी बात करता है। जा, आठ अङ्गों से वक्र हो जा।" (यस्मात् कुक्षौ वर्तमानो ब्रवीषि, तस्माद् वक्रो भवितास्यःष्टकृत्वः।) समय पर वह गर्भ 'अष्टावक्र' के रूप में अवतीर्ण हुआ। अष्टावक्र बड़े मेधावी थे। राजा जनक की सभा में शास्त्रार्थ करके उनके 'बन्दी' के द्वारा पराजित अपने पिता को शास्त्रार्थ के द्वारा मुक्त कराने के अनन्तर अपने पिताजी के वरदान-स्वरूप 'समंगा' नदी में स्नान करने से वे सीधे हो गये थे।

(५) सोमपीथी—सोमरस का पान करने वाले। पीथं=पानमस्यास्तीति पीथी, सोमस्य पीथी सोमपीथी।

(६) सीता—राम की उत्कण्ठा तथा अष्टावक्र की गम्भीरता इन संवादों से व्यक्त होती है।

विश्वंभरा भगवतो भवतीमसूत,
राजा प्रजापतिसमो जनकः पिता ते।
तेषां वधूस्त्वमसि नन्दिनि ! पार्थिवानां
येषां कुलेषु सविता च गुरुर्वयं च ॥९॥

अन्वयः—हे नन्दिनि ! भगवती विश्वम्भरा, भवतीमसूत, प्रजापतिसमो, जनकस्ते पिता, त्वं, तेषां, पार्थिवानां, वधूः, असि, येषां, कुलेषु, सविता, गुरुः, वयं च (गुरवः) ॥९॥

हिन्दी—

[श्लोक ९]—विश्व का भरण-पोषण करने वाली भगवती वसुन्धरा ने तुमको उत्पन्न किया है; ब्रह्मा जी के समान राजा जनक तुम्हारे पिता हैं, तथा हे आनन्दमयी सीते ! तुम उन राजाओं की कुलवधू हो, जिनके कुल में भगवान् भास्कर तथा हम गुरु हैं। (मातृ-सम्पत्ति, पितृ-सम्पत्ति तथा गुरु-सम्पत्तिशालिनी तुम्हारे लिए हमारे आशीर्वाद सदैव सफल हों) ॥९॥

संस्कृत-व्याख्या

किन्तदिति निरूपयति—विश्वम्भरेति।

भगवती=सर्वविश्वपरिपालनकर्त्री, अन्नादिदानेन, विश्वपालिका नाम्नैव विश्वम्भरा=पृथिवी देवी, भवतीं सीताम्, असूत=उत्पादितवती। पृथिव्या उपरि

सर्वेऽपि जना मलमूत्रादिकमपि परित्यजन्ति, भारोऽप्यतितमां वृक्ष-पर्वतादीनामस्त्येव, तथापि सर्वंसहा सा भवत्या जननी। एतेन विपत्तिकाले समुपस्थिते भवत्यापि स्व-जनन्या अनुकरणं कृत्वा सर्वेषां वचनानां तज्जन्यदुःखानाञ्च भारः सोढव्य एवेति भावः सूचितः। विपत्ति-काले 'मम माता कीदृशी' इति नूनं विचारणीयमिति तु परमरहस्यम्।

प्रजापति-समः। 'प्रजापति' शब्दे च विशेषतया ध्यानं देयम्। यथा सर्वासां प्रजानां पतिः श्रीब्रह्मा प्रतिदिनं विविधस्वभावां सृष्टिमुत्पाद्यापि न तत्र कुपितो भवति, अपितु पोषणं करोत्येव। एवंविधः प्रजापालनतत्परो जनकस्तव पिताऽस्ति। एवञ्च सति समये पित्रोः स्मरणमेव धैर्यावहं भविष्यति। किञ्च, नन्दिनि! नन्दनं नन्दः=आनन्दः, सोऽस्या अस्तीति, तत्सम्बुद्धौ। आनन्दमयि सीते! त्वं तेषां पार्थिवानां वधूरसि, येषां राज्ञां कुलेषु जगद्भासको भगवान् श्रीसूर्यो गुरुरस्ति। तस्यापि स्मरणं सर्वविघ्ननाशकरम्। न केवलं सूर्य एव गुरुः, अपितु वयमपि गुरवः। सर्वशक्ति-तपःसम्पत्ति-सहनशीलतादिविविधैः सुगुणैर्युक्ता वयमपि येषां राज्ञां गुरवः। ततश्च मातृसम्पत्तिः, पितृसम्पत्तिः, गुरुसम्पत्तिश्चेति सर्वसम्पत्ति-शालिन्यास्तव कृते सर्वाः शुभाशिषः स्वयमेव सम्पन्नाः सन्ति। तत्किमित्यतोऽधिकं तुभ्यमाशीर्वाद- प्रदानं कुर्मः। केवलमिदमेवाशास्यतेऽस्माभिः—यत् वीरप्रसविनी भूयाः। वीरं पुत्रं जनयिष्य-सीति। तव पुत्रवत्या एष संसारः प्रतिष्ठां करिष्यतीति भावः।

पद्यमिदमतितमां कवेरौचित्यं द्योतयति। एतेन वशिष्ठस्य सर्वकाल-प्रत्यक्ष-कारिता ध्वन्यते। आगामिन्याः सीतादेव्या विपत्तेः, तस्याः प्रतीकारश्च सूच्यते।

अत्रोपमा, समुच्चयः, पुनरुक्तवदाभासः, इत्येतेषामलङ्काराणामङ्गाङ्गिभावेन सांकर्यम्।

तत्रोपमा—लक्षणम्—

"साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्ये उपमाद्वयोः।" इति।

समुच्चयस्य लक्षणम्—

"समुच्चयोऽयमेकस्मिन् सति कार्यस्य साधके।
खले कपोतिकान्यायात्, तत्करः स्यात् परोऽपि चेत्॥
गुणौ क्रिये वा युगपद्, स्यातां यद्वा गुणक्रिये॥" इति।

पुनरुक्तवदाभास—लक्षणञ्च यथा—

"आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्यावभासनम्।
पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकार-शब्दगः॥" इति।

'प्रजापतिसमः' इत्यत्रोपमा, 'च' शब्दोपादानात्समुच्चयः, 'जनकः, पिता', इत्यत्रारम्भे समानार्थकता, अन्ते च, जनकः=वैदेहः, इतिभिन्नार्थकतेति पुनरुक्तवदाभासः, इति सामान्यतो लक्षणसमन्वयः।

वसन्ततिलकाच्छन्दः । लक्षणञ्च यथा—

"उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौगः ।" इति ।

प्रसादो गुणः । रीतिश्च 'लाटी' "लाटी च मृदुभिः पदैः" इति तस्याः स्वरूपम् ॥

टिप्पणी

(१) विश्वम्भरा—विश्वं बिभर्तीति । विश्व + √भृ + खच् + मुम् + टाप् ।

(२) प्रजापति-समः—जनक की तुलना ब्रह्मा से की गई है । जनक की विदेहता—जीवन्मुक्तता प्रसिद्ध है । वे जनक सीता के पिता हैं । सब का, अन्नादि से भरण-पोषण करने वाली सर्वसहा पृथ्वी माता है तथा सर्वप्रकाशक सूर्य एवं तपःपूत वशिष्ठादि कुलगुरु हैं । ऐसी विशिष्ट मातृ-सम्पत्ति, पितृ-सम्पत्ति तथा गुरु-सम्पत्तिशालिनी तुम्हें सब प्रकार के कष्टों का सामना करने के लिये तैयार रहना चाहिये । भगवान् वशिष्ठ के इस सन्देश से उनकी 'सर्वज्ञता' व्यक्त हो रही है । सीता पर आने वाली विपत्ति का भान इसी से हो जाता है ।

(३) उपमा, समुच्चय, पुनरुक्तवदाभास का संकर । वसन्ततिलका छन्द । लाटी रीति ॥९॥

तत्किमन्यदाशास्महे । केवलं वीरप्रसवा भूयाः ।

रामः—अनुगृहीताः स्मः ।

लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते ।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति ॥१०॥

अन्वयः—लौकिकानां, साधूनां, वाक्, अर्थम्, अनुवर्तते, हि पुनः, आद्यानाम्, ऋषीणाम्, वाचम्, अर्थः, अनुधावति ॥१०॥

हिन्दी—

इससे अधिक और क्या आशीर्वाद दें ? (हमारी तो केवल यही शुभ कामना है कि) तुम वीर प्रसविनी हो ।

राम—(इस आशीर्वाद को पाकर) हम कृतार्थ हो गये हैं । (क्योंकि—)

[श्लोक १०]—लौकिक सत्पुरुषों की वाणी (तो) अर्थ के पीछे चलती है, परन्तु (भूत, भविष्यत्, वर्तमान का दर्शन करने वाले) आद्य ऋषियों की वाणी के पीछे-पीछे अर्थ (स्वयं) चलता है । (उनकी वाणी कभी व्यर्थ नहीं होती ।) ॥१०॥

संस्कृत-व्याख्या

"वीरप्रसविनी भूयाः" इत्याशीर्वादोक्त्यात्र मुखसन्धेः 'परिकरं' नामाङ्गमुपवर्णितम् । सीताया निर्वासनस्य, श्री गङ्गा-पृथिवीभ्यां पुत्रयो रक्षणस्य, वाल्मीकि-द्वारा सम्वर्धनादेः सूचनायाः विद्यमानत्वात् । परिकरस्य लक्षणञ्च—

"समुत्पन्नार्थ—वाहुल्यं ज्ञेयः परिकरः पुनः" इति ।

वीरपुत्रस्याशिषं निशम्य श्रीरामः प्रसन्नतां प्रकटयन् आह—अनुगृहीता इति । अनेनाशीर्वादेन तु अनुगृहीताः स्मः । आवयोरुभयोरपि महाननुग्रहः कृतः । वीर-पुत्रा एव धरित्रीभरणे वंशस्य कीर्तेर्हेतवो भवन्ति । कीट—पतङ्ग—पुत्रोत्पत्या को लाभः ? विशेषतश्च राज्ञामिति भावः ।

अत्रहेतुमाह—लौकिकेति ।

यतो लौकिकानां साधूनां=सत्पुरुषाणां, वाक्=वचनम्, अर्थम्=पदार्थ-मनुधावति । लौकिकाः साधवस्तु वस्तुगतिमवलोक्यैवावसरवादितया तदेवा-शीर्वचनमुच्चारयन्ति, यस्य साफल्यं तेऽनुभवन्ति, परमाद्या ऋषयस्तु नैवं कुर्वन्ति, तेषामर्थस्तु वाचमनुधावति । तेषां वाक्यं निष्फलन्नैव भवति । तेषां मुखान्निरर्थकानि निष्फलानि च वचनानि नैव निःसरन्ति । लौकिकास्तु कदाचिदनुरञ्जनार्थमपि शुभाशिषां चयम्प्रणाममात्रेणापि वितरन्तीति भगवता वशिष्ठेन यदुक्तं तदस्माकं कल्याणप्रदं, न च तत्र शङ्काकणिकापि कापि । अतएवानुग्रह एवायं तेषां वचनानाम-कस्मान्निर्गमादिति भावः ।

अत्र साधूनाम्' 'ऋषीणामाद्यानाम्' इत्यत्र कवेः पाण्डित्यप्रकर्षः । लौकिकाः साधव एव केवलं स्वल्पमेव वर्तमानं पश्यन्ति, नायं नियमो यत् ते सर्वथा सत्यमेवोद्-गिरेयुः । परं 'ऋषीणां' सु यथार्थतैव । "ऋषयो दर्शनात्" । ते हि सार्वदिकं सार्व-कालिकञ्च वस्तुवृत्तं करतलामलकवत्प्रत्यक्षीकुर्वन्ति । वक्ष्यति चारुन्धत्याः शब्दैः कविः—

"आविर्भूतज्योतिषां ब्राह्मणानां,
ये व्यवहारास्तेषु मा संशयोऽभूत् ।
भद्रा ह्येषां वाचि लक्ष्मीर्निषिक्ता,
नैते वाचं विप्लुतार्थां वदन्ति ॥"

[४—१८]

भगवती श्रुतिरपि प्रतिपादयति—

"सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते, भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि ॥" इति ।

अत्र बीजार्थस्य प्रधान नायक स्वीकरणात् 'समाधानं' नाम मुखसन्धेरङ्गं वर्णितम् । तत्स्वरूपञ्च यथा—

"बीजस्यागमनं यत्तु तत्समाधानमुच्यते ।" इति ।

ऋषीणां वचसो गुणवर्णनात् 'विलोभनं' नाम मुखसन्धेरङ्गञ्चोपवर्णितम् । तल्लक्षणञ्च यथा—

'गुणाख्यानं विलोभनम् ।' इति ।

लौकिकसाधूनामपेक्षया ऋषीणां वचसामाधिक्योक्तेर्व्यतिरेकालङ्कारः। तल्लक्षणञ्च यथा—

"आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा। व्यतिरेकः।" इति।

अप्रस्तुत-साधु-वचनवर्णनेन प्रस्तुतश्रीवशिष्ठवचसः प्रशंसया "अप्रस्तुतप्रशंसा चेति तयोः संकरः।" तल्लक्षणञ्च यथा—

"क्वचद् विशेषः सामान्यात् सामान्यं वा विशेषतः।
कार्यान्निमित्तं कार्यञ्च हेतोरथ समात्समम्।
अप्रस्तुतात्प्रस्तुतञ्चेद्गम्यते पञ्चधा ततः।
अप्रस्तुत प्रशंसा स्यात्।" इति।

प्रसादो गुणः। लाटी रीतिः। अनुष्टुप्छन्दः।

टिप्पणी

(२) 'वीरप्रसवा भूयाः' यह आशीर्वाद दिलाकर कवि ने मुखसन्धि) के 'परिकर' नामक अंग का वर्णन किया है। 'परिकर' का लक्षण है—

"समुत्पन्नार्थबाहुल्यं ज्ञेयः 'परिकरः' पुनः।"

आगामी विभिन्न घटनाओं का संकेत ही 'अर्थ बाहुल्य' है।

(२) ऋषि 'मन्त्रद्रष्टा' को कहते हैं। पुराण-ऋषियों की वाणी द्विधाहीन होती है। उन्हें अर्थ के पीछे-पीछे नहीं दौड़ना पड़ता, अर्थ स्वयं उनकी वाणी के पीछे चलता है। वे सिद्धवाक् होते हैं। लौकिक महात्मा तो कदाचित् सत्य का अपलाप भी कर सकते हैं, परन्तु ऋषि नहीं। भगवान् राम के इस कथन से जहां उनकी ऋषियों के प्रति हार्दिक श्रद्धा अभिव्यक्त होती है, वहाँ आगामी घटना-चक्र की अपरिहार्यता की ओर भी संकेत मिलता है।

(३) नायक के द्वारा कथा के बीच का आधान करने के कारण यहाँ 'समाधान' नामक 'मुखसन्धि' के 'अङ्ग' का तथा मुनियों की वाणी के गुणों का वर्णन करने से 'विलोभन' नामक (मुखसन्धि के) अङ्ग का वर्णन किया गया है। इनके लक्षण निम्नलिखित हैं:—

"बीजस्यागमनं यत्तु तत्समाधानमुच्यते।"

"गुणाख्यानं विलोभनम्।"

(४) लौकिक महात्माओं की अपेक्षा ऋषियों की वाणी के आधिक्य वर्णन से व्यतिरेक अलङ्कार है। अप्रस्तुत प्रशंसा भी है। प्रसाद गुण, लाटी रीति तथा अनुष्टुप् छन्द है॥१०॥

अष्टावक्रः—इदं च भगवत्याऽरुन्धत्या, देवीभिः, शान्तया च भूयो भूयः संदिष्टम्—"यः कश्चिद्गर्भदोहदो भवत्यस्याः, सोऽवश्यमचिरान्मानयितव्य" इति।

रामः—क्रियते यद्येषा कथयति ।

अष्टावक्रः—ननान्दुः पत्या च देवयाः संदिष्टम्—'वत्से, कठोरगर्भेति नानीतासि । वत्सोऽपि रामभद्रस्त्वद्विनोदार्थमेव स्थापितः । तत्पुत्रपूर्णोत्सङ्गामायुष्मतीं द्रक्ष्याम्, इति ।

रामः—(सहर्षलज्जास्मितम् ।) तथास्तु । भगवता वसिष्ठेन न किंचिदादिष्टोऽस्मि ?

अष्टावक्रः—श्रूयताम् ।

हिन्दी—

अष्टावक्र—और भगवती अरुन्धती (कौशल्या प्रभृति) महारानियों तथा शान्ता ने यह बार-बार कहा है कि—

"इसकी (सीता की) जो कोई भी गर्भ के समय इच्छा हो उसकी पूर्ति अविलम्ब करनी चाहिये ।"

राम—जो यह कहेंगी वह किया जायगा ।

अष्टावक्र—(आपकी) नन्द के पतिदेव (ऋष्यश्रृङ्ग) ने आपको सन्देश दिया है कि—"वत्से ! आसन्नप्रसवा होने के कारण तुम्हें (इस उत्सव में) नहीं लाया गया है और वत्स रामभद्र को भी तुम्हारे मनोरंजन के लिए वहीं रहने दिया है । (अब तो) हम सौभाग्यवती तुमको पुत्र से भरी-पूरी गोद वाली (ही) देखेंगे ।"

राम :—(हर्षपूर्वक लज्जा और मुस्कराहट के साथ) ऐसा ही हो ! भगवान् वसिष्ठ ने क्या मेरे लिए कोई और आदेश नहीं दिया है ।

अष्टावक्र :—सुनिये—

संस्कृत-व्याख्या

अरुन्धत्यादिभिः "सीताया गर्भदौर्हृदोऽचिरात्परिपूरणीयः" इति सन्दिष्टं श्रुत्वा श्रीरामः कथयति–क्रियते इति । अत्र "क्रियते" इत्यत्र "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" इति भविष्यदर्थे वर्तमानता । यदि इयं कथयिष्यति, तदा मया अवश्यमस्या इच्छ-पूर्तिः करिष्यते । [अतएव चित्रदर्शनोत्पन्नस्य भागीरथीतीरविहारस्य स्नानस्येच्छापूर्तिः कृता, इत्येवं मन्यमाना सीतादेवी सानन्दं लक्ष्मणेन सह गता । दुर्मुखोक्तन्तु तत्र किमप्यन्यदेवासीत् ।]

गर्भवत्या गर्भकाले या काचिदिच्छा भवेत् सा "दोहदः" इत्युच्यते । तस्यावरोधे गर्भे हानिर्भवति, अतोऽवश्यमिच्छा पूरणीया । अत्र 'करणं' नाम मुखसन्धेरङ्ग प्रतिपादितम् ।

तल्लक्षणं च—"करणं पुनः, प्रकृतार्थ—समारम्भः" इति । सीता–परित्यागरूपस्य प्रकृतार्थस्यात्र प्रारम्भात् ।

"अत्र पुत्र पुर्णोत्संगां भवतीं द्रक्ष्यामिति" ऋष्यश्रृङ्गस्य सन्देशमाकर्ण्य भगवान् श्रीरामः (सहर्षलज्जास्मितं यथास्थात्तथा) प्राह—तथास्तु इति । अत्र पुत्राशीर्वादः सर्वैर्दीयते—इति 'हर्षः'; सीतायाः समक्ष एवेदृशं वाक्यमुच्चारयतीति 'लज्जा'; सर्वथा लौकिकज्ञाने मृदुरयं महानुभाव इति 'स्मित' मिति भावः । यथोक्तं तत् तथैव भवत्विति ममाप्यभिलाषः । अथवा—इदन्तु वृत्तं विशेषरूपेण श्रुतम् । भवतु; किंस्वित् कुलगुरुणा भगवता वशिष्ठेन साम्प्रति किमपि नोपदिष्टम् आदिष्टं वा ? इति महाराजस्य वचनं श्रुत्वा 'श्रूयतामि' त्याहाष्टावक्रः ।

टिप्पणी

(१) दोहदः—गर्भिणी की इच्छा । यद्यपि यह सब प्रकार की इच्छा का वाचक है तथापि गर्भिणी की इच्छा के लिए ही प्रयुक्त होता है । "अथ दोहदम्, इच्छा, कांक्षा,स्पृहेहा, तृट्" इत्यमरः "अयमिच्छावाची अपि विशेषेण गर्भिणी-च्छायां प्रयुज्यते" (व्याख्यासुधा) । गर्भिणी की इच्छा पूरी न करने से सन्तान जिघृक्षु (वदनीयन) सी रहती है । "दोहदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात् ।"

(२) सहर्षलज्जस्मितम् —कवि ने यह नाटकीय निर्देश बहुत ही साभिप्राय दिया है । सबके आशीर्वाद के कारण 'हर्ष' सीता के सामने ही अष्टावक्र के बेधड़क पुत्र प्राप्ति के आशीर्वाद की सूचना देने के कारण 'लज्जा' तथा व्यवहारिकता की ऋषि के व्यवहार में कुछ न्यूनता के कारण स्मित' की मुद्रा व्यक्त की हुई है ।

(३) यहाँ 'मुखसन्धि' के 'करण' नामक अङ्ग का वर्णन किया गया है, सीता-परित्याग-रूप प्रकृतार्थ के आरम्भ करने के कारण—"करणं पुनः प्रकृतार्थ-समारम्भः ।"

जामातृयज्ञेन वयं निरुद्धास्त्वं बाल एवासि नवं च राज्यम् ।
युक्तः प्रजानामनुरञ्जने स्यास्तस्माद्यशो यत्परमं धनं वः ॥११॥

अन्वयः—जामातृज्ञेन, वयं निरुद्धाः, त्वं, बाल, एव, असि, राज्यं च नवम्, प्रजानाम्, अनुरञ्जने, युक्तः, स्याः, तस्माद्, यशः (भविष्यति), यद्, वः, परमं, धनम् ॥११॥

हिन्दी—

[श्लोक, ११] हम यहाँ जामाता के यज्ञ के कारण रुक गये हैं, तुम अब तक बालक ही हो तथा राज्य भी नवीन ही है । (इस प्रकार बहुत से विघ्न हो सकते हैं) अतः तुम प्रजा का अनुरञ्जन करने में सावधान रहना । (इस भाँति प्रजानुरञ्जन से) जो यश फैलेगा वही तुम लोगों का परम धन होगा ॥११॥

संस्कृत-व्याख्या

जामातृ इति । भगवता वसिष्ठेनेदमुक्तम्—"वयमत्र जामातुः ऋष्य-श्रृङ्गस्य यज्ञे निरुद्धाः, त्वञ्चाद्यावधि बाल एव, राज्यञ्च त्वया नवीनमेव

सम्प्राप्तम्, एवंविधे व्यतिकरे वहूनां विघ्नानां सम्भवो भवति। अतो लोकाना-मनुरञ्जने युक्तः=सावधानो भव। तस्मात् प्रजानुरागाद् यद् यशो भविष्यति तदेव वः=युष्माकं परमं धनम्। राजा प्रकृतिरञ्जनादेव भवति। बाल्यावस्थायाञ्च बुद्धिर्विवेकिनी न भवति, नवे राज्ये च 'सर्वं नवमिवेति' कालिदासोक्त्या बहवो विघ्नाः समुत्पद्यन्ते, अत एवंविधे समये विघ्न-हर्तारो वयमत्र स्मः, प्रजाजनेषु व्यामोहोऽप्यवश्यं भाव्यः, अतः सीता-परित्यागे त्वया भ्रान्तिर्न कार्या। राज्ञः कर्तव्यं केवलं प्रजारक्षण-मेवेति ततो भविष्यति वास्तविकं भवतां यशः। धर्मान्न प्रमदितव्य' मिति परमतत्व-मुपदेशस्य। धन्याः प्राचीना गुरवो भवन्ति। तथा चोक्तं श्रीहर्षेण—

"कीर्तिरेव भवतां प्रियदाराः।" इति।

अत्र 'जामातृ' शब्देनात्मीयता, 'वत्स' इत्यनेन वात्सल्यातिरेकः, 'नवम् इत्यनेन भविष्यतां विघ्नानामवश्यम्भावः, युक्तः=सावधानः इत्येतेऽर्थाः कवेः सहृदय-धुरीणतां सूचयन्ति। इति विज्ञैर्ध्येयम्।

अत्र सीतानिर्वासनरूपं बीजं समुपदिष्टम्। बीजलक्षणञ्च—

"अल्पमात्रं समुदिष्टं, बहुधा यद्विसर्पति।
फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजं तदभिधीयते।" इति।

बहूनां कारणानां समुच्चयात् समुच्चयः। काव्यलिङ्गालङ्कारश्च। इन्द्रवज्रा-च्छन्दः। "स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौगः" इति लक्षणात् ॥११॥

टिप्पणी

(१) इस श्लोक के पूर्वार्धं में, वर्षसिठ ने अपने दूर रहने का कारण तो बताया ही है साथ ही सन्देश भी दिया है कि राज्य नवीन है, कहीं कोई विघ्न न हो जाय। सब प्रकार से सावधान रहने की आवश्यकता है। लोक-प्रियता प्राप्त करना राजा का, शासन की सफलता के लिए, आवश्यक कर्तव्य है। "कीर्तिरेव भवतां प्रियदाराः।" (श्रीहर्ष)

(२) यहाँ सीता-निर्वासन-रूपी 'बीज' का संकेत किया गया है। 'बीज' का लक्षण पहिले दिया जा चुका है।

(३) बहुत से कारणों के समुच्चय के कारण 'समुच्चय' तथा हेतु-निर्देशन के कारण काव्यलिङ्ग अलङ्कारों की संसृष्टि है। इन्द्रवज्रा छन्द है ॥११॥

रामः—यथा समादिशति भगवान्मैत्रावरुणिः।
स्नेहं, दयां च, सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ॥१२॥

अन्वयः—लोकस्य, आराधनाय, स्नेहं, दयां, सौख्यं, च, यदि वा, जानकीम्, अपि, मुञ्चतः, मे, व्यथा, न, अस्ति ॥ १२ ॥

हिन्दी—

राम—जो भगवान् वसिष्ठ जी आज्ञा देते हैं।

[श्लोक १२]—लोकाराधन करने के लिए मुझे स्नेह, दया, दुःख (और यहां तक कि प्राणप्रिया) जानकी को भी छोड़ते हुए मुझे कोई व्यथा नहीं होगी।

संस्कृत-व्याख्या

अष्टावक्रोक्ति निशम्यादेशं स्वीकुर्वन्नाह—यथेति। भगवान् मैत्रावरुणिः—वसिष्ठः, यथा समादिशति=आज्ञाप्रदानेन मामनुकम्पते, तथैव स्वीकरोमि। [मित्रश्च वरुणश्चेति मित्रा-वरुणौ, "देवता द्वन्द्वे च" इत्येतेनानङ्। तयोरपत्यं पुमान् मैत्रावरुणिः। उर्वशी-दर्शनेन मित्र-वरुणयोर्वीर्यपातः कुम्भेऽन्तर्बहिश्च संजातः। अन्तः "कुम्भजः=अगस्त्यः" बहिश्च वसिष्ठः समुत्पन्नः, इति पौराणकी कथाऽत्रानु-सन्धातव्या।]

श्री रामो वसिष्ठकृतादेशपालने प्रतिज्ञां करोति—स्नेहमिति।

लोकस्य प्रसादनाय, स्नेहादीन् परिमोक्तुं समर्थोऽस्मि, अन्येषान्तु विषये किमु वक्तव्यम्? जानक्याः परित्यागेऽपि मम व्यथा नैव भविष्यति। लोकानुरञ्जनार्थं सर्वस्वपरित्यागेऽपि न मम व्यथा भविष्यतीतिभावः "लोकस्ये" त्येक वचनेनैक-स्यापि जनस्याराधनं मम व्रतमस्ति। सर्वेषां जनानान्तु कथैव का? इति भावोऽभि-व्यज्यते। "लोकाना" मिति पाठस्तु सरल एव।

अत्र—भगवतो धैर्यं द्योत्यते। धैर्यञ्च—

"व्यवसायादचलनं धैर्यं विघ्ने महत्यपि।" इति।

एकस्यां "मुञ्चतः" इति क्रियायां स्नेहादीनामन्वयाद्दीपका लङ्कारः। लक्षणञ्च तस्य यथा—

"प्रस्तुताऽप्रस्तुतयोरेकधर्माभिसम्बन्धो दीपकः।"

"प्रस्तुता प्रस्तुतयोर्दीपकन्तु निगद्यते।

अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत्॥ इति॥१२॥

टिप्पणी

(१) मैत्रावरुणिः—मित्रश्च वरुणश्चेति मित्रावरुणौ, तयोरपत्यं पुमान्, मैत्रावरुणिः। "देवता द्वन्द्वे च" इत्यानङ्। "अत इञ्" इति इञ्। "तद्धितेष्वचामादेः" इत्यादिवृद्धिः।

एक बार उर्वशी को देखकर मित्र-वरुण का वीर्यपात घड़े के बाहर और भीतर हो गया। उसके अन्दर से 'कुम्भज' (अगस्त्य) तथा बाहर वसिष्ठ उत्पन्न हुए।

"तद्धि तेजस्तु मित्रस्य उर्वश्या पूर्वमाहितम्।

तस्मिन् समभवत् कुम्भे तत्तेजो यत्र वारुणम्॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य मित्रावरुणसम्भवः ।
वसिष्ठस्तेजसा युक्तो जज्ञे इक्ष्वाकुदैवतम् ॥४॥

(रामायण, उत्तरकाण्ड)

(२) इस श्लोक से भगवान् राम की अदम्य लोकाराधन-भावना का पता चलता है। वे प्रजा के सुख के लिये अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार हैं। धन्य हैं राम ! और धन्य है उनकी प्रजावत्सलता। 'लोकस्य' शब्द भी बड़ा सारगर्भित है। 'एक व्यक्ति' के कल्याण के लिये भी मैं अपना सर्वस्व वार सकता हूं। कितना अनुपम आदर्श है !

(३) दीपक अलङ्कार।

सीताः—अदो जेव्व राहवधुरन्धरो अज्जउत्तो। [अत एव राघवधुरंधर आर्यपुत्रः]

रामः—कः कोऽत्र भोः। विश्राम्यतादष्टावक्रः।

अष्टावक्र :—(उत्थाय परिक्रम्य च।) अये, कुमारलक्ष्मणः प्राप्तः। (इति निष्क्रान्तः।)

(प्रविश्य)

लक्ष्मण :—जयति जयत्यार्यः। आर्य ! अर्जुनेन चित्रकरेणास्मदुपदिष्टमार्यस्य चरितमस्यां वीथ्यामभिलिखितम्। यत्पश्यत्वार्यः।

राम :—जानासि वत्स ! दुर्मनायमानां देवीं विनोदयितुम्। तत्कियन्तमवधिं यावत् ?

लक्ष्मण :—यावदार्याया हुताशनशुद्धिः।

राम :—शान्तं (ससान्त्ववचनम्।)

उत्पत्तिपरिपूतायाः, किमस्याः पावनान्तरैः ?
तीर्थोदकं च वह्निश्च, नान्यतः शुद्धिमर्हतः ॥१३॥

अन्वयः—उत्पत्तिपरिपूतायाः, अस्याः, पावनान्तरैः किम् ? तीर्थोदकं, वह्निः, च अन्यतः, शुद्धिं न, अर्हतः ॥१३॥

हिन्दी—

सीता—इसलिए तो आर्यपुत्र रघुकुल की प्रतिष्ठा के संरक्षक हैं।

राम—यहाँ (द्वार पर) कौन है ? आदरणीय अष्टावक्र को विश्राम कराओ।

अष्टावक्र—(उठकर तथा घूमकर) अरे, कुमार लक्ष्मण आ गये (रहे) हैं !
(चले जाते हैं।)

[प्रवेशकर]

लक्ष्मण—आर्य की जय हो ! आर्य ! हमारे द्वारा आदिष्ट आपके चरित्र को अर्जुन नामक चित्रकार ने इस चित्रवाथिका पर चित्रित किया है। अतः आप इसे देखिये।

राम—वत्स ! तुम खिन्न-चित्त देवी का मनोरञ्जन करना जानते हो। तो (बताओ) कहां तक (मेरा चरित्र) चित्रित किया गया है ?

लक्ष्मण—आर्या की 'अग्नि-शुद्धि' (अग्नि-परीक्षा) तक।

राम—शान्त ! (सान्त्वना के स्वर में।)

[श्लोक १३,] जन्म से ही पवित्र सीता को शुद्धि के लिए दूसरे पदार्थों की क्या आवश्यकता है ? (क्योंकि) तीर्थों का जल तथा अग्नि स्वतः शुद्ध होने के कारण किसी दूसरे पदार्थ से शुद्धि की अपेक्षा नहीं रखता है ॥१३॥

संस्कृत-व्याख्या

महाराजस्य मुखात्कटु-सत्यं श्रुत्वा सीता देवी प्राह—

अवो-इति । अत एव, प्रजार्थे ममापि परित्याग-भावनया, भवान् रघुवंशस्य धुरन्धरः=प्रतिष्ठा-भार संरक्षकः। नेदृशमन्यस्मिन् पुरुषे सम्भवति। अनन्यसाधारण-प्रतिनिष्ठा भवतोऽभिनन्दनीयेति तत्त्वम्। भगवान् श्रीरामोऽष्टावक्रं विश्रामयितुं स्व-परिजनमाकारयति–कः-इति। अत्र द्वारे कोऽस्ति ? अष्टावक्रस्य विश्रामप्रबन्धः क्रियताम्।

"नासूचितं विशेत् पात्रम्" इति नाट्यनियमात् अष्टावक्रो लक्ष्मणप्रवेशं सूचयन्निष्क्रान्तः। दूरत एवायान्तं लक्ष्मणं दृष्ट्वा निष्क्रान्तोऽटावक्रः। एतेन लक्ष्मणेन अष्टावक्राय प्रणामो न कृतः" इत्यनौचिती नायाति।

अभिनयस्थाने प्रवेशं कृत्वा लक्ष्मणः श्री रामं प्रति कथयति -जयति-इति। महाराज ! भवतो विजयः सदातनः। आर्यचित्रकरेणार्जुनेन मदुपदिष्टप्रकारेण श्रीमतश्चरित्रमस्यां वीथ्यां=चित्रमयभित्तौ वस्तुतस्तु चित्रपटे प्रदर्शनार्थं वीथ्यां चित्रमयश्रेण्यां ('रील' संज्ञके) चित्रितम्, तदवलोकयतु भवान्।

तथा श्रुत्वा सहर्षमाह श्रीमहाराज—जानासीति। प्रिय लक्ष्मण ! सत्यमेव दुःखितां सीत देवीं प्रसादयितुं विनोदयितुञ्च जानासि। इदानीमिदमेवोचितमासीत्। तत् कथय मम चरितं कियन्तमवधि यावत् चित्रितम् ? मदीयं चरितं विस्तृतमस्ति। नहि स्वल्पीयसि चित्रपटे भित्तौ वा सकलस्य चित्रणं सम्भवति। अतः कियन्तम-वधि यावदिति। अथवा, कियन्तमवधि त्वं सीतां विनोदयितुं जानासि ? अस्यास्तु परित्यागकालः सन्निकृष्टः—इति गुप्त आशयः।

रहस्यमिमंप्रश्नं समाधातुमाह लक्ष्मणः—यावदार्यायाः–इति। यावदार्यायाः सीतादेव्या हुताशने=वह्नौ, शुद्धिः, तावत्कथाभागपर्यन्तं चित्रं लिखितम्।

वज्रमयीमुक्ति सीता-समक्षे श्रुत्वा परितप्तो रामः सीतां सान्त्वयितुमाह—उत्पत्ति–इति ।

लक्ष्मण ! शान्तं पापम् । त्वया पुनरेवं न वाच्यम् । पश्य, उत्पत्त्यैव परिपूता सीता वर्तते । एतस्याः परिशोधने वह्निः कः ? तीर्थजलं, वह्निश्च स्वयं शुद्धाविमौ । अन्यस्य सकाशादनयोः शुद्धेरावश्यकता नास्ति । अत्र सीता-शोधने तीर्थोदक-वह्नि-दृष्टान्तेन दृष्टान्तोऽलङ्कारः । तल्लक्षणन्तु—

"दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनःप्रतिविम्वनम् ।" ॥१३॥

टिप्पणी

(१) 'अये कुमारलक्ष्मणः प्राप्तः', कहकर अष्टावक्र चले जाते हैं। इस अवसर पर लक्ष्मण का उन्हें प्रणाम न करना कुछ खटकता है। परन्तु ऐसा लगता है कि लक्ष्मण के देखने से पहिले ही वे निकल गये हों।

(२) चित्रवीथी :—चित्रवीथिका-दृश्य की संयोजना कवि की मौलिक कल्पना की परिचायिका है। इस प्रकार उसने उत्तरचरित में राम का पूर्वचरित भी प्रदर्शित कर दिया है। साथ ही नाटक के मुख्य प्रतिपाद्य सीता-परित्याग की भी इस में सूचना दे दी है। इस प्रकार से नाटकीय घटनाचक्र का सूत्र ही चित्र दृश्य वीथी है। सम्भवतः इसे चित्रकार ने कपड़े आदि पर बनाया होगा जिसे एक ओर घुमाकर दिखाया जाता होगा। घूमने पर वह दूसरी ओर लिपटता जाता होगा। इस प्रकार के प्रदर्शनों के लिए राजभवन में विशेषकक्ष का प्रवन्ध रहा होगा।

(३) 'तत्कियन्तमवधि यावत्' भी वड़ा ही साभिप्राय प्रयोग है। सीधा-साधा अर्थ तो यही है कि मेरा चरित्र कहाँ तक अङ्कित किया गया है, परन्तु व्यङ्ग-यह भी है कहाँ तक तुम चित्र-दर्शन कराकर सीता का मनोरंजन करोगे, इसका तो परित्याग निकट ही है।

(४) उत्पत्ति—सीता तो उत्पत्ति से ही परिपूर्ण हैं। वे अयोनिजा हैं। निष्पाप हैं। उनकी शुद्धि किसी पदार्थान्तर से सम्भव नहीं है। तीर्थोदक और वह्नि तो स्वतः शुद्ध होते हैं; उन्हें अपनी शुद्धि के लिए किसी अन्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं होती। सीता तीर्थोदक तथा वह्नि के समान सदा स्वतः शुद्ध हैं। 'महावीरचरित' में भी इस श्लोक का उत्तरार्ध ज्यों का त्यों प्राप्त होता है।

(५) दृष्टान्तालंकार। कुछ विद्वानों के मत में 'प्रतिवस्तूपमा' भी है।

देवि देवयजनसम्भवे, प्रसीद । एष ते जीवितावधिः प्रवादः ।

क्लिष्टो जनः किल जनैरनुरञ्जनीय-
स्तन्नो यदुक्तमशुभं च न तत्क्षमं ते ।
नैसर्गिकी सुरभिणः कुसुमस्य सिद्धा,
मूर्ध्नि स्थितिर्न चरणैरवताडनानि ॥१४॥

सीता—होदु । अज्जउत्त, होदु । एहि । पेक्खह्म दाव दे चरिदम् । (इत्युत्थाय परिक्रामति ।) [भवत्वार्यपुत्र, भवतु । एहि । प्रेक्षामहे तावत्ते चरितम् ।]

अन्वयः—क्लिष्टः, जनः, जनैः, अनुरञ्जनीयः, किल तत्, ते, नः, यत्, अशुभम्, उक्तम्, तत्, न, क्षमम् । सुरभिणः कुसुमस्य, मूर्ध्नि स्थितिः, नैसर्गिकी सिद्धा, चरणैः अवताडनानि न ।।१४।।

हिन्दी—

यज्ञभूमि से उत्पन्न देवि ! प्रसन्न होओ ! यह तुम्हारा जीवन भर के लिये अपवाद है !

[श्लोक १४]—दुःखी व्यक्ति का (उसके सम्बन्धी) जनों को मनोरञ्जन करना चाहिये । (यद्यपि यह ठीक है तथापि) तुम्हारे विषय में जो हमने अनुचित कहा है, वह तुम्हारे योग्य नहीं है, क्योंकि सुगन्धित पुष्प को सिर पर रखना उचित है, न कि उसे पैरों से कुचलना ।

सीता—आर्य पुत्र ! (अपवादको) होने दो । आओ, आपके चरित्र को देखें । (मेरा तो जैसा है, वैसा है ही, अब अपना चरित्र देखिये ।)

संस्कृत-व्याख्या

पुनः सीतां सान्त्वयितुमाह—देवि, इति । देवयजना=पृथ्वी तस्याः सम्भवो यस्याः सा, तत्सम्बुद्धौ, पृथिव्याः सर्वजगन्मातु-रुदरात् तवोत्पत्तिः संजाता, यत्राशुद्धेः सम्भावनापि नास्ति । परं हन्त ! तस्यास्तवापि यावज्जीवनं प्रवादः=राक्षस-भवन निवास-रूपा निन्दा वर्तते । प्रसन्ना भव । न च भवत्या मनसि विकृतिः कार्या । संसार-प्रवाहोऽनिवार्य इति भावः ।

सर्वमपीदमनुचितमिति निरूपयति-क्लिष्ट इति ।

क्लेशयुक्तो जनस्तत्सम्बन्धिभिः सर्वैरपि जनैरनुरञ्जनीयः, इत्युचितो मार्गस्तथापि त्वद्विषये यदस्माभिः (लक्ष्मणेनोक्तं तन्मयैवोक्तम् इति 'अस्माभिः' इत्युक्तम्) अनुचितमयुक्तम्, सर्वथा न तत् तव क्षमम्=योग्यम् । यतो लोके सुरभिणः कुसुमस्य शिरसि स्थापनमेवोचितम् न तु पादाभ्यामवघर्षणम् । अतएव तु सदा समादर एव कर्त्तव्यो नतु स्वयमस्माभिरपमानं कार्यम् । इति जानामि, परं किं करवाणि ? निन्दा तु ते लोके प्रसिद्धा जातैव ! इति भावः ! निरर्थकस्य सौगन्ध्य-रहितस्य कुसुमस्य तु कदाचित् पादसंघर्षणं सम्भाव्यते चापि । परं सुरभिणस्तु शिरसि संयोजनमेवोचितम् । ततश्च भवत्यास्तु समादर एव कार्यं । परन्न क्रियते ! आश्चर्यम् ।

अत्र दृष्टान्तालङ्कारः । लक्षणञ्च यथा—

"दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम् ।" ।।इति।।

प्रसादो गुणः । लाटी रीतिः वसन्ततिलकाच्छन्दः ।।१४।।

सर्वं निशम्य सव्यङ्ग्यं सीता देवी प्राह—होदु-इति। आर्यपुत्र ! मम विषये प्रवादोऽस्ति चेदस्तु, तस्य चिन्ता न कार्या। इदनीं तव चित्रं, चरित्रं, चित्रे पश्यामः। गन्तव्यम्। अत्रायं सारः, मम तु चरितं यादृगासीत्, तद्गतम्, इदानीं भवतोऽपि चरित्रं दर्शनीयमेवोपस्थितमिति न ममैवोपरि धूलिसमुत्क्षेप आवश्यकः, स्वकीयमपि मुखं दर्पणे प्रेक्षणीयमिति भावः।

टिप्पणी

(१) देवयजनसम्भवे—देवा इज्यन्तेऽस्मिन् इति देवयजनं यज्ञभूमिः। देवयजनात् सम्भवो यस्याः सा। महाराज जनक द्वारा यज्ञभूमि को शुद्ध करने के लिये हल चलाने पर उन्हें सीता की प्राप्ति हुई थी। यज्ञभूमि से उत्पन्न होने के कारण उन्हें 'देवयजनसम्भवा' कहा गया है।

(२) 'क्लिष्टः' के स्थान पर कहीं 'कष्टः' और कहीं 'कष्टं' पाठ भी मिलते हैं। 'कष्टः' का अर्थ होगा 'कष्ट में पड़ा हुआ व्यक्ति'। जहाँ 'कष्ट' पाठ है वहाँ 'किलजनैः' के स्थान पर 'कुलधनैः' पाठ मिलता है, जिसका अर्थ होगा-'कुलधनैः जनः=लोकोऽनुरञ्जनीयः' इति कष्टम्=कष्टकारि व्रतम्, जिससे कभी-कभी सही बात को भी प्रजाहित के लिये न्यौछावर करना पड़ जाता है।

(३) दृष्टान्त अलङ्कार। प्रसाद गुण। लाटी रीति। वसन्ततिलका छन्द।

(४) 'प्रेक्षामहे तावत्ते चरितम्' इस कथन में सीता के हृदय की सारी व्यथा झलक उठी है। मेरे चरित्र के प्रति यदि लोकापवाद है तो आपके चरित्र में भी कहीं न कहीं लोगों को टीका-टिप्पणी का अवसर मिल ही जायेगा। 'जनानने कः करमर्पयिष्यति ?'

लक्ष्मण :—इदं तदालेख्यम्।

सीता—(निर्वर्ण्य !) के एदे उवरि णिरन्तरट्ठिदा उवस्थुवन्दि विअ अज्जउत्तम् ? [क एते उपरि निरन्तरस्थिता उपस्तुवन्तोवार्यपुत्रम् ?]

लक्ष्मण :—देवि, एतानि तानि सरहस्यानि जृम्भकास्त्राणि, यानि भगवतः कृशाश्वात्कौशिकमृषिमुपसंक्रान्तानि। तेन च ताटकावधे प्रसादीकृतान्यार्यस्य।

रामः—वन्दस्व देवि, दिव्यास्त्राणि।

ब्रह्मादयो ब्रह्महिताय तप्त्वा, परःसहस्रं शरदां तपांसि।
एतान्यदर्शन्गुरवः पुराणाः, स्वान्येव तेजांसि तपोमयानि ॥१५॥

सीता—णमो एदाणम् । (नम एतेभ्यः ।)

रामः—सर्वथेदानीं स्वत्प्रसूतिमुपस्थास्यन्ति ।

सीता—अणुगहीदह्मि । (अनुगृहीतास्मि ।)

हिन्दी—

लक्ष्मण—यह वह चित्र है ।

सीता—(देखकर) लगातार खड़े हुए ये कौन आर्य की स्तुति कर रहे हैं ?

लक्ष्मण—ये (प्रयोग और उपसंहार में) रहस्यमय वे 'जृम्भकास्त्र' हैं जो कि कृशाश्व से विश्वामित्र मुनि के पास आये और उन्होंने 'ताड़का-वध' के अवसर पर 'आर्य' (श्री रामचन्द्र जी) को प्रसादरूप में प्रदान किये थे ।

राम—देवि ! दिव्यास्त्रों की वन्दन करो !

[श्लोक १५]—ब्रह्मा आदि पुरातन गुरुओं ने वेद (अथवा ब्राह्मणों) की रक्षा के लिये हजारों वर्षों से भी अधिक तपस्या कर (मानों) अपने तपोरूप तेजःपुञ्ज का ही इस रूप में साक्षात्कार किया था ।

सीता—इनको नमस्कार है !

राम—अब यह सर्वात्मना तुम्हारी सन्तान पर चले जायेंगे ।

सीता—मैं कृतार्थ हो गई हूं ।

संस्कृत-व्याख्या

आलेख्ये=चित्रे उपरिभागे स्थितान् कानपि देवानिव निरीक्ष्य सीतादेवी तेषां विषये जिज्ञासते, लक्ष्मणस्तेषां परिचयं ददानः प्राह—देवि-इति । देवि ! एतानि प्रयोगे=संचालने, उपसंहारे च सरहस्यानि शस्त्राणि सन्ति, यानि महात्मनः कृशाश्वात् (भृशाश्वादित्यपि क्वचित्पाठः) विश्वामित्रस्य ऋषेः सविधे समागतानि, तेन च ताटकावधावसरे श्रीरामाय प्रसादरूपेणार्पितानि । जृम्भकास्त्राणीमानि वन्दस्व ।

दिव्यास्त्राणां वन्दनं कर्तुमुचितमिति सीतादेवीम्प्रति दिव्यत्वमेव तेषां साधयितुमाह भगवान् रामः—ब्रह्मादयः-इति ।

देवि ! एतानि साधारणान्यस्त्राणि न सन्ति । ब्रह्मादिभिः प्राचीनैर्महापुरुषैः सहस्रवत्सरेभ्योऽप्यधिकवर्षाणि यावत् ब्रह्मणो=वेदस्य सरक्षणार्थं स्वकीयानि तेजांसीव शस्त्रास्त्राणि साक्षात्कृतानि । तेषां तपः परिणामफलानीवैतानीति नूनं दिव्यत्वमेतेषामिति भावः ।

अत्र शस्त्रदर्शनेन महापुरुषाणामपि कीर्तनात् उदात्तालङ्कारः । लक्षणञ्च—

"लोकातिशय-सम्पत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते ।
यद् वापि प्रस्तुतस्याङ्गं महतां चरितं भवेत् ॥" इति ।

अद्भुतानां शस्त्राणां वर्णनेन भाविकालङ्कारः । तल्लक्षणञ्च—

"अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः ।
यत् प्रत्यक्षायमाणत्वं, तद्भाविकमुदाहृतम् ।।" इति ।

स्वान्येव तेजांसीति रूपकालङ्कारः । एतल्लक्षणञ्च—

"रूपकं रूपितारोपाद् विषये निरपह्नवे ।" इति ।

एतेषां साङ्कर्यम् । प्रसादो गुणः । उपजातिच्छन्दः ।

"स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः,
उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ।
अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ,
पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ।।
इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु,
वदन्ति जातिष्विदमेव नाम ।।" इति ।।१५।।

सर्वथेति । सर्वात्मनाऽधुना तव सन्तानसेवां करिष्यन्ति, एतानि शस्त्राणि । सीता देवी प्राह—अनु इति । भवता महानयमनुग्रहो मयि कृतः । वीर-सन्ततेः शस्त्र-सम्पत्तिरावश्यकीति कृतार्थास्मि ।

टिप्पणी

(१) जृम्भकास्त्र—जृम्भक नाम के अस्त्र । इन अस्त्रों की एक विशिष्ट परम्परा थी जिसका क्षीण सा आभास यहां मिलता है । कृताश्व से कौशिक और कौशिक से राम के पास ये अस्त्र आए । इस विषय में रामायण में लिखा है कि देवताओं ने विश्वामित्र से प्रार्थना की—

"प्रजापते कृशाश्वस्य, पुत्रान् सत्यपराक्रमान् ।
तपोबलभृतो ब्रह्मन्, राघवाय निवेदय ।।

विश्वामित्र ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की—

"परितुष्टोऽस्मि भद्रं ते, राजपुत्र ! महायशाः ।
प्रीत्या परमया युक्तो, ददाम्यस्त्राणि सर्वशः ।।"
× × ×
"कामरूपं, कामरुचिं, मोहमावरणं तथा ।
जृम्भकं सर्पनाथञ्च, पन्थानवरुणौ तथा ।।
कृशाश्वतनयान् राम ! भास्वरान् कामरूपिणः ।
प्रतीच्छ मम भद्रं ते, पात्रभूतोऽसि राघवः ।।"

अस्त्रों ने भगवान् राम से कहा—

"रामं प्राञ्जलयो भूत्वाऽब्रुवन् मधुरभाषिणः ।
इमे स्म नरशार्दूल ! शाधि किं करवाम ते ।।'

भगवान् राम ने उनसे कहा—

"गम्यतामिति तानाह यथेष्टं रघुनन्दनः ।।"
मानसाः कार्यकालेषु साहाय्यं मे करिष्यथः ।।"

(१) 'सर्वथेदानीं त्वत्प्रसूतिमुपस्थास्यन्ति' कहकर राम ने सीताजी को पुत्रोत्पत्ति का आशीर्वाद दिया है । अस्त्रों का उपयोग पुत्रों के ही उपयुक्त है ।

(२) ब्रह्महिताय—वेद अथवा ब्राह्मणों के उपकार के लिये । इस पद से भारतीयों की विज्ञान-विषयक मान्यता पर प्रकाश पड़ता है । यहाँ विज्ञान जगत् के विनाश के लिए नहीं, अपितु निर्माण के लिये है । भौतिक उन्नति धर्म-विरोधी नहीं है, अपितु उसकी साधिका है ।

लक्ष्मणः—एष मिथिलावृत्तान्तः ।

सीता—अम्हहे, दलन्त-णवणीलुप्पल-सामल-सिणिद्ध-मसिण-सोहमाण-मंसलेन देह-सोहग्गेण विह्मअ-त्थिमिद-ताद-दीसन्तसोम्म-सुन्दरसिरी, अणादर-त्थुडिद-संकर-सरासणो, सिहण्ड-मुद्ध-मुहमण्डलो अज्जउत्तो आलिहिदो ! [अहो, दलन्नवनीलोत्पल-श्यामल-स्निग्ध-मसृण-शोभमान-मांसलेन देह-सौभाग्येन विस्मय-स्तमित-तात-दृश्य-मान-सोम्य-सुन्दर-श्रीरनादरत्रुटित-शंकर-शरासनः, शिखण्ड-मुग्ध-मुखमण्डलः आर्यपुत्र आलिखितः !]

हिन्दी—

लक्ष्मण—यह मिथिला का वृत्तान्त है ।

सीता—अहा ! विकसित नूतन कमल के समान श्यामल, स्निग्ध, मसृण (चिकने) और मांसल (गठे हुए) शरीर की सुन्दरता के कारण जिनकी परम मनोहर शोभा को पिताजी विस्मय से टकटकी लगाकर देख रहे हैं तथा जिन्होंने शिव-धनुष तोड़ डाला है, ऐसे काकपक्षों (प्रसाधित केशों से) रमणीय तथा भोले-भाले मुख वाले 'आर्यपुत्र' ही इसमें चित्रित किये गये हैं ।

संस्कृत-व्याख्या

चित्रार्पितां मिथिलायां श्रीरामस्य नीलकुवलयस्निग्धां मनोहरामाकृतिं निरीक्ष्य प्रसन्ना सती सीता देवी प्राह—अम्महे इति । 'अम्महे' इति पदमाश्चर्य-व्यञ्जकमव्ययपदम् । 'अहो' आर्यपुत्रस्य मनोहरा मूर्तिर्लिखिता । तथाहि—दलत्=विकसितम्, यत् नवं नवीनं, नीलञ्च तदुत्पलं नीलोत्पलं तद्वत् श्यामलं=श्याम-वर्णं, स्निग्धं=चिक्कणं, मसृणं=मृदु, शोभमानं=रमणीयम्, मांसलम्=बलवत् "(बलवान् मांसलोऽसलः" इत्यमरः) देहस्य सौभाग्येन=शरीरस्य सौंदर्येण,

विस्मयेन=आश्चर्येण कृत्वा स्तमितः=निश्चलः, यो मम तातः=पिता जनकः, तेन दृश्यमाना=अवलोक्यमाना सुन्दरी श्रीः=मनोहरा कान्तिर्यस्यैवंविधेः, अनादरेण त्रुटितं=भग्नं, शम्भोः=शंकरस्य शरासनं=धनुर्येन सः, शिखण्डः=बालानां शिखा ("बालानान्तु शिखा प्रोक्ता काकपक्षः शिखण्डकः", इत्यमरः) तेन मुग्धं= सुन्दरं मुखमण्डलं यस्यैवंविधः आर्यपुत्रः आलिखितः । नीलकमलसदृशः परम-रमणीयः आर्यपुत्रोऽत्र लिखितः यस्य शरीर-सौन्दर्येण मुग्ध-मुग्ध इव मम पिता वर्तते । एतेन चित्रकरस्य कौशलम् वस्तु व्यज्यते नायकस्य च रमणीयतातिशयोऽभि-व्यज्यते, इति भावः । [सीतादेव्या मुखादेवंविध-दीर्घ-समास-घटितवाक्यस्य प्रयोगः कवेर्मालतीमाधव-रचनाभ्यासं स्मारयति । नेदं रुचिरमिति तत्त्वम् ।]

टिप्पणी

(१) मिथिलावृत्तान्त को चित्र पर अङ्कित देखकर सीताजी को एकदम पुरानी बातों की स्मृति हो आई । आश्चर्यचकित होकर उन्होंने राम की उसी मनोहर मूर्ति का वर्णन कर दिया । भगवान् राम का सुगठित शरीर, धनुर्भङ्ग का दृश्य, जनक की मनोभावना—सभी का सुन्दर चित्र इस वर्णन में प्राप्त होता है । भवभूति की समर्थ वर्णनशक्ति तथा वाक्सिद्धि का यह वाक्य उदाहरण है । परन्तु सीता के मुख से पूर्वराग के वर्णन में ऐसी वाक्यावली का प्रयोग कराना आलोचकों को खटका हैं ।

(२) अम्महे—आश्चर्यसूचक अव्यय ।

शिखण्डमुग्धमुखमण्डलः—शिखण्डेन=काकपक्षेण, मुग्धं सुन्दरं मुख-मण्डलं यस्य सः । काकपक्ष (बालो की लटों) से सुन्दर मुख वाले ।

"काकपक्षः शिखण्डकः ।"

"मुग्धः सुन्दरमूढयोः ।"

(३) उदात्तालङ्कार ।

—o—

लक्ष्मणः—आर्ये, पश्य पश्य ।

सम्बन्धिनो वसिष्ठादीनेष तातस्तवार्चति ।

गौतमश्च शतानन्दो, जनकानां पुरोहितः ॥१६॥

हिन्दी—

आर्ये ! देखिए, देखिए—

[श्लोक १६]—ये आपके पिताजी जनक-वंश के पुरोहित गौतम-पुत्र शतानन्द के साथ वसिष्ठ आदि सम्बन्धियों का अर्चन कर रहे हैं।

संस्कृत-व्याख्या

एवं सादरं श्रीरामावलोकने निरतायाः सीतादेव्याः औत्सुक्यं वर्धयितुं लक्ष्मणस्तात्कालिकवस्तुसौन्दर्यमभिवर्णयति—सम्बन्धिनः इति ।

आर्ये ! निरीक्ष्यतां परमसुन्दरः समयः । अयं भवत्यास्तातः=पिता वशिष्ठादीन् सम्बन्धिनः समर्चति=पूजयति । जनक-वंशस्य पुरोहितः, गौतम-पुत्रः 'शतानन्द'-श्च सहैव मिलितः । अत्र कविना परमसौन्दर्यं सुपरिकल्पितम् । लक्ष्मणस्य मुखात् 'वसिष्ठादीन् सम्बन्धिनः' इति कथनं कां विच्छित्तिं न जनयति ? सम्बन्धी महाराजदशरथः, तमनुक्त्वा गुरुवर-श्री वशिष्ठस्य नामकीर्तनेन पितुरप्यपेक्षया गुरोर्महत्वं सूच्यते । औदार्यातिशयश्च लक्ष्मणस्येति विज्ञाः विवेचयन्तु ।

अत्र तात-शतानन्दयोरर्चन-क्रियायामुभयोरन्वयात् तुल्ययोगिताऽलङ्कारः ।

तल्लक्षणञ्च यथा—

'पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् ।
एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ॥" इति ॥

अनुष्टुप्छन्दः । प्रसादो गुणः । लाटी रीतिः ॥१६॥

टिप्पणी

(१) यहां लक्ष्मण ने 'वसिष्ठ आदि सम्बन्धियों को' यह कहकर अपनी हार्दिक गुरुभक्ति का परिचय दिया है । सम्बन्धी तो वास्तव में दशरथ थे परन्तु उनका उल्लेख न करके वशिष्ठ जी का ही मुख्य रूप से उल्लेख करना रघुवंश की शिष्टता का द्योतक है ।

(२) शतानन्द—ये गौतम तथा अहिल्या के पुत्र थे और जनक के कुल-पुरोहित थे ।

(३) जनकानाम्—यह शब्द यहा वंश-परम्परा के लिए प्रयुक्त हुआ है । राजा जनक का वास्तविक नाम तो 'सीरध्वज' था ।

रामः—

जनकानां रघूणां च, सम्बन्धः कस्य न प्रियः ।
यत्र दाता ग्रहीता च, स्वयं कुशिकनन्दनः ॥१७॥

हिन्दी—

राम—यह सर्वाङ्ग सुन्दर है ।

[श्लोक १७]—जषक तथा रघुवंश के राजाओं का यह सम्बन्ध किसे प्रिय नहीं है ? जिसमें कि दाता और गृहीता (दोनों ही) स्वयं कुशिकनन्दन (विश्वामित्र) हैं ।

संस्कृत-व्याख्या

सम्बन्धस्य, तादृशस्य समयस्य, स्वेषाञ्च सर्वेषां बन्धूनाम् औचित्यं वर्णयति श्रीरामः—सुश्लिष्टमिति। अहो ! एतत्सर्वमपि सुश्लिष्टं=सुसम्बद्धं घटितम्। किन्तदिति पद्येन विशदयति—जनकानामिति।

जनकानां=जनकवंशीयानां, रघूणाञ्च सम्बन्धः कस्य प्रियो न ? अपितु सर्वस्यैव जनस्यायं सम्बन्धः प्रियः। सम्बन्धस्य प्रियत्वे प्रधानं कारणं निर्दिशति। तथाहि—यत्र दाता गृहीता च स्वयं भगवान् कुशिकन्दनः=विश्वामित्रोऽस्ति। य एव दाता स एव गृहीता ? इत्याश्चर्यम् ! अयमत्र सारः—भगवतो विश्वामित्रस्यैवानुग्रहेणास्माकं मिथिलायां गगनमभूत्, तत्प्रेरणयैव च धनुषो भङ्गः कृतः। अतः सर्वमपि तदीयानुकम्पयैव सम्पन्नं कार्यमिति स एव भगवान् धनुर्भङ्गप्रेरकत्वेन दाता, स एव च तत्र गमनेन ग्रहीता चेति गुरौ विश्वामित्रे कृतज्ञतातिशयः प्रदर्शितः।

अत्र सम्बन्धस्य प्रियतां साधयितुमुत्तरार्धस्य हेतुत्वमिति काव्यलिङ्गालङ्कारः। विवाह-सम्बन्धे महर्षि विश्वामित्रस्य चरितवर्णनेन उदात्तालङ्कारश्च।

टिप्पणी

इस श्लोक में भगवान् राम ने महर्षि विश्वामित्र के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त की है जो कि इस सम्बन्ध के एकमात्र कारण हैं। वे दाता भी हैं और गृहीता भी। 'कुशिकनन्दन' कहने से यह भी ध्वनि निकलती है कि इन्होंने 'क्षत्रिय' की भांति ही हमारे प्रति सजातीय व्यवहार किया है। (विश्वामित्र पहले क्षत्रिय थे, बाद में ऋषि हुये।)

सीता—एदे क्खु तक्कालकिदगोदाणमङ्गला चत्तारो भादरो विआहदिक्खिदा तुह्मे। अह्मो ! जाणामि, तस्सिं जेव्व पदेसे, तस्सिं जेव्व काले वत्तामि। [एते खलु तत्कालकृतगोदानमङ्गलाश्चत्वारो भ्रातरो विवाहदीक्षिता यूयम्, अहो ! जानामि, तस्मिन्नेव प्रदेशे, तस्मिन्नेव काले वर्ते।]

राम :—

समयः स वर्तत इवैष यत्र मां,
समनन्दयत्सुमुखि ! गौत्तमार्पितः।
अयमागृहीतकमनीयकङ्कण—
स्तव मूर्तिमानिव महोत्सवः करः ॥१८॥

हिन्दी—

सीता—ये तत्काल 'गोदान-संस्कार' (मुण्डन) कराये हुए, विवाह के लिए दीक्षित आप चारों भाई हैं। ओ, मुझे तो ऐसा लग रहा है जैसे कि मैं उसी स्थान और उसी समय में ही हूं।

राम—[श्लोक १८] सुमुखि सीते ! मुझे तो ऐसा लग रहा है कि मानों यह वही समय है जबकि कमनीय कंकरण से अलंकृत, गौतम (शतानन्द) के द्वारा (मेरे हाथ में) पकड़ाये हुए तुम्हारे इस हाथ ने मूर्तिमान् महोत्सव की भांति मुझे आनन्दित किया था।

संस्कृत-व्याख्या

एते खलु—इति गोदानम्=गावः केशाः, दीयन्ते=कर्त्यन्ते यस्मिन् तत् मंगलम्। गोपूर्वकात् √'दो अवखण्डने' इति धातोः 'करणाधिकरणयोश्च' इत्यधिकरणे ल्युट् प्रत्ययः। तत्काले=तस्मिन्नेव समये कृतं गोदानं मंगलं यैर्येषां वा ते। विवाह-संस्कारार्थं दीक्षिताः=गृहीतदीक्षाव्रताः। इदं चित्रं निरीक्ष्य अहन्तु जानामि—यत्तत्रैव=मिथिलायामेव तस्मिन्नेव विवाह-समये विद्यमानास्मि। चित्रदर्शनेन सर्वमपि पुराभवं वृत्तं प्रत्यक्षीकरोमि। इति भावः।

सीतादेव्या मुखात् पुरातनवृत्तान्तमाकर्ण्य भगवान् रामोऽपि तथैवाह—समय इति।

सुमुखि सीते ! अहमपि जाने स एव समयो वर्तत इव, यस्मिन् समये आगृहीतं=धृतं कमनीयं कर-कंकणं यस्मिन् स एवायं परिगृहीतकङ्कणस्तव करः गौतमेन जनक-पुरोहितेन मह्यं दत्तः मूर्तिमान् महोत्सव इव मां समनन्दयत्। अहमपि तमेव विवाह-महोत्सवं प्रत्यक्षत इव पश्यामि।

अत्र उत्प्रेक्षालङ्कारः। 'इव' शब्द-प्रयोगाद् वाच्या। तल्लक्षणञ्च यथा—

"सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना।
वाच्येवादिप्रयोगे स्यात् ········· ॥ इति।

भूतस्य वृत्तान्तस्य प्रत्यक्षीकरणाद्भाविकोऽलङ्कारश्च। तल्लक्षणञ्च यथा—

"अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः।
यत् प्रत्यक्षायमाणत्वं, तद्भाविकमुदाहृतम् ॥" इति।

मञ्जुभाषिणी च्छन्दः। तल्लक्षणं च यथा—

"सजसा जगौ भवति मञ्जुभाषिणी। इति।

प्रसादो गुणः। लाटी रीतिः।

टिप्पणी

(१) गोदान—" गावो लोमानि=केशा दीयन्ते=कर्त्यन्ते' अर्थात् जिसमें केश दिये अर्थात् मुंडाये जाते हों; उस संस्कार को 'गोदान' कहते हैं। यह विवाह

से पूर्व होता है। कुछ टीकाकारों ने विवाह से पूर्व गौओं के वितरण को ही 'गोदान' माना है। परन्तु पहला अर्थ ही अधिक समीचीन है।

'गो' पूर्वक √ 'दो' (अवखण्डने) धातु से ल्युट् होकर 'गोदान' की सिद्धि होती है।

(२) श्लोक में उत्प्रेक्षा तथा भाविक अलङ्कार हैं।

लक्ष्मण——इयमार्या। इयमप्यार्या माण्डवी। इयमपि वधूः श्रुतकीर्तिः।

सीता——वच्छ, इअं वि अवरा का ? [वत्स, इयमप्यपरा का ?]

लक्ष्मणः——(सलज्जास्मितम्। अपवार्य) अये, उर्मिला पृच्छत्यार्या। भवतु। अन्यतः सञ्चारयामि। (प्रकाशम्।) आर्ये! दृश्यतां द्रष्टव्यमेतत्। अयं च भगवान्भार्गवः।

सीता——(ससंभ्रमम्।) कम्पिदह्मि ! [कम्पितास्मि !]

रामः——ऋषे ! नमस्ते।

लक्ष्मणः——आर्ये ! पश्य। अयमर्येण——(इत्यर्धोक्ते।)

रामः——(साक्षेपम्) अयि, बहुतरं द्रष्टव्यम्। अन्यतो दर्शय।

सीता——(सस्नेहबहुमानं निर्वर्ण्य।) सुट्ठु सोहसि अज्जउत्त ! एदिणा विणअमाहप्पेण। [सुष्ठु शोभसे आर्यपुत्र। एतेन विनयमाहात्म्येन।

लक्ष्मण——एते वयमयोध्यां प्राप्ताः।

रामः——(सास्रम्।) स्मरामि हन्त ! स्मरामि।

जीवत्सु तातपादेषु, नूतने दारसंग्रहे।
मातृभिश्चिन्त्यमानानां, ते हि नो दिवसा गताः ॥११॥

हिन्दी—

लक्ष्मण—यह आप हैं। यह (भरत जी की धर्मपत्नी) आर्या माण्डवी हैं और यह वधू श्रुतकीर्ति (शत्रुघ्न-पत्नी) है।

सीता—वत्स ! और यह दूसरी कौन है ?

लक्ष्मण—(लज्जा और मुस्कराहट से दूसरी ओर को स्वयं ही) अरे, अरे, आर्या (भाभी) उर्मिला को पूछ रही हैं ! अस्तु, (अन्य वृत्तान्त दिखलाकर) दूसरी

ओर इनका ध्यान आकृष्ट करता हूं। (प्रकाश में) आर्ये, देखिये, यह द्रष्टव्य है (प्रष्टव्य नहीं, अतः एकाग्रचित होकर इस दर्शनीय चित्र को देखिये।) ये भगवान् भार्गव (परशुराम जी) हैं।

सीता—(घबराहट से) मैं तो भय से कांप उठी हूं।

राम—ऋषे ! आपको प्रणाम है।

लक्ष्मण—आर्ये ! देखिये। इन्हें आर्य ने ··· ··· यह आधा कहने पर बीच में ही)।

राम—(निषेध करते हुए) अरे भाई ? बहुत कुछ देखना है। अतः दूसरा दृश्य दिखलाओ।

सीता—(सस्नेह सम्मानपूर्वक देखकर) आर्यपुत्र ! आप इस विनय-प्रकर्ष से बहुत सुशोभित होते हैं।

लक्ष्मण—(लीजिए,) अब हम लोग अयोध्या में आ गये हैं।

राम—(आंसुओं के साथ) स्मरण करता हूं ! हन्त ! स्मरण करता हूं !

[श्लोक १९,] 'जब पिताजी जीवित थे; हमारा नया-नया विवाह हुआ था; माताएं सब प्रकार से हमारी चिन्ता रखती थीं; (हा !) आज हमारे वे (सुखमय) दिन चले गये।"

संस्कृत-व्याख्या

चित्रे विन्यस्तानां सर्वासां वधूनां परिचयं प्रददाति लक्ष्मणः—

इयमिति। इयं=सम्मुखे (चित्रे) लिखिता आर्या=श्री सीतादेवी। इयमप्यार्या श्रेष्ठा 'माण्डवी'=जनकराजस्य कनीयसो भ्रातुः 'कुशध्वजस्य' पुत्री श्रीभरतस्य धर्मपत्नी। इयमपि च वधूः 'श्रुतकीर्तिः'=कुशध्वजस्य कनिष्ठा पुत्री। आयुष्मतः शत्रुघ्नस्य पत्नी। ज्येष्ठयो 'रार्या'-पदेन, व्यपदेशः। एतेन लक्ष्मणस्य शिष्टता प्रदर्शिता भवति।

लज्जावशात्स्व-पत्न्याः ज्येष्ठयोस्तयोः सम्मुखे परिचय-प्रदानमनुचितमिति मत्वा तस्या नामकीर्तनं नैव कृतमिति परिहासार्थं सीता देवी पृच्छति—वत्स—इति। वत्स ! इयमप्यपरा=अवशिष्टा का ? एतस्याः परिचयः कथं न दीयते ?

सलज्जं सस्मितञ्चास्य प्रश्नस्याशयं ज्ञात्वा (स्वगतम्) प्राह। अये—इति। ऊर्मिलां=लक्ष्मणपत्नीं, पृच्छति आर्या=सीता देवी मम पत्नीं पृच्छति। 'स्वगतम्' स्व-मनसि कथनं स्वगतं भवति। तथा चोक्तम्—

'अश्राव्यं खलु यद् वस्तु, तदिह स्वगतं मतम्' ॥ इति।

अस्तु, अन्यतः सञ्चारयामि=अन्यं वृत्तान्तं दर्शयिष्यामि। येनेयमस्याः (मम पत्न्याः) प्रसंगं विस्मरिष्यति। इति (प्रकाशम्) सर्वश्राव्यतया। सिद्धान्तितञ्च यथा-

"सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्।"। इति।

आर्ये ! इदं द्रष्टव्यम् पुरस्तादवश्यं प्रेक्षणीयं वस्तु दृश्यताम् । अयञ्चाग्रे भगवान् भार्गवः=परशुरामोऽस्ति । अपि च—इदं केवलं द्रष्टव्यमेव । नत्वत्र प्रश्नावकाशोऽस्ति । अतः सावधानतया पश्यतु केवलं भवती । इति भावः ।

परशुराम-दर्शनेन सीता सकम्पा संजाता । श्रीरामेण च नमस्कारो विहितः । लक्ष्मणेन "धनुर्भङ्गसमये परशुरामः श्रीरामेण पराजितः" इति स्व-प्रशंसामनाकर्णयन् भगवान् रामः साधिक्षेपं=सनिषेधं प्राह—अयि-इति । वत्स ! बहुतरं दृश्यं वर्तते । अग्रे दर्शय किमपि । ब्राह्मणस्यापमानप्रसंगोऽपि मह्यं न रोचते । ब्राह्मणास्तु प्रणम्या एव भवन्ति ।

एवंवादिनं महाराजं सस्नेहं सादरञ्च निरीक्ष्य सीतादेवी प्राह—सुष्ठु इति । आर्यपुत्र ! अनेन विनयस्य माहात्म्येन भवानत्यर्थं शोभते । एवंविधो विनयोऽन्यत्र नावलोक्यते, इति भावः । "एते वयमयोध्यां प्राप्ताः" इति श्रुत्वैव स्मृतपूर्ववृत्तान्तो भगवान् रामः पितृमातृ स्मरणपूर्वकं गतानां दिवसानां सम्बन्धे साश्रुः प्राह—

जीवत्सु—इति । तातपादास्तदा जीवन्ति स्म नवो विवाहोऽभूत् मातरस्सदा सर्वात्मनाऽस्माकं चिन्तां कुर्वन्ति स्म । यत्सत्यं ते दिवसा अस्माकं गताः ।

परममार्मिकोऽयं श्लोकः । भावानां सौकुमार्यं, यथार्थता चात्र सविशेषं समुपस्थापिता कविना । पित्रोः समय एव विवाहः शोभते । इदानीञ्च सर्वोऽपि भारो ममैव शिरसि निपतितः, इति भावः । 'भ्रातृभिश्चिन्त्यमानानाम्' इति क्वचित्पाठः । परमयमस्मभ्यन्तु न रोचते । मातॄणां चिन्तायां स्वाभाविक वात्सल्यं सुखानुभूतिश्च । भ्रातृभिः कीदृशी चिन्ता कृता ? कश्चात्र तस्या उपयोगः ? शेषं विवेचकाः विवेचयन्तु । अत्र "ते" इति अनुभूतेऽर्थे प्रयुज्यते । अतएव यच्छब्दोपादानस्यापेक्षा नास्ति । तथा चोक्तं 'साहित्यदर्पणे'—

"तच्छब्दस्य प्रक्रान्तप्रसिद्धानुभूतार्थत्वे यच्छब्दस्यार्थत्वम् ।" इति ।

"स्मरामि हन्त ! स्मरामि" इत्यत्र पितृमरणजन्यशोकाद्विषादोऽतो न पुनरुक्तिः । तथा चोक्तं तत्रैव—

"कथितञ्च पदं पुनः—

विहितस्यानुवाद्यत्वे विषादे विस्मये क्रुधि ।
दैन्येऽथ लाटानुप्रासेऽनुकम्पायां प्रसादने ॥
अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्ये, हर्षेऽवधारणे ॥" इति

अन्यत्र च—

"विषादे विस्मये हर्षे शोके दैन्येऽवधारणे ।
प्रसादने सम्भ्रमे च द्विस्त्रिरुक्तिर्न दुष्यति ॥" इति ।

"तात पादेषु" इत्यत्र बहुवचन दाने प्रामाण्यम्—

"एकत्वं न प्रयुञ्जीत, गुरावात्मनि चेश्वरे ।" इति ।

"पादचरणादि" शब्दाश्च पूज्यत्वातिशयद्योतनाय प्रयुज्यन्ते सर्वत्र काव्येषु।

एकस्मिन् पितृजीवनरूपे कारणे विद्यमानेऽपि कारणान्तर-प्रदानेनात्र 'समुच्चयोऽलंकारः। तल्लक्षणञ्च—

"समुच्चयोऽयमेकस्मिन् सति कार्यस्य साधके।
खले कपोतिकान्यायात्तत्करः स्याद् परोऽपि च॥" इति॥

अनुष्टुप् छन्दः। लाटी रीतिः। प्रसादो गुणः॥१६॥

टिप्पणी

(१) 'वत्स! इयमपरा का?' कहकर सीताजी ने बड़ी मीठी चुटकी ली है। उर्मिला के विषय में संस्कृत में जो थोड़ा बहुत लिखा गया है। उसमें इस पंक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(२) 'अपवार्य—एक ओर को मुख करके कोई बात कहना जिससे कि दूसरा पात्र उस कथन को न सुन सके। प्रो० काणे का मत है कि 'अपवार्य' के स्थान पर 'स्वगत' का प्रयोग होना चाहिए।

(३) (प्रकाशम्) "सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्।" उस बात को, जिसे सभी सुन सकें, 'प्रकाश' कहते हैं। जो स्वयं मन ही मन में कही जाय उसे 'स्वगत'।

(४) "अयि, बहुतरं द्रष्टव्यम्, अन्यतो दर्शय।" भगवान् राम का यह कथन उनकी अनुपम शालीनता का द्योतक है। परशुराम जी के मानभंग का प्रसंग उठाने पर भी वे उसे पसन्द नहीं करते; उस दृश्य को छोड़कर आगे बढ़ने का अनुरोध करते हैं।

(५) 'ते हि नो दिवसा गताः' में पिछली अनुभूतियों के लिए कितनी लालसा, उत्सुकता और व्यथा है।

इयमपि तदा जानकी।

प्रतनुविरलैः प्रान्तोन्मीलन्मनोहरकुन्तलै-
दशनकुसुमैर्मुग्धालोकं शिशुर्दधती मुखम्।
ललितललितैर्ज्योत्स्नाप्रायैरकृत्रिमविभ्रमै-
रकृत मधुरैरम्बानां मे कुतूहलमङ्गकैः॥२०॥

अन्वय—प्रतनुविरलैः, प्रान्तोन्मीलन्मनोहरकुन्तलैः, दशन-कुसुमैः, मुग्धालोकं, मुखं, दधती (इयं), शिशुः, ललितललितैः ज्योत्स्नाप्रायैः, अकृत्रिमविभ्रमैः, मधुरैः, अङ्गकैः, मे, अम्बानां, च, कुतूहलम्, अकृत॥२०॥

हिन्दी—

और उस समय यह जानकी भी—

[श्लोक २०,] "छोटे-छोटे और छीदे-छीदे कुसुम-कलिकाओं के समान कमनीय दांतों तथा कपोलों पर सुशोभित होती हुई मनोहर काली-काली, घुंघराली अलकों से रमणीय एवं भोले-भोले मुख को धारण करती हुई थोड़ी-सी अवस्था वाली अत्यन्त सुन्दर, चन्द्रिका के समान गौरवर्ण, स्वाभाविक हाव-भावों से युक्त अपने अङ्गों से मेरा तथा माताओं का कौतूहल बढ़ाया करती थी।

संस्कृत-व्याख्या

पितृ-मातृ-सुखन्तु आसीदेव, परमियं जानकी देव्यपि तस्मिन् समये मातॄणां सुख-प्रमोदयोः कारणमासीत् इति निर्दिशति–प्रतनु इति। अत्र चूर्णकोक्तं "इयमपि तदा जानकी" इति पदं कर्तृत्वेनान्वेति। नाटकादौ "गद्यभागः" "चूर्णकम्" इत्युच्यते। इति ध्येयम्। अस्याः बाल्यावस्थायां (सीता विवाहसमये षड्वर्षाऽऽसीत्। वाल्मीकि रामायणेऽरण्यकाण्ड ४७ सर्गे रावणं प्रति सा प्राह—"उषित्वा द्वादशसमा इक्ष्वाकूणां निवेशने" इति "अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्मनि गण्यते।। इति च) दन्ताः प्रकर्षेण तनवः=सूक्ष्माः कुसुमानीव शोभमानाः किञ्च कपोल प्रान्ते मनोहरकेशा विराजमानाः अभूवन्, एव मुग्धः आलोकः=दर्शनं यस्यैवविधं मुखं दधती=धारयन्ती, स्वकीयैः ललित-ललितैः=परम-रमणीयैः, ज्योत्स्ना-सदृशैः गौरवर्णैः, मधुरैः प्रियैः अङ्गकैः=कोमलैरंगैः, ममाम्बानां कुतूहलम् अकृत=अतनोत। एतस्याः सुन्दरदन्तकुसुमसदृशं मुखं, कोमलानि चाङ्गानि समवलोक्य मातरः प्रत्यहं (प्रतिदिनम्) प्रसन्ना भवन्ति स्मेति सारः।

अत्र पदानां काठिन्यात् समास-प्रदर्शनं क्रियते-प्रतनूनि च विरलानि च तैः, प्रान्ते=ओष्ठप्रान्ते उन्मीलन्तः विकसन्तः मनोहराः कुन्तला येषां तैः, दशनाः=दन्ताः कुसुमानि=पुष्पाणि इव तैः, "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे" इत्युपमित-समासः। ललितादपि ललितानि, ज्योत्स्नाभिः प्रायाणि=चन्द्रिकातुल्यानि, तैः; अकृत्रिमः=स्वाभाविकः-विभ्रमो येषु तैः। "अङ्गकैः" इत्यत्र—"अनुकम्पायाम्" इत्यनुशासनेन "कन्" प्रत्ययः। अथवा—"अल्पे" इति सूत्रेण "कन्" प्रत्ययः।

क्वचित्—"पतन-विरलैः" इति, "अङ्गानाम्" इति च पाठभेदो दृश्यते। बालकानां दन्ता निपतन्ति, अतो विरलास्तेऽभवन्। अङ्गानामित्यस्य "मे" इत्यनेन सम्बन्धः। ममाङ्गानां कुतूहलमकरोत्, इति सम्बन्धः। एतेन सीता तदानीं स्वल्पावस्था सम्पन्नाऽऽसीदिति भावः। 'आलोको दर्शनोद्योतौ" इति कोशबलादत्र दर्शनरूपोऽर्थो गृह्यते। "आलोको जयशब्दः स्यात्" जयार्थकस्तु स नाङ्गीकृतः।

ललितञ्च—'कुसुमारतयाऽङ्गानां विन्यासो ललितं भवेत्" इति 'दर्पणम्'। "दशनानि कुसुमानीलेत्यत्र" "ज्योत्स्ना-प्रायैः" इत्यत्र च उपमा-द्वयम्। लक्षणञ्चः—

'साम्यं वाच्य मवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमाद्वयोः।' इति।

विभ्रमस्वरूपञ्च—

"त्वरया हर्षरागादेर्दयितागमनादिषु।
अस्थाने भूषणादीनां विन्यासो 'विभ्रमो" मतः।" इति।

हरिणीच्छन्दः । तल्लक्षणञ्च यथा—

"रसयुगहयैन्सौम्रौस्लौगो, यदा हरिणी तदा ।" इति ।

माधुर्यमत्र गुणः । गौडी रीतिः । "गौडी डम्बरबद्धा स्यादिति" लक्षणात् ।

टिप्पणी

(१) प्रतनुविरलैः=छीदे-छीदे । कहीं-कहीं 'पतनविरलैः' पाठ भी मिलता है । बाल्यावस्था में दाँत पूरे नहीं निकल पाये थे । वाल्मीकि-रामायण से पता चलता है कि विवाह के समय सीताजी की अवस्था ६ वर्ष की थी । अरण्यकाण्ड में रावण को उन्होंने अपना ऐसा ही परिचय दिया है । "उषित्वा द्वादश समा इक्ष्वाकूणां निवेशने" × × × "अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्मनि गण्यते ।" सीता की बाल्यावस्था का भगवान् राम ने वड़ा ही हृदयग्राही वर्णन किया है ।

(२) उपमाऽलङ्कार । हरिणी छन्द ।

लक्ष्मण :—एष मन्थरावृत्तान्तः ।

राम :—(सत्वरमन्यतो दर्शयन् ।) देवि वैदेहि ?

इंगुदीपादपः सोऽयं शृङ्गवेरपुरे पुरा ।

निषाः पतिना यत्र, स्निग्धेनासीत्समागमः ॥२१॥

लक्ष्मण :—(विहस्य । स्वगतम् ।) अये, ध्यमाम्बावृत्तान्तो आर्येण ।

अन्वयः—शृङ्गवेरपुरे, अय, स, इंगुदीपादपः, यत्र, पुरा, स्निगवेन, निषाद-पतिना, (सह) समागम आसीत् ॥ २१ ॥

हिन्दी—

लक्ष्मण—यह "मन्थरा" का वृत्तान्त है ।

राम—(शीघ्रता से दूसरी ओर दिखलाते हुए) देवि ! जानकी !

[श्लोक २१]—शृङ्गवेरपुर में यह वही 'इंगुदी' (हिङ्गोट) का वृक्ष है, जहां पहिले परम-स्नेही निषादराज गुह के साथ हमारा परिचय हुआ था ।

लक्ष्मण—(हंसकर स्वयं ही) अरे, 'आर्य ने' मझली माता ("कैकेयी") का वृत्तान्त छोड़ दिया है ।

संस्कृत-व्याख्या

लक्ष्मण—प्रदर्शितं मन्थराया वृत्तान्तं सत्वरं परिहरन् रामः सीताम्प्रति चित्रान्तरदर्शन-पुरस्सामाह—इंगुदीति ।

देवि सीते ! अयं स 'इंगुदी' 'हिंगोट' इति प्रसिद्धो वृक्षोऽस्ति यत्र

स्निग्धेन=स्नेहयुक्तेन परमभक्तेन निषादराजेन "गुहेन" सहास्माकं समागमोऽभूत्। शृङ्गवेरपुरञ्चाधुना "चुनार" संज्ञक प्रसिद्धं स्थानमस्ति। एतेन पादपप्रदर्शनेन प्रियवयस्यो गुहः स्मृतिपथारूढः समजनि ॥२१॥

मन्थरा-वृत्तान्तपरित्यागेन (भगवतो रामस्यौदार्यातिशयं सूचयन्) सहर्षं स्वगतमाह लक्ष्मणः—अये इति। अहो आर्येण=श्रीरामेण मध्यमाम्बायाः=कैकेय्याः, वृत्तान्तोऽन्तरितः=व्यवहितः। तस्य स्मरणेन कदाचित्क्षोभः स्यात् सीतादेव्या मनसि, निन्दा च मातुर्भवेदिति कृत्वाऽयं वृत्तान्तः परित्यक्तः। इति तत्वम्।

टिप्पणी

(१) 'एष मन्थरावृत्तान्त'—कहकर लक्ष्मण ने पुनः एक विगत कटु प्रसंग की अवतरणा की, किन्तु भगवान् राम ने उस दृश्य से सीता का ध्यान दूसरी ओर कर दिया। वे नहीं चाहते थे कि माता कैकेयी के प्रति कोई अनुचित भावना रखी जाये। भगवान् राम की उदारता का कैसा सुन्दर निदर्शन है।

(२) राम एक ओर तो कटु-प्रसंगों को भुलाते चलते हैं, परन्तु श्रद्धालु और स्नेही-जनों को नहीं भूलते। निषाद-राज गुह का वह कैसे प्रेम से स्मरण करते हैं!—'आससाद महाबाहुः शृंङ्गवेरपुरं, प्रति।" गुह शृंङ्गवेरपुर का राजा था। वर्तमान 'चुनार' ही था, ऐसा लोगों का विचार है।

इङ्गुदीवृक्ष' के सम्बन्ध में रामाचण में भी उल्लेख है—

"अविदूरादयं नद्याः बहुपुष्पप्रवालवान्।
सुमहानिङ्गुदीवृक्षो, वासामोऽत्रैव सारथे॥"

सीता—अह्मो, एसो जडासंजमणवुत्तन्तो? [अहो, एष जटासंयमनवृत्तान्तः?]

लक्ष्मण:—

पुत्रसंक्रान्तलक्ष्मीकैर्यद्वृद्धेक्ष्वाकुभिर्धृतम्।
धृतं बाल्ये तदार्येण पुण्यमारण्यकव्रतम् ॥२२॥

अन्वयः—पुत्रसंक्रान्तलक्ष्मीकैः, वृद्धेक्ष्वाकुभिः, यत्, धृतम्, तत्, पुण्यम्, आरण्यमंव्रतम्, आर्येण, बाल्ये, धृतम् ॥२२॥

हिन्दी—

सीता—ओह! यह 'जटा-धारण' करने का वृत्तान्त है।

[श्लोक २२]—पुत्रों को राज्य-भार सौंपकर 'इक्ष्वाकु'-वंश के वृद्ध राजागण जिस वनवास के व्रत को धारण किया करते थे, उस पुण्यव्रत को 'आर्य' ने बाल्यावस्था में ही धारण कर लिया था।

संस्कृत-व्याख्या

सीताया मुखात् जटासंयमनवृत्तान्तचर्चामाकर्ण्य लक्ष्मणः प्राह—पुत्रेति ।

पुत्रेषु संक्रान्ता=समर्पिता लक्ष्मीर्यैस्तैः, वृद्धाश्च ते इक्ष्वाकवः=इक्ष्वाकुवंशोत्पन्नाः राजानस्तैः; यत् पुण्यं—पुण्यजनकं, आरण्यक-व्रतं वानप्रस्थव्रतं धृतम्=स्वीकृतम्, तथैव व्रतमार्येण बाल्यावस्थायामेव धृतम् । अयमाशयः—

इक्ष्वाकु-वंशजा राजानो वृद्धावस्थायां स्वकीयां राज्यलक्ष्मीं पुत्रेभ्योऽर्पयित्वा वानप्रस्थव्रतमङ्गी-कुर्वन्ति स्म परं श्री रामचन्द्रेण तु बाल्यावस्थायामेव तद्व्रतमङ्गी-कृतम् । तेषामारण्यकव्रतस्वीकृतौ कारण-द्वयमासीत्–पुत्रेषु लक्ष्मीप्रदानत्वम् वृद्धत्वञ्च । परमार्येण तु पुत्रोत्पत्याः वृद्धावस्थायाश्च पूर्वमेव व्रतं स्वीकृतम् । इत्याश्चर्यम् । महोदारस्यार्यस्य परमपावनमिदमनुकरणीयं चरितम् ।

अत्र "धृतमि" त्यत्र वारद्वयं पाठात् कथितपदत्वं नाशङ्कनीयम्–तस्योद्देश्य-प्रतिनिर्देश्यव्यतिरिक्तत्वात् । यद्वस्तु उद्देश्यम्=वक्तव्यत्वेन सम्मत तस्यैवावश्य–कत्वेन पुनः कथने पुनरुक्तिः कथितपदता वा नैव भवति । प्रत्युत वैचित्र्यमायाति । यथा—

> "उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च ।
> सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ॥"

इत्यत्र "ताम्रत्वं" विहाय "रक्तत्वं" यदि क्रियेत, तदाऽन्यतेव प्रतीयेत । अतस्तस्यैव पाठः समुचितः । क्वचित्—पूर्वार्धे ' कृतम्" इति पाठः । तत्र व्रतं कृतम्-इत्यन्वये यथार्थं बोधो न भवति । 'कृत'मित्यस्य=स्वीकृतमित्यर्थो लक्षणया धातूनामनेकार्थत्वाद्वा स्वीक्रियते, तदा तु नातिदोष इति सुधीभिर्ध्येयम् ।

अत्र वृद्धेक्ष्वाकूणामपेक्षया बालस्यार्ये याधिक्याद् व्यतिरेकालङ्कारः । तल्लक्षणञ्च यथा—

"आधिक्य मुपमेय य उपमानान्न्यूनताऽथवा व्यतिरेकः······ ॥इति॥

वृद्धेक्ष्वाकूणां व्रतं कथं श्रीरामेण धर्तुं शक्यते, नहि-अन्यस्य धर्ममन्यो वोढुं शक्नुयादिति बिम्बप्रतिबिम्बभावादुपमायां पर्यवसानमिति "निदर्शना"ऽलङ्कारः । तल्लक्षणञ्च यथा—

> "सम्भवन् वस्तु सम्बन्धोऽसम्भवन् वापि कुत्रचित् ।
> यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना ।।" इति ॥

पथ्यावक्त्रछन्दः । तल्लक्षणं यथा—

> "युजोर्जेन सरिद्भर्तुः पथ्यावक्त्र प्रकीर्तितम् ॥"इति ॥

गुणः प्रसादोऽत्र । रीतिश्च लाटी ।

टिप्पणी

(१) पुत्रसंक्रान्तलक्ष्मीकैः=पुत्रेषु संक्रान्ता लक्ष्मीर्यैस्तैः । वृद्धावस्था में इक्ष्वाकुवंशीय राजा पुत्रों पर राज्य का भार छोड़कर वन में चले जाया करते थे—

"गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ।"

(कालिदासः)

किन्तु भगवान् रामचन्द्र ने तो उस आरण्यक-व्रत (वानप्रस्थ-व्रत) को बाल्यावस्था में ही ग्रहण कर लिया था।

(२) आरण्यकं व्रतम् । ['अरण्य+वुञ्' ("अरण्यान्मनुष्ये")] वानप्रस्थ-व्रत। वानप्रस्थाश्रम के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य-स्मृति में लिखा है:—

"सुतविन्यस्तपत्नीकस्तया वानुगतो वनम् ।
वानप्रस्थो ब्रह्मचारी साग्निः सोपासनो व्रजेत् ॥"

(३) व्यतिरेक तथा निदर्शना अलङ्कार ।

सीता—एसा पसण्णपुण्णसलिला भअवदो भाईरही । [एषा प्रसन्नपुण्यसलिला भगवती भागीरथी ।]

राम:—रघुकुलदेवते ! नमस्ते ।

तुरगविचयव्यग्रानुर्वीभिदः सगराध्वरे,
कपिलमहसा रोषात्प्लुष्टान्पितुश्च पितामहान् ।
अगणिततनूतापस्तप्त्वा तपांसि भगीरथो,
भगवती ! तव स्पृष्टानद्भिश्चिरादुदतीतरत् ॥२३॥

सा त्वमम्ब ! स्नुषायामरुन्धतीव सीतायां शिवानुध्याना भव ।

अन्वयः—भगवति ! भगीरथः, अगणिततनूतापः (सन्), तपांसि तप्त्वा, तव, अद्भिः, स्पृष्टान्, सगराध्वरे, तुरगविचयव्यग्रान्, उर्वीभिदः, रोषात्, कपिलमहसा प्लुष्टान्, पितुः पितामहान्, चिरात् उदतीतरत् ॥ २३ ॥

हिन्दी—

सीता—यह पुण्यसलिला भगवती भागीरथी है।

राम—रघुकुल की देवि ! आपको प्रणाम है।

[श्लोक २३]—भगवति ! जाह्नवि ! राजा सागर के यज्ञ के घोड़े को खोजने में व्याकुल पृथ्वी को खोदने वाले तथा महर्षि कपिल की क्रोधाग्नि से दग्ध अपने पिता (दिलीप) के भी पितामह (सगरपुत्रों) को शारीरिक कष्टों का तनिक भी विचार न करते हुए, भगीरथ ने (घोर) तपस्या कर तुम्हारे पवित्र जल के सम्पर्क से पार कर दिया था (उनका उद्धार कर दिया था)।

वह (रघुकुल की प्रसिद्ध देवि) मां ! पुत्रवधू सीता के लिए भगवती अरुन्धती की भांति सदा कल्याण-कारिणी होना।

संस्कृत-व्याख्या

भगवतीं भागीरथीं निरीक्ष्याह सीता देवी—एसा इति। प्रसन्नं=निर्मलं, पुण्यं=पुण्यजनकञ्च सलिलं यस्याः सा भगवती भागीरथी=श्रीगंगादेवी वर्तते।

भगीरथेन स्वपूर्वजानामुद्धाराय चिरं तपस्यां विधाय श्रीविष्णोः शङ्करस्य च कृपया समानीतेति भागीरथीति ख्यातिं गतेति भावः।

रघुकुलस्य देवतां भगवतीं भागीरथीं प्रणम्य भगवान् रामः प्राचीनेतिहास-निरूपणपूर्वकं श्रीभागीरथ्या महिमानं गायति—तुरग इति।

तुरगेति। भगवति! भागीरथि! त्वं वस्तुतो रघुकुलस्यैव स्यात् स यतः सगरस्यास्माकं पूर्वजस्याध्वरे=यज्ञे यज्ञीयाश्वपरिगवेषणार्थं सकलामपीमां (पृथिवीं) खनतः कपिलस्य महर्षेः क्रोधाग्नौ दग्धान् स्वपितुरपि पितामहान् अगणितः=नैं विचारितः, तन्वाः=शरीरस्य तापो येन सः, भगीरथः सुचिरं तपांसि तप्त्वा समानीताभिरद्भिः=गंगाजलैःस्पृष्टान् सुचिरायोदतीतरत्=उत्तारितवान्।

राज्ञा सगरेण शतसंख्यकाश्वमेधयज्ञान् कर्तुं प्रतिज्ञा कृता। नवनवति यज्ञा निर्विघ्नं सम्पूर्णाः, शततमे यज्ञे विघ्नमाधातुमिन्द्रेण यज्ञीयोऽश्वः स्वयमपहृत्य पाताले तपस्यतः कपिलमुनेः सविधे बद्धः। अश्वानुयायिभिश्च सर्वत्र गवेषणां कुर्वद्भिः पृथिवीं विदार्य कपिलस्यान्तिकेऽश्वमुपलभ्यानुचितैर्वाक्यैः परिकोपितो महा-मुनिः। भस्मसात्कृताश्च तेन महात्मनाऽनुचितवादिनस्ते सर्वे राजपुत्राः। तेषामुद्धारार्थं ऽसमञ्जसः अंशुमान्, दिलीपश्च क्रमशो यत्नं चक्रुः, परं निष्फलास्ते सर्वे कथावशेषाः सञ्जाताः। अनन्तरं भगीरथेन महता तपसा प्रसाद्य भगवन्तं विष्णुं तदनुरोधाच्च शंकरं, समानीता स्वरथमनुधाविता भगवती जाह्नवी पावन-जल-स्पर्शेण तान् मुक्तान-करोत् इति रामायणकथाऽत्रानुसन्धातव्या।

अत्र भागीरथ्या वर्णनेन सगरात्मजानां महिमानुकीर्तनाद् उदात्ताऽलङ्कारः। लक्षणमुक्तं प्राक्। हरिणीच्छन्दः। ओजो गुणः। तल्लक्षणञ्च—

"ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते।" इति।

गौडी च रीतिः।

क्वचित्—"अगणिततनूपातम्" इति "उददीधरत्" इति च पाठान्तरम्। शरीरपातोऽपि न परिगणितो यस्याम् क्रियायामिति क्रियाविशेषणम्। उद्धृतवानिति च क्रमशोऽर्थः॥ २३॥

पुनर्भगवतीं प्रार्थयते सा त्वमिति। सा रघुकुलस्य प्रसिद्धा त्वं देवीति स्नुषायां =पुत्रवध्वां सीतायां भगवत्यरुन्धतीव शिवस्य=कल्याणस्यानुध्याने=चिन्तने परा =तत्परा भव—इति ममास्ति प्रार्थना।

अत्र "बीजार्थस्य प्ररोहः स्यादुद्भेदः" इति लक्षणलक्षितः "उद्भेदः" मुख सन्ध्यङ्गतयोपन्यस्तः। अपरे पुनः—"बीजानुगुणप्रोत्साहनं भेदः" इति स्वीकुर्वन्ति"।

एतत्प्रार्थनानुसारमेव भगवत्या गंगादेव्याः संरक्षणं कृतमिति स्फुटी-भविष्यति।

टिप्पणी

(१) भागीरथी—भगीरथेन आनीता इति। गंगावतरण की कथा इस प्रकार है:—

"राजा सगर ने सौ यज्ञ करने का संकल्प किया। उनके निन्यानवें यज्ञ तो निर्विघ्न समाप्त हो गये, परन्तु सौवें यज्ञ में (अपना पद छिन जाने के भय से) इन्द्र ने यज्ञ के घोड़े को चुराकर पाताल में तपस्या करते हुए कपिल मुनि के आश्रम में बाँध दिया।

इधर सगर के साठ हजार पुत्र घोड़ों को खोजते हुए पृथ्वी खोदकर पाताल में ही जा पहुंचे और वहाँ ध्यानस्थ मुनि को अनाप-शनाप बकने लगे। तब महामुनि ने ज्यों ही क्रोध के कारण लाल नेत्रों से उनकी ओर देखा त्यों ही वे सब उनकी क्रोधाग्नि में जलकर भस्म हो गये।

जब वे समय पर घर न पहुंचे तब अंशुमान उन्हें ढूंढ़ते हुए उसी घटना-स्थल पर जा पहुंचे। उस समय गरुड़ ने वहाँ जाकर उनसे "गंगाजी की धारा से ही इनका उद्धार हो सकता है"—यह कहा।

उनके कथनानुसार अंशुमान असमंजस तथा दिलीप ने अपने पूर्वजों के उद्धारार्थ गंगाजी को भूलोक में लाने की भरसक चेष्टा की। परन्तु वे असफल रहे, और अन्त में अपने मनमें यही साध लिए हुये वे इस लोक से विदा हो गये। अन्त में भगीरथ ने भयङ्कर तपस्या से विष्णु और भगवान् शंकर को प्रसन्न करके गंगाजी को मर्त्यलोक में लाकर अपने पूर्वजों का उद्धार कर दिया।"

(२) तुरगविचयव्यग्रान्—तुरेण=वेगेन गच्छतीति तुरगस्तस्य विचये=अन्वेषणे व्यग्रान्। यज्ञ के घोड़े की खोज में व्यग्र।

उर्वीभिदः—उर्वीं भिन्दन्तीति। उर्वी+√भिद+क्विप्।

अगणिततनूतापः—अगणितः=अविचारितो वा तन्वाः शरीरस्य तापः=कष्टं येन सः। शारीरिक कष्टों की चिन्ता न करने वाले। कुछ टीकाकारों ने अगणिततनूपातं, पाठ मानकर इसे 'क्रियाविशेषण' भी माना है। पातः=पतनम्।

प्लुष्टान्—दग्धान्। √'प्लुष्' दाहे कर्मणि क्तः।

उदतीतरत्—उत्तारयामास। कहीं-कहीं 'उदधीतरत्' पाठ भी मिलता है।

(३) शिवानुध्याना भव—शिवमनुध्यानं यस्या, सा=कल्याण-चिन्तापरा। यहाँ गंगाजी से सीताजी की कल्याण-कामना के लिये प्रार्थना करने से आगामी घटनाचक्र पर प्रकाश पड़ता है। यह 'मुखसन्धि' का 'उद्भेद' नामक अंग है। उसका लक्षण है—"बीजार्थस्य प्ररोहः स्यादुद्भेदः।"

लक्ष्मणः—एष भरद्वाजावेदितश्चित्रकूटयायिनि वर्त्मनि वनस्पतिः कालिन्दीतटे वटः श्यामो नाम।

(रामः सस्पृहमवलोकयति)

सीता—सुमरेदि वा तं पदेसं अज्जउत्तो ? (स्मरति वा तं प्रदेशमार्यपुत्रः ?)

राम:—अयि, कथं विस्मर्यते ?

अलसललितमुग्धान्यध्वसम्पातखेदा-
दशिथिलपरिरम्भैर्दत्तसंवाहनानि ।
परिमृदितमृणालीदुर्बलान्यंगकानि,
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता ।।२४।।

(रामः सस्पृहमवलोकयति ।)

अन्वय—यत्र, त्वम्, अध्वसम्पातखेदात्, अलसललितमुग्धानि, अशिथिलः परिरम्भैः दत्तसंवाहनानि, परिमृदितमृणालीदुर्बलानि, अङ्गकानि, मम, उरसि कृत्वा, निद्राम्, अवाप्ता ॥ २४ ॥

हिन्दी—

लक्ष्मण—यह 'चित्रकूट' को जाने वाले मार्ग में यमुना-तट पर भारद्वाज ऋषि से निर्दिष्ट श्याम नामक वटवृक्ष है ।

[राम बड़ी अभिलाषा से देखते हैं ।]

सीता—आर्यपुत्र ! क्या आप उस स्थान का स्मरण कर रहे हैं ?

राम—अयि ! वह कैसे भुलाया जा सकता है ?

[श्लोक २४]—जहां तुम मार्ग में चलने की थकावट से आलस्य-युक्त, मृदुल और मनोहर, दृढ़ आलिङ्गन में कसे हुए मर्दित कमल-नाल की भांति अपने दुर्बल अङ्गों को मेरे वक्ष पर रखकर सो गई थीं !

संस्कृत-व्याख्या

लक्ष्मणः श्यामवटं सूचयति—एषः इति । यमुनातीरे भरद्वाजमुनिना कथितः चित्रकूटपर्वतमनुयायिनि मार्गे स्थितः "श्यामवटः" अक्षय-वट इति ख्यातो वनस्पतिः विद्यते ।

सस्पृहं तं वृक्षमवलोकयन्तं भगवन्तं श्रीरामं निरीक्ष्य "स्मरतीवार्यपुत्र एतं प्रदेशं किमु ?" इति पृच्छन्तीं सीतां प्रति "विस्मर्तुं कथं शक्यते" इति सकारणं प्रतिपादयति भगवान्—अलसेति ।

यस्मिन् प्रदेशे मार्गगमनखेदात् अलसानि, ललितैर्मुग्धानि च ('अलस—लुलित-मुग्धानि') इति क्वचित् पाठः । अशिथिलैः=दृढैः परिरम्भैः=आलिङ्गनैः दत्तानि संवाहनानि यैस्तथाभूतानि, परिमृदिता या मृणाली—कमलनालम्, तद्वत् दुर्बलानि =कोमलानि अङ्गानि मम वक्षःस्थले निधाय त्वं सुप्ताऽभूः । तत् स्थानं कथं विस्मर्तुं शक्यते, इति भावः ।

अत्रोपमाऽलंकारः । मालिनी च्छन्दः । तल्लक्षणञ्च यथा—

"न न म य य युतेयं मालिनी भोगिलोकैः ।" इति ।।२४।।

टिप्पणी

(१) अलसललितमुग्धानि—अलसानि च तानि ललितैर्मुग्धानि च । अध्वसम्पातखेदात्—अध्वनि=मार्गे, सम्पातः=गमनं तेन खेदस्तस्मात् । मार्गजन्य थकावट से । दत्तसंवाहनानि—दत्तानि संवाहनानि येभ्यस्तथाभूतानि । आलिङ्गित । परिमृदितमृणालीदुर्बलान्यङ्गकानि—परिमृदिता या मृणाली तद्वद् दुर्बलानि अङ्गकानि=ह्रस्वान्यङ्गानि । अङ्ग+कन् । मृदित कमलिनी के समान छोटे-छोटे अङ्गों को । (२) ललितम्—"अनाचार्योपदिष्टं स्याल्ललितं रतिचेष्टितम् ।" (भरत) । (३)'कथं विस्मर्यते ?' जिस स्थान के साथ ऐसे मधुर संस्मरण जुड़े हुए हों, उसे कैसे भुलाया जा सकता है ? (४) मालिनी छन्द । उपमालंकारः ।

लक्ष्मणः—एष विन्ध्याटवीमुखे विराधसंवादः ।

सीता—अलं दाव एदिणा । पेक्खम्मि दाव अज्जउत्तसहत्तधरिदतालवुन्तादवत्तं अत्तणो अच्चाहिदं दक्खिणारण्णपहिअत्तणम् । [अलं तावदेतेन । पश्यामि तावदार्यपुत्रस्वहस्तधृततालवृन्तातपत्रमात्मनोऽत्याहितं दक्षिणारण्यपथिकत्वम् ।]

रामः—

एतानि तानि गिरिनिर्झरिणीतटेषु,
वैखानसाश्रिततरूणि तपोवनानि ।
येष्वातिथेयपरमा यमिनो भजन्ते,
नीवारमुष्टिपचना गृहिणो गृहाणि ॥२५॥

अन्वयः—गिरिनिर्झरिणीतटेषु, वैखानसाश्रिततरूणि, एतानि, तानि, तपोवनानि, येषु, आतिथेयपरमाः' नीवारमुष्टिपचनाः यमिनः गृहिणः गृहाणि, भजन्ते ॥२५॥

हिन्दी—

लक्ष्मण—यह 'विन्ध्याटवी' के प्रवेश-स्थान में राक्षस विराध के संवाद का दृश्य है ।

सीता—अरे, इसे दिखाने को रहने दो । मैं तो दक्षिणारण्य के यात्रा-प्रसंग (के दृश्य) को, जहां कि 'आर्यपुत्र' ने अपनी कोई चिन्ता न कर हाथ में (धूप से बचने के लिए) ताड़-पत्र को छत्र की भांति धारण किया था, देख रही हूं ।

राम—[श्लोक २५] पहाड़ी नदियों के किनारों पर वानप्रस्थियों से (छाया में बैठने आदि से) सेवित वृक्षों वाले ये वे तपोवन हैं, जिनमें अतिथि-सत्कार-परायण, कुछ ही मुट्ठी 'नीवार' (अन्न-विशेष) पकाकर (जीवन-निर्वाह करने वाले) गृहस्थ यम-नियम-पूर्वक रहते हैं ।

संस्कृत-व्याख्या

लक्ष्मणो विन्ध्याटवीमुखे विराध-राक्षसस्य सूचनां ददाति परं सीता देवी तं

निषेधति—अलमिति । एतेन विराधेनालम् ! एतद्दर्शनस्यावश्यकता नास्ति । अहन्तु दक्षिणारण्यप्रदेशमेव पश्यामि । यत्रार्यपुत्रेण धर्मतापापनोदाय स्व हस्ते तालवृन्तरूपं=व्यजनरूपमातपत्र मम शिरसि, अत्याहितम्=स्वजीवितनिपेरक्ष यथा स्यात्तथा, आत्मनः क्लेशमपरिगणय्य धृतमेवविधं दक्षिणारण्यस्य पथिकत्वं=यात्रित्वं पश्यामि । विराधदर्शनं तु मह्यं न रोचते । दक्षिणारण्ये च बहूनि विनोदस्थानान्यनुभूतपूर्वाणि सन्ति, तेषां दर्शनेनाधुना विनोदमनुभवामि । इति भावः ।

श्रीरामो दक्षिणारण्यसम्पदो वर्णयितुमुपक्रमते—एतानि-इति ।

गिरिणां प्रान्तेभ्यो निर्झरिण्यः=नद्यः, प्रवहन्ति, तासां तटेषु एतानि परम-मनोहराणि तानि तपोवनानि सन्ति, येषु वैखानसाः=वानप्रस्था वृक्षाणामधो-भागे निवासं कुर्वन्ति, येषु चाश्रमेषु (तपोवनेषु) एवविधाः शान्तवृत्तयस्तापसा निवसन्ति, ये अतिथि-सत्कारमेवात्मनः कर्तव्यं मन्यन्ते, स्वयञ्च यमनियमशीलाः, नीवारस्य=मुन्यन्नस्य काश्चन मुष्टयः=मुष्टिमात्रपरिमितं नीवारमित्यर्थः, परिप-चन्ति । धन्या आश्रमा यत्रैवंविधा यमनियमपालनपरायणस्तापसा गृहस्थधर्मावलम्बिनो निवसन्ति । यमाश्च—

"अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्याऽपरिगृहा यमाः ।" इति ।

अत्रोदात्तालङ्कारः । प्रसादो गुणः । मधुरा रचना । वसन्ततिलका च्छन्दः । तल्लक्षणञ्च—

"उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौगः ।" इति ॥२५॥

टिप्पणी

(१) विराध—एक राक्षस । तुम्बरु नामक गन्धर्व को रम्भा में आसक्त होने के कारण कुबेर ने शाप दे दिया था । वह राक्षस होकर दण्डकारण्य में रहने लगा । वह बड़ा भयानक था । राम-लक्ष्मण ने उसका वध किया था । (२)वैखानस=वानप्रस्थ । "वैखानसो वानप्रस्थः । विखनसा प्रोक्तेन मार्गेण वर्तत इति ।' वैखान-साश्रिततरूणि=वैखानसों के द्वारा सेवित वृक्ष हैं जिनमें—'तपोवनानि' का विशेषण । वैखानसैः आश्रितास्तरवो येषु तानि । (३) आतिथेयपरमाः=आतिथेयं परमं येषाम् । अतिथिसत्कारपरायण । आतिथेय=अतिथि+ढञ् । (४) यमिन=यमाः सन्ति येषां ते । "अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहा यमा :" (५) नीवार-मुष्टिपचनाः=नीवारस्य=अन्नविशेषस्य, मुष्टिः=मुष्टिमात्रं पचनं=पाको येषाम् । मुट्ठी-भर (परिमित) नीवार पकाने वाले—अपरिग्रही । (६) उदात्तालंकार । वसन्त-तिलकाच्छन्दः ।

लक्ष्मणः—अयमविरलानोकहनिवहनिरन्तरस्निग्धनीलपरिसरारण्यपरिणद्धगोदावरीमुखकन्दरः संततमभिष्यन्दमानमेघमेदुरितनीलिमा जनस्थानमध्यगो गिरिः प्रस्रवणो नाम ।

राम:—

स्मरसि सुतनु ! तस्मिन्पर्वते लक्ष्मणेन,
प्रतिविहितसपर्यासुस्थयोस्तान्यहानि ?
स्मरसि सरसनीरां तत्र गोदावरीं वा ?
स्मरसि च तदुपान्तेष्वावयोर्वर्तनानि ? ॥२६॥

हिन्दी—

लक्ष्मण—यह सघन पादपावलियों से निरन्तर स्निग्ध तथा श्यामवर्ण वाले वन के भागों से युक्त गोदावरी की तरङ्गों से आस्फालित होने के कारण मुखरित गुफाओं वाला तथा लगातार बरसने वाले मेघों से और भी अधिक नीलिमा धारण करने वाला जनस्थान के मध्य-भाग में स्थित प्रस्रवण नाम का पर्वत है। [गोदावरी के समीप सघन वृक्ष वन की शोभा बढ़ा रहे हैं। तरङ्गों के आघात से गुफाएं सशब्द हो रही हैं। पर्वत-शिखरों पर मेघ बरस रहे हैं। मेघों के सम्पर्क से स्वभावत: काला 'प्रस्रवण' और भी अधिक काला हो उठा है।]

[श्लोक २६] सुन्दरी ! तुम उस 'प्रस्रवण' पर्वत में लक्ष्मण के द्वारा दी गई सेवा से प्रसन्न हम दोनों के उन सुखमय दिनों का, निर्मल जल वाली गोदावरी नदी का और उसके किनारे पर हमारे विहार का स्मरण करती हो ? (या नहीं ?)

संस्कृत-व्याख्या

लक्ष्मणो जनस्थानमध्यवर्तिनं पर्वतं दर्शयति—अयमिति। अयं चित्रार्पितः प्रस्रवणो नाम पर्वतोऽस्ति। कीदृश ? विशेषयति। अविरला: सघना:, निरन्तर-स्थितिवशाद्घना इत्यर्थ:, ये अनोकहा:=पादपा:, तेषां निवहेन=समूहेन, निरन्तर-स्निग्धा:=सन्ततमसृणा: ये परिसरा=प्रान्तभागा:, तेषु यानि अरण्यानि=वनानि, तै: आबद्धा:=संयुक्ता: गोदावर्या: एतन्नामनद्या: कल्लोलजालैर्मुखरा:=ध्वनियुक्ता: कन्दरा यस्मिन् स:। सन्ततम्=निरन्तरम्, अभिष्यन्दमान:=जलवर्षणतत्पर:, यो मेघ:, तेन मेदुरितो=वृद्धिं गतो नीलिमा यस्यासौ, पर्वत:। तत्र गोदावर्या: समीपे सघना: पादपा स्थिता: वनस्य शोभां वर्धयन्ति। नद्या: वीचिजालकलकलैश्च कन्दरा मुखरिता: सन्ति। पर्वतस्य शिरसि मेघा: सदैव जलधारां पातयन्ति, स्वभावतो नीलवर्णोऽपि मेघानां सन्निधानेन कालिमा वृद्धिं यातीवेति भाव:।

तदिदं स्थानं प्रतियुगं भिन्ननाम्ना व्यवहृतं भवति। तथा चाभिमुक्ता: कथयन्ति—

"त्रेतायान्तु "त्रिकण्टकम्"। द्वापरे तु 'जनस्थान" कलौ "नासिक" मुच्यते।' इति। साम्प्रतं "नासिके"ति प्रसिद्धम्। करुण-विप्रलम्भ-रसं परिपोषयितुं बन्धाडम्बरयुक्तोऽयं कवे: प्रक्रम: क्रमश्च युक्त:। एवमेवाग्रेऽपि यत्र-तत्र गौडीरीत्या समास-बहुलतया बन्धो दृढो भविष्यतीति ध्येयम्।

पूर्वमनुभूतानां स्थानादिसुखानां स्मरणं कारयितुं सीताम्प्रति वदति भगवान् रामः—स्मरसि—इति । सु शोभना तनुः=शरीरं यस्यास्तत्सम्बुद्धौ हे सुतनु ! सुन्दरावयवे सीते ! तस्मिन् पर्वते लक्ष्मणः आवयोः सपर्यां=सत्कारं करोति स्म, आवाञ्च सुरीत्या स्थितौ, इति त्वं तानि दिनानि स्मरसि किम् ? अपि च—सरसनीरां गोदावरीं सरिद्वरामपि स्मरसि ? किञ्च—तस्याः सरितः उपान्तभागेषु आवयोः वर्तनानि=निवास-क्रीड़ा-भ्रमणादीनि वा स्मरसि ? तत्रावाम्यां यत् सुखमनुभूतम् , साम्प्रतमपि तन्मम तु स्मृतिपथमागतम्, भवती चापि स्मरति न वा ? इति रामस्य रहस्य-प्रश्ने कविना परमसौन्दर्यं सञ्चितम् । उद्दीपन-विभावस्य रमणीयत्वम् । वन-विहारस्य स्पृहणीयत्वम् पूर्वदृष्टवस्तूनां स्मृति-लालित्यञ्च सर्वथाभिनन्दनीयम् । अत्र दीपकालङ्कारः । मालिनीच्छन्दः ॥२६॥

टिप्पणी

(१) जनस्थान—दण्डकारण्य का एक भाग । यह वर्तमान 'नासिक' के पास का क्षेत्र था । प्रत्येक युग में इसके भिन्न-भिन्न नाम हैं:—त्रेता में 'त्रिकण्टक', द्वापर में 'जनस्थान' और कलियुग में 'नासिक' । (२) प्रस्रवणः—गोदावरी के तट पर जनस्थान (औरङ्गाबाद) की पहाड़ियां । इन्हें रामायण में माल्यवान् भी कहा गया है । (३) प्रतिविहितसपर्यासुस्थयोः—(लक्ष्मणेन) प्रतिविहितया सपर्यया=सेवया, सुस्थयोः=स्वस्थयोः आवयोः लक्ष्मण के द्वारा की गई सेवा से आनन्दित । 'सुस्थयोः' के स्थान पर 'स्वस्थयोः' पाठ भी मिलता है । सपर्या= √सपर+यक् । "कण्ड्वादिभ्यो यक्" । "पूजा नमस्यापचितिः सपर्याऽर्चार्हणाः समाः" इत्यमरः । (४) उपान्तेषु:—उपगता अन्त समीपमिति उपान्तास्तेषु । प्रान्त भागों में=तटों पर । (५) वर्तनानि=√वृत+ल्युट् भावे । स्वच्छन्द भ्रमणादि । (६) राम का पुरानी बातों के विषय में प्रश्न करना सचमुच एक मार्मिक प्रसंग है । इस श्लोक में लक्ष्मण का भ्रातृ-प्रेम, सीता-राम का पारस्परिक दाम्पत्य-प्रेम तथा प्रकृति-प्रेम सभी एक साथ मुखरित हो उठे हैं । राम के इन रहस्यपूर्ण प्रश्नों का सौन्दर्य सहृदय-संवेद्य है । (७) दीपकालङ्कार । मालिनी छन्द ।

किं च—

किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगा-
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण ।
अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो-
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत् ॥२७॥

अन्वयः—आसक्तियोगात् किमपि, मन्दं, मन्दं अविरलितकपोलम् अक्रमेण, जल्पतोः, अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णोः (आवयोः) अविदितगतयामां रात्रिरेव व्यरंसीत् ॥२७॥

हिन्दी—
और भी—

[श्लोक २७] जहां पास-पास कपोल से कपोल सटाकर तथा परस्पर एक दूसरे की भुजाओं के दृढ़ आलिङ्गन में बंध कर धीरे-धीरे इधर-उधर की बातें (गप-शप) करते हुए बिना पता चले हम दोनों की रात ही (रात के प्रहर के प्रहर ही) बीत जाया करती थी। (क्या वह समय याद है ?)

संस्कृत-व्याख्या

श्रीरामः पुनरपि पूर्वमनुभूतानां पदार्थानां स्मरणं कारयितुं सीतादेवीमुद्दिश्य कथयति-किमपि इति ।

देवि ! तस्मिन् स्थाने वार्तालापमात्रेणैव सर्वापि रात्रिर्व्यतीतेति स्म। वार्तालापप्रसंगोऽपि न कमपि निश्चितं विषयमवलम्ब्य भवति स्म, प्रत्युत यः कोऽपि प्रसंगः समापतितः तमेवावलम्ब्यावयोः परस्परं कपोलयोः सामीप्यात्, क्रमरहितं भाषमाणयोः एकभुजेन सुदृढतया समालिङ्गने समासक्तयोः रात्रिरेव व्यतीता भवति स्म। किमु तादृशीमभिरामामवस्थां स्मरसि ? वस्तुतः सुखस्य समयः कदा व्यत्तीतेति ? इति परिज्ञानमपि न भवति, दुःखस्य कालश्च क्षणपरिमितोऽपि युगवद् भवति ।

कठिनशब्दानां पदार्थ-व्याख्या क्रियते । आसक्तियोगात्=पारस्परिक प्रेमाधिक्यसम्बन्धात्, "आसत्ति-योगात्" इति पाठे च आसत्तेः=सामीप्यसम्बन्धात्, इत्यर्थः अयमेव पाठो विशेषरुचिकरः। परस्परसामीप्यमेव तत्र स्वाभाविकतां द्योतयति । आसक्तिस्तु तयोरासीदेव। किमपि किमपि=न जाने किं वक्तव्यमासीत् किं वा नेति क्रमो नासीत्। मन्दरीत्या च अविरलितौ=अत्यधिकसंश्लिष्टौ=परस्परं सम्मिलितौ, कपोलौ यस्यां क्रियायामिति क्रियाविशेषणमिदम्। अक्रमेण=क्रमं विनैव, जल्पतोः=वार्तालापं कुर्वतोः, किञ्च, अशिथिलः=घनः, दृढः, इति यावत्, यः परिरम्भः=समालिङ्गनम्, तस्मिन् व्यापृतः=संलग्नः, एकैको दोर्बाहुः—ययोस्तौ, तयोः (आवयोः); अविदिताः=अज्ञाताः, गताः=विगताः, यामा यस्या सा एवंविधा रात्रिरेव व्यरंसीत्। अहो ! सुसमयः सः क्व गतः ? एतेन समुचित-दाम्पत्य-रीतिः प्रकटिता भवति ।

अत्र स्वभावोक्तिरलङ्कारः। तल्लक्षणं यथा—

'स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्व-क्रिया-रूप-वर्णनम् ।' इति। मालिनीच्छन्दः। लक्षणञ्च यथा—"ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः"। माधुर्यं गुणः। क्वचिदोजश्च। वैदर्भी रीतिः ॥२७॥

टिप्पणी

(१) यह श्लोक बहुत ही भावपूर्ण है। दाम्पत्य-जीवन का कितना स्वाभाविक किन्तु मर्यादित चित्र प्रस्तुत किया गया है। अनुभूति की एकतानता की दृष्टि से—संयोगवर्णन की दृष्टि से यह उत्कृष्ट रचना है। (२) कहीं-कहीं 'आसत्ति' के स्थान पर 'आसक्ति' तथा 'रात्रिरेव' के स्थान पर 'रात्रिरेव' पाठ मिलते हैं, परन्तु भाव

सौन्दर्य की दृष्टि से 'आसत्ति' तथा 'रात्रिरेव' पाठ ही प्रसंशनीय है। (३) व्यरंसीत्—वि+√रम्+लुङ्। "व्याङ्परिभ्यो रमः" इति परस्मैदपम्। "यमरमनमातां सक्च" इति सगिटौ। आसत्ति=आङ्+√सद्+क्तिन्। (४) स्वभावोक्ति अलङ्कार। मालिनी छन्द।

लक्ष्मणः—एष पञ्चवट्यां शूर्पणखाविवादः।

सीता—हां अज्जउत ! एत्तिअं दे दंसणम् ? (हा आर्यपुत्र ! एतावत्ते दर्शनम् ?)

रामः—अयि वियोगत्रस्ते ? चित्रमेतत्।

सीता—जहा तहा होदु। दुज्जणो असुहं उप्पादेइ (यथा तथा भवतु। दुर्जनोऽसुखमुत्पादयति।)

रामः—हन्त, वर्तमान इव मे जनस्थानवृत्तान्तः प्रतिभाति।

लक्ष्मणः—

अथेदं रक्षोभिः कनकहरिणच्छद्मविधिना,
तथा वृत्तं पापैर्व्यथयति यथा क्षालितमपि।
जनस्थाने शून्ये विकलकरणैरार्यचरितै-
रपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम् ॥२८॥

सीता—(सास्रमात्मगतम्।) अह्मो, दिणअरकुलाणन्दणो एव्वंवि मह कालणादो किलन्तो आसि ! (अहो, दिनकरकुलानन्दन एवमपि मम कारणात् क्लान्त आसीत् !)

अन्वयः—अथ, पापैः, रक्षोभिः कनकहरिणछद्मविधिना, इदं, तथा वृत्तम्, यथा क्षालितमपि विकलयति, शून्ये, जनस्थाने, विकलकरणैः, आर्यचरितैः, ग्रावा अपि, रोदिति, वज्रस्य, अपि हृदयं दलति ॥ २८ ॥

हिन्दी—

लक्ष्मण—यह पञ्चवटी में शूर्पणखा-विवाद का दृश्य है।

सीता—हां आर्यपुत्र ! बस यहीं तक आपका दर्शन था। इसके बाद मेरा हरण कर लिया गया था।

राम—अयि विरहभीते ! यह तो चित्र है। (घबराओ मत।)

सीता—चाहे जो हो, दुर्जन अनिष्ट उत्पन्न करता ही है।

राम—हां, मुझे तो जनस्थान का वृत्तान्त प्रत्यक्ष-सा लग रहा है।

[श्लोक २८] लक्ष्मण—तदनन्तर उन नीच राक्षसों ने सुवर्ण-मृग के छल से ऐसा दुष्कर्म किया, जो कि प्रतिकार किये जाने पर भी (हमको) पीड़ित कर रहा

है। उसे सुनसान जन-स्थान में विकल इन्द्रियों वाले (अथवा विकलतापूर्ण) आर्य के चरित्रों से मूर्छा आदि व्यापारों से एक बार तो) पत्थर भी रो उठता है और वज्र का हृदय भी टुकड़े-टुकड़े होता जाता है।

सीता—(रोती हुई, स्वयं ही) ओह ! सूर्यवंश को आनन्द देने वाले आर्य पुत्र मेरे लिए ऐसे दुःखी हुए थे ? (दूसरों को आनन्द देने वाले होकर भी स्वयं दुःखी हुए थे।)

संस्कृत-व्याख्या

एवं प्राग्भूरिप्रमोदसमयमनुस्मरतोस्तयोः पुरस्तात् पञ्चवट्यां शूर्पणखया जातं विवादं सूचयित्वा नवीनमेव चित्रमुपस्थापयति। श्रवणमात्रेणैव लक्ष्मण-वाक्यस्योद्वेगजनकत्वं सम्यगनुभूय वेपमानेव सीतादेवी प्राह—हा इति। हा ! आर्यपुत्र ! एतावन्मात्रमेव तव दर्शनमासीत्। शूर्पणखा विवादानन्तरमेव मम रावणद्वारापहरणमभूत्। अपि च—अधुनापि एतावदेव भवतो दर्शनम्। अतः परमपि सीतादेव्या निर्वासने दर्शनाभावः सुनिश्चित एवेति युक्तापदावली सीताया इति भावः।

सीताया भीतभीताया वचनमाकर्ण्य श्रीरामः प्राह—अयि इति। अयि वियोगात् त्रस्ते=भीते ! सीते ! एतत्तु चित्रम्, चित्रदर्शने भवस्यावश्यकता नास्ति।

श्रीरामस्य "चित्रमिति" प्रबोधवाक्यं श्रुत्वापि कथयति—जहा इति। आर्य-पुत्र ! यथा भवेत् तथैव दुर्जन—दर्शनेन दुःखमेव भवति सज्जनानाम्। ततश्च—शूर्पणखा—दर्शनेनावश्यं किमपि विशिष्टं दुःखमापतिष्यतीति मम निश्चयः।

सीता वचनाद्धीरोऽपि रामो जनस्थानवृत्तान्तं स्मृत्वा खिन्न इव भवति कथयति च—हन्त ! इति। हन्त ! महान् खेदोऽस्ति, यत् जनस्थानस्य वृत्तान्तो ममाधुना वर्तमान इव भवति। अहं तमेव समयमागतमिव मन्ये।

तथा स्मृत्त्वाऽखिलवृत्तान्तं लक्ष्मणः प्राह—अथेदमिति।

परममर्मस्पर्शी श्लोकोऽयं कवेश्चातुरीचमत्कारं सूचयति। हन्त ! पाप-कारिभी राक्षसैः सुवर्ण-हरिणछलं विधाय तथा दुर्वृत्तैर्वृत्तं सम्पादितम्। सीता-हरणेन जगति महती निन्दाऽस्माकं प्रसारिता, यथा प्रक्षालितमपि=सीताहरण-जन्यापमानं रावणवधेन दूरिकृतमपि शून्ये जनस्थाने, विकलकरणैः=विकलानि करणानि=इन्द्रियाणि येषु तैः चरितैः, ग्रावा=पाषाणोऽपि रोदिति, वज्रस्यापि हृदयं दलति=द्विधावति। भगवन्तं रामं सीतावियोगे परिरुदन्तमवलोक्याचेतना अपि दलिता इवाभवन्, चेतनानान्तु किमु वक्तव्यम् ? इदं कविबुद्धेः परमवैभवम्। कविर-धुना पाषाणानपि रोदयति, वज्रस्यापि हृदयकल्पनया सामाजिकानामेव हृदयं द्राव-यति। धन्या कवेः कल्पना ! कविर्भावानुग्रहणे परमपटुरिति निःशङ्कं वक्तुं शक्यते।

अत्रासम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिः। पाषाण-वज्रयो रोदन-द्रव-सम्बन्धा-भावेऽपि तथा परिकल्पनात् अतिशयोक्तिःअलङ्कारः। लक्षणञ्च—

"सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते ।" इति ।

सा च पञ्चप्रकारा भवति । तथाहि—

"भेदेऽप्यभेदः, सम्बन्धेऽसम्बन्धस्तद्विपर्ययोः ।
पौर्वापर्यात्ययः कार्यहेत्वोः सा पञ्चधा ततः ॥" इति ।

प्रसादो गुणः । लाटी रीतिः । शिखरिणी च्छन्दः । तल्लक्षणञ्च यथा—

"रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी ।" इति ॥२८॥

रामस्येदृशीं दशां निशम्य सास्रं सीता स्वगतं प्राह—**अह्यो-इति** । अहो ! सूर्यवंशावतंसो भगवान् ममकृते एवं खिन्नः आसीत् ? यत्र पाषाणा अपि रोदनमकुर्वन् ? [अतएव सीतामपि सास्रां सम्पादयति कविः, नो चेत्पाषाणादपि निकृष्टा स्यादिति कविहृदयं शिविष्टैरेव ज्ञेयम् । अतएव कविमते उत्तररामचरितं दृष्ट्वा सर्वैरेव रोदितव्यम्, नो चेद् मानवता विगलिता स्यात् !]

टिप्पणी

१ **शूर्पणखा**—शूर्पवन्नखानि यस्याः सा । "नखमुखात् संज्ञायाम्" इति ङीष्-निषेधः । पूर्वपदात्संज्ञायामगः' इति णत्वम् । (२) **एतावत्ते दर्शनम्**—शूर्पणखा-दृश्य को देखकर सीताजी घबरा गईं । उन्हें पहला प्रसंग स्मरण आ गया । शूर्पणखा के काण्ड के बाद ही सीता-हरण हुआ था । इसलिए उन्हें अब भी वही शङ्का बनी हुई है । इससे यह अर्थ भी निकलता है कि 'चित्रवीथिका' के दर्शन तक ही सीता को राम का दर्शन हो रहा है । (३) **"अपि ···· हृदयम्"** करुणरसाचार्य भवभूति का यह श्लोक बड़ा ही मार्मिक है । भगवान् राम के विलाप से पत्थर भी पिघल उठे थे और वज्र का हृदय भी टुकड़े-टुकड़े हो गया था । पत्थर को रुलाना तथा वज्र को भी संवेदन-शील बनाना निस्सन्देह भवभूति का ही कौशल है । उनके सम्बन्ध में गोवर्धनाचार्य ने ठीक कहा है—

"भवभूतेः सम्बन्धाद्भूधरभूरेव भारती भाति ।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा ?" ॥२८॥

लक्ष्मणः—(रामं निर्वर्ण्य साकूतम् ।) आर्य ! किमेतत् ?

अयं तावद्बाष्पस्त्रुटित इव मुक्तामणिसरो,
विसर्पन्धाराभिर्लुठति धरणीं जर्जरकणः ।
निरुद्धोऽप्यावेगः स्फुरदधरनासापुटतया,
परेषामुन्नेयो भवति चिरमाध्मातहृदयः ॥२९॥

अन्वयः—तावत् धाराभिर्विसर्पन्, जर्जरकणः, अयं, वाष्पः, त्रुटितः, मुक्तामणिसरः, इव, धरणीं, लुठति, चिरमाध्मातहृदयः, आवेगः, निरुद्धोऽपि, स्फुरदधरनासापुटतया, परेषाम्, उन्नेयो, भवति । ॥२०॥

हिन्दी—

लक्ष्मण—(राम को देखकर (सान्त्वना देने के अभिप्राय से) आर्य ! यह क्या ?)

[श्लोक २९]—आपका यह अश्रु प्रवाह टूटी हुई मोतियों की लड़ी की भांति अनेक धाराओं में टपाटप गिरता हुआ पृथ्वी पर फैल रहा है। आपके हृदय का यह आवेश रोके जाने पर भी आपके फड़कते हुए ओठों और नथुनों से दूसरों के लिए सहज ही अनुमेय हो रहा है। [अथवा बहुत देर तक दबाये जाने पर भी हृदयवेग ओठों और नासापुटों से दूसरों के लिये अनुमेय होता है।]

संस्कृत-व्याख्या

अतएव भगवान् रामोऽप्यरुदत्, रुदन्तं श्रीरामं दृष्ट्वा साकूतं=साभिप्रायं लक्ष्मणः प्राह—अयमिति।

आर्य ! किमेतत् ? किमिति साम्प्रतमपि भवान् रोदिति ? अयं तावद् भवतो नेत्रकमलाभ्यां परिपतितो वाष्पधारासारः, अश्रुकणगणः त्रुटितो—मुक्तामणिहार इव धाराभिर्विसर्पन् जर्जरकणः सन् पृथिव्यां लुठति=व्याप्तो भवति। अपि च शोकावेगो निरुद्धोऽपि नासापुटयोः, अधरोष्ठस्य च परिस्फुरणाद् चिरमाध्मातं=परिपूरितं हृदयं येन सः परेषामप्यनुमेयो भवति। भवतोऽतिशयितशोकावेगमविरतधाराभिः प्रवहन् वाष्पौघः प्रकटयति। स्फुरता नासापुटेन, अधरस्पन्दने चान्योऽपि जनो रोदनं साक्षात्कर्तुं प्रभवति। परितः पतिता वाष्पकणास्त्रुटितहारमुक्ता इव भूमौ पतिताः प्रतीयन्ते। अतो भवद्भिर्न रोदितव्यमिति भावः अत्र पूर्ववर्तिनः सीता वियोगस्यासह्यतारूप वस्तु व्यज्यते। उपमाऽलङ्कारः, अनुमानञ्च। लक्षणञ्च—

"अनुमानन्तु विच्छित्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात्।" इति।

शिखरिणीच्छन्द ॥२९॥

टिप्पणी

(१) साकूतम्=साभिप्राय। लक्ष्मण ने राम को रोते हुए जानकर सान्त्वना देने के अभिप्राय से देखा। (२) सरः=माला ! "सरो दध्यग्रगव्योष्णी भावमालासमीरणे" इति मेदिनी। (३) चिरमाध्मातहृदयः—बहुत देर तक भरे हृदय वाला (आवेग का विशेषण। इसके स्थान पर "भराध्मातहृदयः" और "विरसाध्मातहृदयः" पाठ भी मिलते हैं। जिनका अर्थ क्रमशः होगा—"भरेण=अतिशयेन आपूरितहृदयः"। तथा "विरसं निर्दयं यथा स्यात्तथा आध्मातं ताडितं हृदयं येन स तथोक्तः हृदयविदारकः इति यावत्।" (४) "परेषामुन्नेयो ....." इस पंक्ति का अर्थ दो प्रकार से किया जा सकता है। दोनों प्रकार हिन्दी अनुवाद में देखिये। (५) अनुमान अलङ्कार। हरिणी छन्द।

रामः—वत्स !

तत्कालं प्रियजनविप्रयोगजन्मा,
तीव्रोऽपि प्रतिकृतिवाञ्छया विसोढः ।
दुःखाग्निर्मनसि पुनर्विपच्यमानो,
हृन्मर्मव्रण इव वेदनां तनोति ॥३०॥

अन्वय—प्रियजनविप्रयोगजन्मा, तीव्रः, अपि, प्रतिकृतिवाञ्छया, तत्कालं, विसोढः, दुःखाग्निः, पुनः, मनसि, विपच्यमानः (सन्), हृन्मर्मव्रणः इव, वेदनां, तनोति ॥३०॥

हिन्दी—

राम—वत्स !

[श्लोक, ३०] उस समय (तो) मैंने सीता के विरह से उत्पन्न दुःखाग्नि को (शत्रु-रावण से) बदला लेने की इच्छा से जैसे-तैसे सह लिया था परन्तु आज वही दाह हृदय के मर्मस्थान में पके हुए फोड़े की भांति मुझे असह्य पीड़ा दे रहा है। [यद्यपि सीता की विरहाग्नि सर्वथा दुःसह है तथापि उस समय मैंने उसे प्रतीकार की इच्छा से सह लिया था। परन्तु आज उस अवस्था का स्मरण आने से हृदय का घाव पुनः हरा हो गया है। मुझे असह्य सन्ताप हो रहा है। और हो भी क्यों न ? क्या कभी किसी ने आग से जले हुए व्यक्ति को बिना रोते हुए देखा है ? नहीं ! इसलिए भाई ! मैं तो जला हुआ पड़ा हूं। इस अवस्था में यदि रोता हूं तो कोई अस्वाभाविक बात नहीं है।]

संस्कृत-व्याख्या

रोदनहेतुं स्पष्टीकुर्वन् भगवान् रामो लक्ष्मणं सम्बोधयति—तत्कालमिति।

वत्स लक्ष्मण ! तस्मिन् समये प्रियजस्य=सीताया विप्रयोगजन्मा परमती-तीक्ष्णोऽपि दुःखाग्निः कथंचित् प्रतिकृति-वाञ्छया=प्रतीकारेच्छयाविसोढः, सह्यवेदनः स्वीकृतः। रावणेन सीताऽपहृता, ततश्च यावत्तस्य प्राणहरणमस्माभिर्नैव क्रियते, तावदपमानमवश्यं सोढव्यमेव। सम्प्रतिपुनर्विपाकं प्राप्तो हृदयमर्मस्थाने समुद्भूतो व्रण इव मम मनसि विशेषां पीडां जनयति। सीतावियोगः सर्वथा दुःसह एव। परं तदानीं शत्रुवदिच्छया सोढः। इदानीं तस्याः अवस्थायाः स्मरणेन स शोक-विस्फोटः पुनरपि नवः समजनि। अतएव रोदिमि। कोनामेवं श्लाघनीयामपि प्राणेभ्योऽपि गरीयसीं प्रियामपहृतां निरीक्ष्य सन्तापं न विन्दति ? मद्विधः कश्चिद् यदि स्यात्तदा परिचिनयात्,, कीदृशोऽयं दुःखाग्निः ? अग्निदग्धोऽपि न रोदिति, इति क्वचिद् ?

अत्र कविना श्रीरामस्य शोक-परीक्षणे महान् प्रयासः कृतः। लक्ष्मण-प्रश्नस्य मार्मिकमुत्तरं दत्तं सहृदयशिरोमणिना रमेण। अत्र प्रतिकृतिवाञ्छा दुःखापमान-

सहने कारणत्वेन निरूपितेति काव्यलिङ्गालङ्कारः । दु-खे वन्हेरारोपाद् "रूपकम्" । हृन्मर्मव्रण इवेत्यत्र 'उपमा' । एतेषा मलङ्काराणामङ्गाङ्गिभावेन साङ्कर्यम् । लक्षणानि सर्वेषामुक्तानि । प्रहर्षिणीच्छन्दः । लल्लक्षणञ्च—

"म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम् ।" इति ।

ओजो गुणः । गौड़ी रीतिः ॥३०॥

टिप्पणी

(१) प्रियजनविप्रयोगजन्मा—प्रियजनस्य =सीतायाः, विप्रयोगात्=विरहात् जन्म यस्य सः । सीता के विरह से उत्पन्न । (२) 'तत्कालम्'''विसोढ':—उस समय तो मैने रावण से बदला लेने की इच्छा से उस दुःखाग्नि को सह लिया था, परन्तु आज इस दृश्य को देखकर सारी बातें पुनः याद आ गई हैं, आज यह हरे घाव की भांति बहुत पीडा दे रहा है । इस का अर्थ यह भी ध्वनित होता है कि पहला आघात तो मैं सह गया था परन्तु अबका आघात असह्य होगा । (३) विसोढः—वि+√सह+क्त । विपच्यमानः वि+√पच्+शानच् । (४) काव्यलिंग, उपमा, रूपक का अङ्गाङ्गिभावसंकर । प्रहर्षिणी छन्द ।
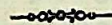
सीता—हद्धी हद्धी । अहंवि अदिभूमिं गदेण रणरणएण अज्जउत्तसुण्णं अत्ताणं पेक्खामि । [हा धिक् ! अहमप्यतिभूमिं गतेन रणरणकेनार्यपुत्रशून्यमिवात्मानं पश्यामि ।]

लक्ष्मणः—(स्वगतम् ।) भवतु, आक्षिपामि । (चित्रं विलोक्य प्रकाशम् ।) अथैतन्मन्वन्तरपुराणस्य तत्रभवतस्तातजटायुषश्चरित्र-विक्रमोदाहरणम् ।

सीता—हा ताद ! णिव्वूढो दे अवच्चसिणेहो । [हा तात ! निर्व्यूढस्तेऽपत्यस्नेहः ।]

राम :—हा तात काश्यप शकुन्तराज ! क्व न खलु पुनस्त्वादृशस्य महस्तीर्थभूतस्य साधोः संभवः ?

लक्ष्मणः—अयमसौ जनस्थानस्य पश्चिमतः कुञ्जवान्नाम (पर्वतो) दनुकबन्धाधिष्ठितो दण्डकारण्यभागः । तदिदममुष्य परिसरे मतङ्गाश्रमपदम् । तत्र श्रमणा नाम सिद्धा शबरतापसी । तदेतत्पम्पाभिधानं पद्मसरः ।

सीता—जत्थ किल अज्जउत्तेण विच्छिण्णामरिसधीरत्तणं पमुक्कण्ठं परुण्णं आस। [यत्र किलार्यपुत्रेण विच्छिन्नामर्षधीरत्वं प्रमुक्तकण्ठं प्ररुदितमासीत्।]

हिन्दी—

सीता—हाय! हाय! मैं भी सीमा का अतिक्रमण कर देने वाली [उत्कण्ठा (घबराहट) से अपने को 'आर्य-पुत्र' से विरहित-सी देख रही हूं। (मुझे भी पति-देव की विरहावस्था प्रत्यक्ष-सी लग रही है।)

लक्ष्मण—(स्वयं ही) अच्छा तो मैं (इनका ध्यान) दूसरी ओर आकृष्ट करता हूं (चित्र को देखकर प्रकाश में) (अच्छा) अब 'मन्वन्तर' से भी प्राचीन पूजनीय जटायु के चरित्र तथा पराक्रम का उदाहरण (देखिये!)

सीता—हा तात! आपका सन्तान-स्नेह पूर्णरूपेण सफल सिद्ध हुआ। (आपने अपना सन्तान-स्नेह पूर्ण रूप से निभाया।)

राम—हा तात! काश्यप! पक्षिराज! अब आप जैसे महान् पवित्रात्मा प्राणी की उत्पत्ति कहां सम्भव है?

लक्ष्मण—यह 'जनस्थान' की पश्चिम दिशा में 'कुञ्जवान्' नामक पर्वत है तथा वहीं "दनुकबन्ध" से अधिकृत 'दण्डकारण्य' का भाग है। (अथवा—'दनुकबन्धा' धिष्ठित कुञ्ज-पुञ्जों वाला 'दण्डकारण्य' का भाग है।) इसी के पास यह 'मतङ्ग' ऋषि का आश्रम है वहीं यह 'श्रमणा' नाम वाली सिद्ध शबर-तपस्विनी (भिलनी) है। और यह 'पम्पा' नामक कमल-सरोवर है।

सीता—जहां आप (रावण के प्रति) क्रोध तथा स्वाभाविक धीरता को छोड़-कर गला फाड़ कर रोये थे।

संस्कृत-व्याख्या

भगवतो रामस्य मुखादेवं दुःखकथामुपश्रुत्य भगवती सीता प्राह—हद्धि-इति। हा धिक्। अतिभूमिं=सीमातिरेकं गतेन=अतिवृद्धेनेति यावत्। रणरणकेन=उत्कण्ठातिशयेन, आर्यपुत्रशून्यमिव=रामविरहितमिव, आत्मानं पश्यामि। औत्सुक्याधिक्येन ममापीयं भावना सम्प्रति जाता, यदहं रामविरहितास्मीति भावः। ममापि सैवावस्था जातेति तत्वम्। "औत्सुक्ये रणरणकः स्मृतः" इति हलायुधः। ["√रण शब्दे" इति धातोर्घञ्प्रत्ययः, द्वित्वञ्च। संज्ञायां 'कन्' प्रत्ययः।]

सर्वमपीदं परितापकरं विदित्वा लक्ष्मणः स्वगतमाह—भवतु-इति। अस्तु, आक्षिपामि-एतस्माद् वृत्तादन्यत्र सञ्चारयामि। तदैवास्य लोकस्य प्रशमो भविष्यति। चित्रे जटायुं निरीक्ष्याह—अथैतदिति। मन्वन्तर-पुराणस्य=अन्यो मनुः मन्वन्तरम्, "मन्वन्तरं तु दिव्यानां युगानामेकसप्ततिः" इत्यमरः। तस्मादपि पुराणस्य=प्राचीनस्य, [पुराणेषु चतुर्दश मनवो भवन्तीत्युपलभ्यते। तेषामधिकारकालो 'मन्वन्तर'

मित्युच्यते। षण्णां मनूनां समयो व्यतीतः । सप्तमस्य वैवस्वतमनोरधुना कालः।]
तत्रभवतः पूज्यजटायोश्चरित्र-विक्रमस्येदमुदाहरणम्। तेन रावणेन सह युद्धं कृत्वा यादृशं विक्रम-चरित्रं दर्शितं तदिदमालोक्यताम्।

श्रूयते कदाचिद् दशरथस्य राज्ञः साहाय्यं जटायुः कृतवान्। अतएव पितृतुल्यमेनं मन्यन्ते स्म रामादयः। अतएव सीता-राम-लक्ष्मणानां त्रयाणामप्युक्तौ "तात"—शब्दः प्रयुक्तः कविना। सीतोक्तौ च विशेष रूपेण—"अपत्यस्नेहः" इति प्रयुक्तवान् कविः। जटायोर्विक्रमः सीतया साक्षात् कृतः इति तस्य स्मरणेनाह सा—हा इति। हा तात ! ते=तव अपत्यस्नेहः=सन्तान-प्रीतिः=निर्व्यूढः=कृत-निर्वाहः सम्पन्न इति भावः। मदर्थं स्वकीयमपि शरीरं परित्यज्य भवता, सन्तानार्थं यादृशं वात्सल्यं क्रियते पितृजनेन, तस्य पूर्णतया निर्वाहः कृतः। तत्र त्रुटिसम्भावनापि नास्ति-इति भावः।

भगवान् रामोऽपि तस्य परोपकारभारं स्मृत्वा कथयति—हा तात ! इति। हा तात ! कश्यपात्मज ! [भगवतः कश्यपस्य "विनता" नाम्नी पत्नी जटायुमुत्पादितवती। सम्पातेरयमनुज आसीत्। इति पौराणिकी कथाऽत्रानुसन्धातव्या।] शकुन्तानां=पक्षिणां राजा, तत्सम्बुद्धौ हे शकुन्तराज ! भवद्विधस्य महापुरुषस्य साधोस्तीर्थभूतस्य सम्भवः कुत्र स्यात् ? परोपकारे स्वप्राणानप्यगणयतस्त्वादृशस्योत्पत्तिः साधारणपुण्यानां फलं नास्ति। एवंविधाः सर्वत्र न भवन्ति।

लक्ष्मणः चित्रे-दनुकबन्धादीनां वर्णनं कर्तुमाह—अयमिति। जनस्थानस्य पश्चिमदिशि "कुञ्जवान्" नाम पर्वतः। तत्रैव दनुकबन्धाधिष्ठितः जनस्थानस्य मध्यभागः। अस्य समीपवर्तिनि स्थाने "मतङ्गस्य" ऋषेराश्रमः ['पदशब्द' प्रतिष्ठासूचकः।] तत्रैव सिद्धतापसी श्रमणा शबरजातीया। इति। तदेतत् प्रसिद्धं 'पम्पा',-नामकसरः।

[अत्र पाठे पर्वतः इत्यस्य सम्बन्धो न शोभते। दण्डकारण्यस्य भागः कीदृशः ? दनुकबन्धेनाधिष्ठतः, कुञ्जाः=निकुञ्जाः, ('निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे' इत्यमरः) सन्ति यस्मिन् सः, इत्यर्थकरणे सरलता। 'पर्वत.' इत्यस्य च स्थापनेन काठिन्यमर्थयोजने परिपतति। न च कश्चिद् विशिष्टो लाभः।]

[१—दनुकबन्धो नाम "श्रियाः" नामाप्सरसः पुत्रो विश्वावसुः गन्धर्वः परम रूपसम्पन्नः बलवान् कामरूपः एकदा भयङ्करं रूपं कृत्वा महर्षिं स्थूलशिरसं परिखेदितवान्। तेन चेदृशरूपमाप्नुहि, इति शप्तः। कदाचिद् युद्धे शक्रं धर्षितवान् तदा तेन स्ववज्रेण ताडितः कबन्धरूपतामाप। इन्द्रस्यैवानुग्रहेण च योजनविस्तृतौ बाहू समुपलब्धवान् श्रीरामचन्द्रदर्शन-पर्यवसानश्चास्य शापः इति कथा वाल्मीकिरामायणस्य एकसप्ततितमेऽध्याये विशेषरूपेणावलोकनीया।

२. 'मतङ्ग' नामा महामुनिः परमकारुणिकः। तदीयान् शिष्यान् समिदाहरण-मार्जनादिविविधसेवाभिः परिचरन्ती काचित् शबरकन्या श्रमणा तस्यैव मुनेः

शिष्यतामभजत् । सिद्धायास्तस्या अपि श्रीराम-दर्शनेनोत्तम-लोकान्तर-प्राप्तिः सञ्जाता ।

३. 'ऋष्यमूक-'पर्वतस्य नातिदूरे 'पम्पा'-संज्ञकं नानापक्षिगणोपसेवितम्, कुमुद-कल्हार-नील-कमलादिशोभितं पावनजलपरिभृतं सरः आसीत् ।

४. क्वचिच्च "ऋष्यमूक पर्वते' इति पाठः समुपलभ्यते । स च पर्वतः । प्रसिद्धः । मतङ्गमुनेः शापात् बालिस्तत्र गन्तुं नाशकदिति सुग्रीवस्तत्र सचिवैः सहितो यथाकथंचित् काल नयति स्म ।

पम्पाया नाम श्रवणात्स्मृतपूर्ववृत्ता भगवती जनकनन्दिनी प्राह—जत्थ इति । यत्र किलार्यपुत्रः विच्छिन्नामर्षधीरतया सुचिरं मुक्तकण्ठो रुरोद ! तदेवेदं स्थानम् ? अमर्षश्च=क्रोधः धीरत्वञ्चेति अमर्षधीरत्वे विच्छिन्ने=विगलितेऽमर्ष धीरत्वे यस्मिन् कर्मणि तद् यथास्यात्तथा रावण-विनाशं कर्तुं क्रोधो विनष्टः, स्वाभाविकं धैर्यञ्चेति भावः । मम वियोगे केवलं रोदनमेव चक्षुःप्रीतिकरं सञ्जातमिति हृदयम् ।

टिप्पणी

(१) रणरणक—(घबराहटयुक्त) उत्कण्ठा । औत्सुक्ये रणरणकः स्मृतः ।" (हलायुध) । (२) मन्वन्तर—पुराणों में १४ मनुओं का वर्णन मिलता है । उनके अधिकार-काल को 'मन्वन्तर' कहते हैं । 'मनुस्मृति' में लिखा है—

"यत्प्राग्द्वादशसहस्रमुदितं दैविकं युगम् ।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥"

× × ×

"मन्वन्तरं तु दिव्यानां युगानामेकसप्ततिः ।" (अमरकोष)

वर्तमान मन्वन्तर 'वैवस्वत मन्वन्तर' है ।

(३) जटायु—जटायु कश्यप मुनि की पत्नी विनता से उत्पन्न अरुण का पुत्र तथा सम्पाती का छोटा भाई था । सुना जाता है एक बार इसने महाराज दशरथ की सहायता की थी, जिसके फलस्वरूप उनका सम्बन्ध बड़ा घनिष्ठ हो गया था । इसीलिए अपने पिता के मित्र के प्रति राम, लक्ष्मण और सीता जी का 'तात' शब्द का प्रयोग करना सर्वथा उचित है । (४) दनुकबन्ध—'दनुकबन्ध' 'श्री' अप्सरा का पुत्र विश्वावसु' नामक गन्धर्व था । वह अत्यन्त सुन्दर, बलशाली तथा इच्छानुरूप रूप धारण करने वाला था । एक बार उसने बड़ा भयङ्कर रूप धारण कर 'स्थूलशिरा' नामक ऋषि को बहुत तङ्ग किया । तब उन्होंने उसे—'जा ! तू इसी रूप में रह जा ! " यह बड़ा दारुण शाप दे दिया । तदनन्तर एक बार 'इन्द्र' ने उस पर वज्र का प्रहार किया जिससे उसका सिर पेट में घुस गया । केवल 'क़बन्ध' (धड़) मात्र ही रह जाने के कारण उसका यह नाम पड़ा । श्रीराम-लक्ष्मण

के दर्शन कर वह शाप से युक्त हो गया था। (५) श्रमणा—'मतङ्ग' नामक महामुनि परमकारुणिक, सर्वज्ञ तथा सर्वप्रिय थे। उनके आश्रम में रहने वाले शिष्यों की 'श्रमणा' नाम की एक शवर-तपस्विनी (भिलनी) बड़ी सेवा किया करती थी। वह कालान्तर में मतङ्ग जी' की शिष्या हो गई। उसकी भगवान् राम में अटूट भक्ति थी। सीता को खोजते हुये भगवान् राम-लक्ष्मण का दर्शन कर वह मुक्त हो गई थी। (६) पम्पा—'ऋष्यमूक' पर्वत के पास भांति-भांति के कमलों से युक्त 'पम्पा' नामक सरोवर था। [जहाँ कहीं—'ऋष्यमूक पर्वते' ऐसा पाठ है वहां उसका अर्थ 'ऋष्यमूक नामक पर्वत पर' है, जहां 'सुग्रीव' 'वालि' के डर से छिप कर जैसे-तैसे समय व्यतीत करता था।]

राम:—देवि ! परं रमणीयमेतत्सरः।

एतस्मिन्मदकलमल्लिकाक्षपक्ष-,
व्याधूतस्फुरदुरुदण्डपुण्डरीकाः।
वाष्पाम्भः परिपतनोद्गमान्तराले,
संदृष्टाः कुवलयिनो मया विभागाः ॥३१॥

अन्वयः—एतस्मिन्, मदकलमल्लिकाक्षपक्षव्याधूतस्फुरदुरुदण्डपुण्डरीकाः, कुवलयिनः विभागाः मया, वाष्पाम्भः परिपतनोद्गमान्तराले संदृष्टा ॥३१॥

हिन्दी—

राम—देवि ! यह सरोवर अत्यन्त सुन्दर है।

[श्लोक ३१]—इसमें मद के कारण अव्यक्त और मधुर कूजन करने वाले मल्लिकाक्ष नामक हंसों के पंखों से कंपाये हुए और सुशोभित नालों वाले श्वेत कमलों से युक्त नील-कमल-मय प्रदेशों को मैंने आंसुओं के गिरने और उमड़ने के समय देखा था।

[आशय यह है कि इस सरोवर में अत्यन्त मधुर शब्द करते हुए मल्लिकाक्ष हंसों के पंखों से मृणाल-दण्ड हिल रहे थे। नीले कमलों वाले प्रदेशों की ऐसी शोभा देखकर सीते ! तुम्हारे नेत्रों का स्मरण हो जाने के कारण मेरे नेत्रों में आंसू भर आये। मैंने डबडबायी आंखों से इन प्रदेशों को देखा था।

हंसों को देखकर तुम्हारी चाल, श्वेत कमलों से मुख तथा नील कमलों को देखकर तुम्हारे नेत्रों का स्मरण हो जाने के कारण मेरे आंसू टपाटप गिरने लगे थे।]

व्याख्यान्तर—

[कुछ विद्वान् 'मदकल' का 'मत्'+'अकल' यह पदच्छेद करते हैं। 'मत्= मेरे कारण अर्थात् मुझे कष्ट न हो इसलिये। अकल=कल कूजन रहित। मेरी सहानुभूति में मौन रहकर दुःख मानने वाले हंस। इस प्रकार यह अर्थ होगा—]

"मेरे चित्त को खेद न हो इसी कारण से (मानों) वे हंस भी मौन धारण कर (विरहोत्पादक) कमलों का विनाश कर रहे थे। इसी प्रकार मैंने आंसू भरी आंखों से वे नील-कमल युक्त विभाग देखे थे।"

अथवा हंसों के श्वेत वर्ण पङ्खों से हिलाये हुए श्वेत कमलों वाले प्रदेशों को आंसू भरी आंखों से नील-कमल-युक्त-सा देखा था। (उन हंसों के पंर और चोंच मटियाले थे और पङ्ख श्वेत। इस प्रकार दो रङ्ग मिलने से वे श्वेत-कमल नील-कमल से लग रहे थे। वास्तव में तो वहां श्वेत कमल ही विकसित थे, पर श्रीराम-चन्द्र जी को वे नीले से प्रतीत हो रहे थे।"

संस्कृत-व्याख्या

सरोवरस्य सौन्दर्यातिशयं वर्णयितुं भगवान् रामः प्राह—एतस्मिन्निति।

परमरमणीये एतस्मिन् सरसि मया रुदता सता कुवलय–सहिता, विभागाः समवलोकिताः। श्लोकः कठिनत्वाद् व्याख्यामर्हति। मदेन कलाः=अव्यक्तमधुराः, तथा भाषिणः, ये मल्लिकाक्षाः=हंसविशेषाः, तेषां पक्षैः व्याधूताः=परिकम्पिताः, स्फुरन्तः उरवो=विशाला दण्डाः=मृणालनालानि येषान्तानि पुण्डरीकाणि=श्वेतकमलानि येषु ते, कुवलयिनः, नीलकुवलय-युक्ताः, विभागाः=प्रदेशाः मया वाष्पाम्भसाम्=नेत्रजलबिन्दूनां परिपतनस्य=स्खलनस्य, उद्गमस्य=आविर्भावस्य उत्पत्तेरिति यावत्, अन्तराले=मध्ये संदृष्टाः=विलोकिताः।

अयमाशयः—अस्मिन् सरोवरे मदेन अव्यक्तं मधुरञ्च कुजन्तः मल्लिकाक्ष-संज्ञका हंसा निवसन्ति। यदा चैते इतस्ततः परिचलन्ति, तदा कमलानां नालजालानि कम्पन्ते, नीलकमलयुक्तानां विभागानाञ्चेदृशीं शोभां दृष्ट्वा तव नेत्रयोः स्मरणेन सहसा मम लोचनाभ्यां वाष्पोद्गमो भवति स्म, यावदेव नेत्राभ्यां जलं निर्गतम्, भूमौ च न पतितं, तस्मिन्नेव समये क्लिन्नचक्षुषा मया ते विभागाः संदृष्टाः। सम्यक् सुचिरं दृष्टाः। हंसानां दर्शनेन–तव गतिः, पुण्डरीकाणां दर्शनेन-तव मुखम्, नील-कमल-दर्शनेन नेत्रे, इत्येवं संस्मृत्य वियोगजन्यं दुःखमश्रुकारणमभवदिति सारः। धन्या एते विभागा ये सम्यक् परिदृष्टाः सन्तः प्रियां स्मारयन्ति। इति तत्त्वम्।

श्लोकस्यान्यो व्याख्यामार्गोऽपि वर्तते। केचित्—'मदकले' त्यत्र 'मत्' इति पञ्चम्यन्तं पदं स्वीकृत्य 'अकल' इति पदच्छेदमङ्गीकुर्वन्ति। अर्थश्चैवं तदा भवति। तथाहि—मदपेक्षया मम चेतसि दुःखं मा भूदिति मत्वा (मन्ये) ते मल्लिकाक्षा अपि अकलाः=कलं-मधुरं कूजितं, परित्यज्य विरहोद्दीपकानां पुण्डरीकाणां व्याधु-वन्=विनाशं कुर्वन्ति। युक्ततमश्चायमर्थः। "अपि ग्रावारोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्" इत्युक्त्वा हंसानामपि करुणोद्भवः समुचित एव। चक्रवाकमिथुनं रामशापग्रस्तं, कदाचिदस्माकमुपर्यपि रामः शापं पातयेदिति मौनमिव भजमानास्ते हंसाः। इति।

अथवा—हंसानां श्वेतपक्षैः परिचालितानि पुण्डरीकाणि येषु एवंविधा विभागा अश्रुझरप्लुताभ्यां लोचनाभ्यां नीलकमलयुक्ता इव संदृष्टा इति । हंसाश्च ते चरणैः चञ्चुभिश्च मलिना आसन् । ('मलिनैः (चञ्चुचरणैः) मल्लिकाक्षास्ते" इत्यमरः ।) मालिन्येन च कृष्णवर्णाः पक्षाणाञ्च श्वेतिमेति मिलित्वा नीलकुवलयतेव प्रतीयते स्म । इति भावः । वस्तुतस्तु सरोवरविभागे पुण्डरीकाण्येव विकसितान्यासन्, नीलकमलवत्ता तु समुत्प्रेक्ष्यते । अत्र उत्प्रेक्षा अलङ्कारः । प्रहर्षिणीच्छन्दः । लक्षणमुक्तं प्राक् । ओजो गुणः । गौडी रीतिः ॥३१॥

टिप्पणी

(१) **मल्लिकाक्ष**—जिनके चोंच और पंजे मटमैले रंग के होते हैं, उन हंसों को 'मल्लिकाक्ष' कहते हैं। जिनके चोंच और पंजे लाल होते हैं उन्हें 'राजहंस' तथा जिनके काले होते हैं उन्हें 'धार्तराष्ट्र' कहते हैं।

"आताम्रै राजहंसाः स्युर्धार्तराष्ट्राः सितेतरैः ।
मलिनैर्मल्लिकाक्षाश्च, कथ्यन्ते चरणाननैः ॥" (हलायुध)

(२)**पुण्डरीक**—श्वेतकमल—"पुण्डरीकं सिताम्भोजम् ।" (अमर०)

(३) **कुवलय**—नीलकमल—"स्यादुत्पलं कुवलयम् ।" (अमर०)

(४) 'मया विभागाः' के स्थान पर कहीं-कहीं 'भुवो विभागाः' पाठ भी मिलता है, जिसका अर्थ होगा 'भूमिखण्ड'।

(५) यहाँ उत्प्रेक्षालङ्कार है। कुछ ने यहाँ 'भ्रान्तिमान्' माना है, किन्तु यह उचित नहीं। राम को श्वेतकमलों में नील-कमलों की भ्रान्ति नहीं हुई थी, वे कमलों की यथार्थता से परिचित थे, उन्हें या तो आँखें डबडबायी होने के कारण अथवा मल्लिकाक्ष हंसी की समीपता के कारण वे नीले-से प्रतीत हुए थे। अतः यहां उत्प्रेक्षालङ्कार ही है। प्रहर्षिणी छन्द। ओज गुण। गौडी रीति।

लक्ष्मणः—अयमार्यो हनूमान् ।

सीता—एसो सो चिरणिव्वूढजीवलोअपच्चुद्धरणगुरुओवआरी महाणुभावो मारुदी । (एष स चिरनिर्व्यूढजीवलोकप्रत्युद्धरणगुरूपकारी महानुभावो मारुतिः ।)

राम :—

दिष्ट्या सोऽयं महाबाहुरञ्जनानन्दवर्धनः ।
यस्य वीर्येण कृतिनो, वयं च भुवनानि च ॥३३॥

हिन्दी—

लक्ष्मण—ये आर्य हनुमान हैं।

सीता – ये सर्वात्मना जीवलोक का उद्धार करने से महान् उपकारी तथा प्रभाववान् हनुमान जी हैं।

राम—[श्लोक ३२] सौभाग्य से ये वही पराक्रमशाली एवं अपनी माता अञ्जनी के आनन्द को बढ़ाने वाले हनुमान हैं जिनके पराक्रम से हम और सम्पूर्ण लोक कृतकृत्य हैं।

संस्कृत-व्याख्या

लक्ष्मणः "अयमार्यो हनूमान्" इति सादरं, वदति—भगवती सीता च हनूमतः उपकारभारं स्वीकृत्य प्राह—एसो इति। चिरनिर्व्यूढं=निःशेषरूपेण सम्पादितं जीवलोकस्य प्रत्युद्धरणं=समुद्धारः तेन गुरूपकारी महानुभावः प्रतापशाली, मरुत्त-नयः एषः स हनूमानस्ति।

अत्रायं रहस्य-सारः। रावणापहृतायाः सीतायाः दुःखेन भगवान् श्रीरामोऽति-दुःखितोऽभूत्। सीतागवेषणां विधाय, युद्धाय भगवन्तं सुसज्जितं कृत्वा, लङ्काविजयेन सीता—प्राप्त्या रामः प्रत्युज्जीवितः। भगवति रामे च प्रत्युज्जीवते सर्वोऽपि लोकः प्रत्युज्जीवितः। तत्र च प्राधान्यमस्यैव महानुभावस्येति भावः। एतेन हनूमतोऽनुपमेयः उपकारो द्योतितः।

सीतामुखात् तस्य प्रशसां निशम्य भगवान् रामोऽप्यतिशयकृतज्ञतां प्र कटयितु माह—दिष्ट्येति।

दिष्टया=आनन्दपूर्वकं मयेदं निगद्यते यदयं स महाबाहुः=अपारवीर्यवान्, अञ्जनायाः=स्व-जनन्या आनन्दस्य वर्धकः प्रियो—हनूमानस्ति। यस्य वीर्येण वयं कृतिनः=कृतार्थाः सञ्जाताः स्म, सर्वाणि च भुवनानि कृतार्थानि सन्ति। सीता-समुद्धारान्मम-समुज्जीवनम्, तेन चाखिलभुवनानि समुज्जीवतानि। इति भावः।

अत्रोदात्तालङ्कारः। महापुरुषस्य चरित्रवर्णनात्। पथ्यावक्त्रं च्छन्दः॥३२॥

टिप्पणी

(१) दिष्ट्या—प्रसन्नतासूचक अव्यय। (२) अञ्जनानन्दवर्धनः—अञ्ज-नाया आनन्दं वर्धयतीति। 'अञ्जना' हनूमान् जी की माता का नाम था। इसलिए उनका नाम "आञ्जनेय" भी है। (३) रामचन्द्र जी के चरित्र की सबसे अधिक आकर्षित करने वाली विशेषता है उनकी कृतज्ञता की भावना। हनूमान् जी की प्रशंसा में उन्होंने अपने हृदय की इसी विशालता का परिचय दिया है। "यस्य वीर्येण कृतिनो वयं च भुवनानि च" इससे बढ़कर और क्या कृतज्ञता प्रकाशित की जा सकती है? (४) उदात्तालङ्कार। पथ्यावक्त्र छन्द।

—०—

सीता—वच्छ! एसो सो कुसुमिदकदम्बताण्डविअबंहिणो किंणामहेओ गिरी? जत्थ अणुभावसोहग्गमेत्तपरिसेससुन्दरसिरी मुच्छन्दो तुए परुण्णेण ओलम्बिओ तरुअले अज्जउत्तो आलिहिदो? [वत्स! एस स कुसुमितकदम्बताण्डवितबर्हिणः किन्नामधेयो

गिरिः ? यत्रानुभावसौभाग्यमात्रपरिशेषसुन्दरश्रीर्मूर्च्छंस्त्वया प्ररुदि-तेनावलम्बितस्तरुतले आर्यपुत्रः आलिखितः ?]

लक्ष्मणः—

सोऽयं शैलः ककुभसुरभिर्माल्यवान्नाम यस्मि—
न्नीलः स्निग्धः श्रयति शिखरं नूतनस्तोयवाहः ।
आर्येणास्मिन्…… . ………………

राम :—

……—विरम विरमातः परं न क्षमोऽस्मि,
प्रत्यावृत्तः स पुनरिव मे जानकीविप्रयोगः ॥३३॥

हिन्दी—

सीता—वत्स ! विकसित कदम्ब के वृक्ष पर ताण्डव करने में रत मयूरों से युक्त यह कौन-सा पर्वत है ? जहां वृक्ष के नीचे रोते हुए, तुम्हारे द्वारा पकड़े गये, प्रभावमात्र से अवशिष्ट शोभा के कारण सुन्दर तथा मूर्छित होते हुए आर्यपुत्र को चित्रित किया गया है।

लक्ष्मण—[श्लोक ३३] 'अर्जुन' पुष्पों से सुरभित यह वही माल्यवान् नामक पर्वत है जिसके शिखर पर नीला-नीला, नया-नया मनोहर मेघ विश्राम ले रहा है। आर्य ने यहां ……… ।

राम—……"बस, बस ! (अब उस दशा का वर्णन मत करो) मैं इससे अधिक नहीं सुन सकता। मुझे तो ऐसा लग रहा है मानों जानकी का वह विरह फिर से लौट आया हो"।

संस्कृत-व्याख्या

चित्रे माल्यवन्तं पर्वतं दृष्ट्वा सीतादेवी लक्ष्मणं प्रत्याह—वत्स—इति। वत्स ! कुसुमितेषु=सञ्जात–कुसुमेषु कदम्ब–पादपेषु ताण्डविताः=ताण्डव—नृत्य–युक्ताः बर्हिणाः=मयूरा यस्मिन् एवंविधः किंनामधेयः पर्वतोऽयम् ? यस्मिन् पर्वते अनुभावस्य—प्रभावशक्तेः सौभाग्यमात्रस्य परिशेषेण सुन्दरी श्रीः=शोभा यस्य सः तरुतले=वृक्षस्य नीचैः मूर्च्छित आर्यपुत्रः प्ररुदता त्वया आलिखितः। अर्थात्—कदम्बवृक्षाः पुष्पयुक्ताः सन्ति तत्र मयूरा नृत्यं कुर्वन्ति। आर्य-पुत्रं मूर्च्छितमवलम्ब्य वृक्षस्याधस्तात्त्व स्थितः। असौ पर्वतः कतमोऽस्तीत्यर्थः ?

लक्ष्मणः सीतादेव्या उत्तरं दातुं प्राह—सोऽयमिति।

आर्ये ! सोऽयं ककुभानां अर्जुनवृक्षाणां विकारा.=पुष्पाणि तैः सुरभिः=सुगन्धितः, "माल्यवान्" नाम पर्वतः। यस्योपरिभागे नवीनः जलपूर्णः, नीलः,

मसृणश्च मेघः स्थितोऽस्ति। अस्मिन् पर्वते आर्येण····इति कथयन्तं लक्ष्मणं मध्ये एव समाक्षिप्य रामः प्राह—वत्स ! विरम, विरम; अतः परं मम दशावर्णनं मा कुरु, अहमिदानीं श्रोतुमसमर्थोऽस्मि। मन्ये, स जानक्याः वियोगः पुनः प्रत्यावृत्तः। चित्रदर्शनेऽपि वास्तविकी सैव वियोगभावना पुनरपि समागतेव वर्तते।

अत्र वियोगस्य प्रत्यावर्तनसम्भावनया उत्प्रेक्षालङ्कारः काव्यलिङ्गालङ्कारश्च। मन्दाक्रान्ताच्छन्दः। तल्लक्षणञ्च—

"मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ नतौ ताद् गुरू चेत्" इति

भाविसीता-विरह-सूचनात् 'परिभावना' नाम मुखसन्धेरङ्गम्। तल्लक्षणञ्च यथा दर्पणे—

"कुतूहलोत्तरावाचः प्रोक्तातु परिभावना।" इति।

श्लोकोऽयं सरस—सरस शैल्या प्रतिपादितः। अत्र प्रतिपादनमधुरिमा सहृदयानां हृदयानि बलादावर्जयत्येव। पदशय्या च नितान्तं कोमला। अत्रभवता कविकुल गुरुणा च सरसतमं किमप्युक्तमत्र—

"एतद्गिरेर्माल्यवतः पुरस्तात्,
प्रादुर्भवत्यम्बरलेखि शृङ्गम्।
नवं पयो यत्र घनैर्मया च,
त्वद्विप्रयोगाश्रुसमं विसृष्टम्॥"
(रघुवंशे)

उभयोः कविपुङ्गवयोर्वर्णनशैली–परिशीलनेन रसास्वादो महानुभावैः प्रकामं क्रियताम् ॥३॥

टिप्पणी

(१) इस श्लोक में कवि ने 'परिभावना' नामक मुखसन्धि के अङ्ग का वर्णन किया है। 'परिभावना' का लक्षण है—

"कुतूहलोत्तरावाचः प्रोक्ता तु परिभावना।" भावी सीता-विरह की सूचना इस श्लोक में दी गई है।

(२) इस श्लोक की रचना कवि ने बड़े कौशल से की है। प्रारम्भिक लगभग ढ़ाई पंक्तियों में लक्ष्मण की उक्ति है और बाद में राम की। तीसरी पंक्ति में कहीं-कहीं 'वत्सैतस्माद्विरम' यह पाठ भी मिलता है, किन्तु उसकी अपेक्षा स्वीकृत पाठ ही अधिक प्रभावोत्पादक है। कवि का कौशल यह है कि राम के "प्रत्यावृत्तः·····वियोग" कहने के अनन्तर ही 'चित्रदर्शन' समाप्त हो जाता है। (४) विरम–विरम—सम्भ्रमे द्विरुक्तिः। (४) ककुभः—ककुभ+अण् "तस्य विकारः"। "पुष्पमूलेषु बहुलम्" इति तस्य लुप् च। "इन्द्रद्रुः ककुभोऽर्जुनः।" (अमरकोष)। (५) उत्प्रेक्षालङ्कार। मन्दाक्रान्ता छन्द।

लक्ष्मणः—अतः परमार्यस्य तत्रभवतां राक्षसानां चापरिसङ्ख्यान्युत्तरोत्तराणि कर्माश्चर्याणि । परिश्रान्ता चेयमार्या । तद्विज्ञापयामि 'विश्राम्यतामि'ति ।

सीता—अज्जउत ! एदिणा चित्तदंसणेण पच्चुप्पण्णदोहलाए मए विण्णावणिज्जं अत्थि । [आर्यपुत्र ! एतेन चित्रदर्शनेन प्रत्युत्पन्नदोहदाया मम विज्ञापनीयमस्ति ।]

राम :—नन्वाज्ञापय ।

सीता—जाणे पुणोवि पसण्णगम्भीरासु वणराईसु विहरिअ पवित्तणिम्मलसिसिरसलिलं भअवदिं भाईरहिं ओगाहिस्सं ति । [जाने पुनरपि प्रसन्नगम्भीरासु वनराजिषु विहृत्य पवित्रनिर्मलशिशिरसलिलां भगवतीं भागीरथीमवगाहिष्य इति ।]

रामः—वत्स लक्ष्मण !

लक्ष्मणः—एसोऽस्मि ।

रामः—वत्स ! 'अचिरादेव संपादनीयो दौहद' इति संप्रत्येव गुरुभिः संदिष्टम् । तदस्खलितसंपातं रथमुपस्थापय ।

सीता—अज्जउत्त ! तुह्मेहिं वि आअन्दव्वम् । (आर्यपुत्र ! युष्माभिरप्यागन्तव्यम् ।)

रामः—अतिकठिनहृदये ! एतदपि वक्तव्यम् ?

सीता—तेण हि पिअं मे । [तेन हि प्रियं मे ।]

लक्ष्मणः—यदाज्ञापयत्यार्यः । (इति निष्क्रान्तः ।)

रामः—प्रिये ! वातायनोपकण्ठे संविष्टा भव ।

सीता—एव्वं होदु । ओहरिदह्मि परिस्समणिद्दाए । [एवं भवतु । अपहृतास्मि परिश्रमनिद्रया ।]

राम :—तेन हि निरन्तरमवलम्बस्व मामत्र शयननाय ।

जीवयन्निव ससाध्वसश्रम-
स्वेदबिन्दुरधिकण्ठमर्प्यताम् ।
बाहुरैन्दवमयूखचुम्बित-
स्यन्दिचन्द्रमणिहारविभ्रमः ॥३४॥

अन्वयः—ससाध्वसश्रमस्वेदबिन्दुः, (अतएव) ऐन्दवमयूखचुम्बितस्यन्दिचन्द्रमणिहारविभ्रमः, जीवयन्निव, वाहुः, अधिकण्ठमर्प्यताम् ॥३४॥

हिन्दी—

लक्ष्मण—इससे आगे आर्य (वानरों-पाठां—) एवं राक्षसों के अगणित एवं उत्तरोत्तर आश्चर्यजनक कार्य (चित्रित) हैं। अब आप थक गई हैं; इसलिए मैं निवेदन करता हूं कि आप विश्राम कीजिये।

सीता—आर्यपुत्र! इस चित्रदर्शन से मुझे इच्छा होने के कारण कुछ निवेदन करना है।

राम—(अरे, निवेदन नहीं) आज्ञा दो।

सीता—मैं एक बार पुनः गहन वनावलियों में विहार का पवित्र, स्वच्छ एवं शीतल जल वाला गङ्गा जी में अवगाहन करना चाहिती हूं।

राम—वत्स! लक्ष्मण।

लक्ष्मण—आर्य! (सेवा में) उपस्थित हूं।

राम—वत्स! "इनकी गर्भावस्था की इच्छा को अविलम्ब पूर्ण करना चाहिये" यह अभी-अभी गुरुजनों ने सन्देश दिया है। अतएव बिना धचक (हिचकोले) लगने वाला रथ सुसज्जित करो।

सीता—आर्यपुत्र! आप भी आइयेगा।

राम—कठोरहृदये! क्या यह भी कहने की बात है? (तुम्हारे कहे बिना ही मैं आऊंगा।)

सीता—तब तो मेरे लिये बड़ा प्रिय है।

लक्ष्मण—जो 'आर्य' आज्ञा देते हैं।

[चले जाते हैं]

राम—प्रिये! झरोखे के पास बैठ जाओ।

सीता—ऐसा ही हो (ऐसा ही करती हूं।) थकावट के कारण मैं निद्राकान्त हो रही हूं।

राम—तो यहां शयन करने के लिए भली-भांति मेरा सहारा ले लो।

[श्लोक ३४] (चित्र में शूर्पणखा कबन्ध और अन्य दृश्यों को देखने से) घबराहट तथा (बहुत समय तक बैठे रहने की) थकावट के कारण पसीने की बूंदों से युक्त चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श से चूने वाले चन्द्रकान्त-मणि के हार की-सी शोभा वाले एवं मेरे जीवन-दाता-सदृश इस कोमल कर को मेरे गले में डालो।

संस्कृत-व्याख्या

चित्र-दर्शनेन गंगास्नानाय वन-विहाराय चेच्छां प्रकटितवती भगवती सीतादेवी। रामेणापि गुरुणामादेशानुरूपं अस्खलितसम्पातं रथं समानेतुं लक्ष्मण-

याज्ञा प्रदत्ता। सीतादेवी तदा कथयति--अज्जउत्त इति। आर्यपुत्र! भवद्भिरपि समागन्तव्यम्। नाहमेकाकिनी तत्र गत्वा विहारं करिष्यामि इति भावः।

रामः प्राह—अति इति। अतिकठोरहृदये! प्रिये! किमु एतदपि त्वया वक्तव्यम्? इदन्तु कथनमन्तरापि सम्भाव्यते एव। अवश्यं समागमिष्यामीति हृदयम्।

श्रीरामः सीतादेवीं वातायन-समीपे स्ववाहुसमाश्रयणेन यथासुखं शयनं कर्तुं प्रेरयति—जीवयन्निवेति।

प्रिये! ससाध्वसश्रमेण स्वेदस्य विन्दवो यस्मिन् सः, स्वकीयो बाहुः मम कण्ठेऽर्प्यताम्। एवं कृत्वा मन्ये मम पुनरुज्जीवनमेव भविष्यति। तवायं करः, प्रस्वेदयुक्तः सन् चन्द्रकिरणानां सम्पर्कात् चन्द्रकान्तमणिनिर्मितहारः, जलकण-परिमोचको यथा भवति, तथा प्रतीयते। ऐतेन बाहोः शैत्याधिक्यं प्रतीयते। तव भुजस्य कण्ठार्पणेन विशेषशान्तिर्मम चेतसि समायातीति भावः।

अत्र जीवयन्निवेत्युत्प्रेक्षा, चन्द्रमणिनिर्मितहारस्य विभ्रम इव विभ्रमो यस्येति निदर्शना चालङ्कारः। रथोद्धता च्छन्दः। तल्लक्षणञ्च यथा—

"रान्नराविह रथोद्धता लगौ।" इति।

माधुर्यं गुणः। वैदर्भी रीतिः ॥३४॥

टिप्पणी

(१) अवगाहिष्ये—अवगाहन करूंगी। अव + √गाह् + लृट्। (२) अस्खलितसम्पातम्—अस्खलितः = अप्रत्याहतः, सम्पातो गमनं यस्य तम्। (३) अतिकठिनहृदये—सीता के यह कहने पर कि 'आप भी चलियेगा' राम कहते हैं 'क्या यह भी कहने की बात है?' 'कठोरहृदये' कहा तो हंसी में सीता को गया पर आगामी घटना-चक्र ने सिद्ध कर दिया कि कठोरहृदय कौन था? (४) वातायनोपकण्ठे—वातस्य अयनमागमनं यस्मात् तद्वातायनं, तस्योपकण्ठे समीपे। (५) निरन्तरम्····· शयनाय:"—शमन-दृश्य आलोचकों को खटकने वाली बात है। (६) "ऐन्दव·· ···विभ्रमः"—ऐन्दवैर्मयूखैः = किरणैश्चुम्बितः = स्पृष्टः, स्यन्दी यश्चन्द्रमणिहारः = चन्द्रकान्तमणिमाला, तस्य विभ्रमो विलास इव विभ्रमो यस्मिन् सः। चन्द्रमा की किरणों से जल को बूंद स्रवित करने वाले चन्द्रकान्तमणि के हार के समान बाहु पर पसीने की बूंदें ऐसी लगती हैं जैसे कि चन्द्रकान्त मणि के हार पर चन्द्रमा के उदय होने पर जल की बूंद झलक जाती हैं।

(तथा कारयन् सानन्दम्)

राम प्रिये! किमेतत्?

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा,

प्रमोहो? निद्रा वा? किमु विषविसर्पः? किमु मदः?

नव स्पर्शे-स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो,
विकारश्चैतन्यं भ्रमयति च सम्मीलयति च ॥३५॥

सीता—धीरप्पसादा तुह्मे त्ति, इदो दाणि किमवरं ? [धीर-प्रसादा यूयम्, इत इदानीं किमपरम् ?]

अन्वयः—(प्रिये !) तव, स्पर्शे-स्पर्शे परिमूढेन्द्रियगणः, विकारः, मम, चैतन्यं, भ्रमयति, सम्मीलयति च; (अत एवायं) सुखम् इति वा, दुःखम् इति वा, प्रमोहः निद्रा वा, विषविसर्पः किमु मदः किमु (इति) विनिश्चेतुं न शक्यः ।

हिन्दी—

(वैसा कराते हुए आनन्दपूर्वक प्रिये ! यह क्या है ?)

[श्लोक ३५]—तुम्हारे शरीर के प्रत्येक स्पर्श से मेरी समस्त इन्द्रियां मोहित सी हो रही हैं और यह कोई (अज्ञात एवं अनिवर्चनीय) आन्तरिक विकार मेरी चेतना को कभी भ्रान्त और कभी प्रकाशित कर रहा है । मैं यह निश्चय नहीं कर पा रहा हूं कि यह सुख है या दुःख ? मोह (नशा है अथवा निद्रा स्वप्न) ? विष का प्रभाव है या कोई मद है ? तुम्हारे (शरीर के) प्रत्येक स्पर्श में एक (बिजली का सा प्रभाव है जिसके कारण मुझे अपने शरीर का ज्ञान नहीं हो रहा है ।)

सीता—आपकी मेरे ऊपर अपार अनुकम्पा (तथा स्नेह) है, इसलिए आपके इस कथन में आश्चर्य ही क्या है ? (आपका मुझ पर सच्चा स्नेह है । इसलिये मैं तो इन वचनों को आपके स्नेह का प्रसाद समझती हूं ।)

संस्कृत-व्याख्या

श्रीरामः सीताया हस्तं स्वकण्ठे धारयित्त्वा सुखमनुभवन् कथयति—विनिश्चेतुमिति ।

अयि प्रिये ! तव स्पर्शे ममेन्द्रिय-गणः परितो मुग्ध इव सञ्जायते, कोऽप्यद्भुतोऽयं विकारो मम चेतनतामेव भ्रामयति, सम्मीलयति च प्रकाशयति च । कदाचित् चेतना चक्रमारोहति, कदाचित् च प्रकाशमायाति । अहं निश्चयं कर्तुमेव न पारयामि, एतत् सुखमस्ति दुःखं वा ? किं प्रमोहः ? किं वा निद्रा अथवा विषस्यैव प्रसारोऽयम् ? यद् वा मदः कोऽपि ? ईदृशेषु विकारेषु यादृशी दशा चैतन्यस्य भवति, तादृश्येव साम्प्रतं मयानुभूयते । धन्योऽयं तव स्पर्श इति भावः ।

अत्र सन्देहालङ्कारः । तल्लक्षणञ्च यथा—

"सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः ।
शुद्धो निश्चय-गर्भोऽसौ निश्चयान्त इति त्रिधा ॥" इति ।

वस्तुतस्तु संशयोऽयं प्रतिभोत्थितो न भवति । अपि तु रामस्य वितर्कमात्रमेव । यदि च सहृदयैः प्रतिमोत्थितत्वमेव मन्यते, तदा तु सन्देहे नास्ति सन्देहः । उत्तरा-

र्थोक्तिसमर्थनात् काव्यलिंगालङ्कारश्च । प्रसादो गुणः । लाटी रीतिः । शिखरिणी-च्छन्दः ॥३५॥

श्री रामस्य मुखान्निजां प्रशंसां श्रुत्वा सीतादेवी प्राह—धीरप्पसादाइति । आर्यपुत्र ! भवतां धीरप्रसादता मयि महान् प्रसादः=प्रेमातिरेकः । इत्यत्र किम् आश्चर्यमस्ति ? भवन्तो यद्वदन्ति तत्राहं किं कथयामि ? प्रेमप्रसाद एवायमित्येव जाने ।

टिप्पणी

(१) यह श्लोक भवभूति की अनेक भावों को एक साथ व्यक्त करने की— मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की क्षमता की साक्षी दे रहा है । सीता के स्पर्श से राम की मानसिक दशा का कैसा सुन्दर चित्र खींचा गया है ! वे कहते है-कि यह निश्चय ही नहीं हो पा रहा है कि यह सुख है या दुःख ? प्रमोह है या निद्रा ? विष का प्रसार भी नहीं है क्योंकि कोई तज्जन्य विकार नहीं है । यह तो विविध भावों का ऐसा सम्मिश्रण है कि कुछ कहा नहीं जा सकता । (२) मद—"सम्मोहानन्दसम्भेदो मदो मद्योपयोगजः ।" (साहित्यदर्पण) (३) चैतन्यम्—चेतनताम् । वीरराघव इसका अर्थ करते हैं—"चैतन्यमन्तःकरणावच्छिन्न-चैतन्यम् । जीवचैतन्यमिति यावत् । अद्वैतमतप्रक्रियसेदमुक्तम् । मदन्तरात्मानमिति फलितोऽर्थः ।" (४) विसर्प=वि+सृ+√घञ् । (५) यहां सन्देहालंकार नहीं अपितु वितर्कमात्र ही है, क्योंकि यह 'प्रतिभोत्थित' नहीं है, फिर भी यदि कुछ लोग इसे 'प्रतिभोत्थित' मानें तो सन्देह मान सकते हैं । शिखरिणीछन्द । धीरप्रसादा यूयम्......—इतने दिन बीत जाने पर भी आपका प्रसाद मुझ पर ज्यों का त्यों है, इससे बढ़कर मुझे और क्या चाहिये ? कहीं-कहीं "धीर-प्रसादा यूयमित्यत्रेदानीमाश्चर्यम् ?" पाठ भी मिलता है, उस अर्थ में खींच-तान करनी पड़ती है ।

राम :—

म्लानस्य जीवकुसुमस्य विकासनानि,
सन्तर्पणानि सकलेन्द्रियमोहनानि ।
एतानि ते सुवचनानि सरोरुहाक्षि !
कर्णामृतानि मनसश्च रसायनानि ॥३६॥

सीता—पिअंवद ! एहि । संविसह्म । (प्रियंवद ! एहि । संविशावः ।

(इति शयनाय समन्ततोऽपि निरूपयति ।)

अन्वयः—(हे) सरोरुहाक्षि ! एतानि ते सुवचनानि, म्लानस्य, जीवकुमस्य विकासनानि, सन्तर्पणानि, सकलेन्द्रियमोहनानि, कर्णामृतानि, मनसः, च रसायनानि (सन्ति) ॥३६॥

हिन्दी—

राम—[श्लोक ३६]—कमललोचने ! तुम्हारे ये मधुर वचन मुरझाए हुए जीवन-कुसुम को विकसित और तृप्त करने वाले, समस्त इन्द्रियों के मोहकारी कानों के लिये अमृत-तुल्य तथा मन के लिए रसायन के समान (शक्तिप्रद) हैं ।

सीता—मधुरभाषिन् ! आइए, विश्राम करें ! (ऐसा कहकर सोने के लिये चारों ओर देखती है ।)

संस्कृत-व्याख्या

पुनरपि देव्याः प्रीतिरसस्निग्धानि वचनानि निशम्य भगवान् रामः प्राह—म्लानस्येति ।

सरोरुहाक्षि ! कमलतुल्यनयने ! प्रिये ! एतानि तव सुरम्याणि वचनानि, म्लानिं गतस्य मम जीव-कुसुमस्य विकसनाय पर्याप्तानि, तृप्तिकराणि, सकलानामिन्द्रियाणां मोहनाय गृहीतव्रतानीव, कर्णयोरमृतप्रदाने समर्थानि, मनसो रसायनानीव च बलप्रदानि सन्ति । तव वचन-सुधा-माधुरी सर्वात्मना सर्वेन्द्रियाणांमनसश्च प्रमोदावहा विद्यते ।

सीता वचनेषु रसायनारोपाद् रूपकालङ्कारः । तल्लक्षणञ्च यथा—

"रूपकं रूपितारोपाद्विषये निरपह्नवे ।" इति ।

सरोरुहाक्षित्यत्र उपमा च । प्रसादो गुणः । लाटी रीति । वसन्ततिलकाच्छन्दः लक्षणं प्रागुक्तम् ॥३६॥

टिप्पणी

रसायनानि—आप्यते आनीयतेऽनेनेत्ययनम् । रसस्यायनमिति रसायनम् । प्र० बहुवचन ।

प्रियंवदा—"प्रियवशे वदः खच्" । प्रिय + √वद + खच्

रामः—अयि ! किमन्वेष्टव्यम् ?

अविवाहसमयाद् गृहे वने, शैशवे तदनु यौवने पुनः ।
स्वापहेतुरनुपाश्रितोऽन्यया, रामबाहुरुपधानमेव, ते ॥३७॥

सीता—(निद्रां नाटयन्ती) अत्थि एदम् । अज्जउत्त ! अत्थि एदम् । (अस्त्येतत् । आर्यपुत्र ! अस्त्येतत् ।) (इति स्वपिति ।)

अन्वयः—आविवाहसमयात् शैशवे गृहे, तदनु पुनर्यौवने वने स्वापहेतुः, अन्यथा, अनुपाश्रितः एष रामबाहुः, ते उपधानं (अस्ति ।) ॥३७॥

हिन्दी—

राम—अरे ! क्या ढूंढ रही हो ? (क्या तकिया ढूंढती हो ? इसकी आवश्यकता नहीं है । देखती नहीं हो ?—)

[श्लोक ३७]—विवाह के समय से लेकर कुमारावस्था में घर में, तदनन्तर यौवनकाल में पुनः वन में शयन का प्रधान उपकरण और जिसे कि (आज तक तुम्हारे अतिरिक्त) किसी दूसरी स्त्री को सेवित करने का सौभाग्य नहीं मिला है, यह राम का हाथ तुम्हारे लिये तकिया है।

सीता—(निद्रा का अभिनय करती हुई) ऐसा ही है आर्यपुत्र ! ऐसा ही है।
[सो जाती हैं।]

संस्कृत-व्याख्या

शयनसुखार्थमुपधानमितस्ततो गवेषयन्तीं सीताम्प्रत्याह श्रीरामः—अविवाहेति।

अयि ! किमन्विष्यते भवत्या ? 'अपि सन्देष्टव्य'मिति क्वचित्पाठः। अपीति प्रश्नवाचकः। किंस्वित् किमपि सन्देष्टव्यमस्ति ? ननु उपधानान्तरस्य का आवश्यकता ? अयं रामस्य बाहुस्तवोपधानं भविष्यति। अद्यावधि अन्यया कयापि स्त्रियाऽयं बाहुर्नोपाश्रितः। [एकपत्नीव्रतत्वमेतस्मिन् कारणम्।] विवाहसमयमारभ्य गृहे, बाल्ये मम बाहुरेव तवोपधानतां गतः, यौवनसमये च वनेऽपि अयमेव तथाभूतः एनमाश्रित्यैव त्वया शयनं विहितम्। अद्यैव पुनः किमिति उपधानान्तरान्वेषणं क्रियते ? इतिभावः।

अत्र रामस्य बाहौ उपधानस्यारोपात् प्रकृतोपयोगित्वात् च परिणामालङ्कारः। यदि केवलमारोनमत्र तदा तु रूपकम्, प्रकृतार्थोपयोगे च परिणामः इत्येव तयोर्भेदः। परिणामस्य स्वरूपञ्च—

"विषयात्मतयारोप्ये, प्रकृतार्थोपयोगिनि।
परिणामो भवेत्तुल्याऽतुल्याधिकरणो द्विधा।" इति।

प्रसादो माधुर्यं वा गुणः। वैदर्भी रीतिः। रथोद्धताच्छन्दः। तल्लक्षणञ्च—
"रान्नराविह रथोद्धता लगौ।" इति ॥३७॥

टिप्पणी

"अनुपाश्रितोऽन्यया" राम के इस कथन से उनके एकपत्नीव्रत की सूचना मिलती है। समयात्—'आङ्' के योग में पञ्चमी। उपधानम्—उपधीयते शिरः अत्र इति उपधानम् "उपधानं तूपबर्हम्" इत्यमरः।

रामः—कथं प्रियवचनैव मे वक्षसि प्रसुप्ता ? (निर्वर्ण्य। सस्नेहम्)।

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः।

अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः,
किमस्या न प्रेयो ? यदि परमसह्यस्तु विरहः ॥३८॥

अन्वयः—इयं गेहे लक्ष्मीः, इयं नयमयोः अमृतवर्तिः, असौ, अस्याः स्पर्शः, वपुषि, बहुलः, चन्दनरसः, अयं, बाहुः, कण्ठे, शिशिरमसृणः, मौक्तिकसरः, अस्याः किं न प्रेयः ? तु, विरहः, यदि, (भवेत् तदा सः) परम्, असह्य, स्यात्) ॥३८॥

(प्रविश्य ।)

प्रतिहारी—देवि ! उवट्ठिहो । [देव ! उपस्थितः ।]

रामः—अयि, कः ?

प्रतीहारी—आसण्णपरिआरओ देवस्स दुम्मुहो । [आसन्नपरिचारको देवस्य दुर्मुखः ।

रामः—(स्वगतम् ।) शुद्धान्तचारी दुर्मुखः, स मया पौरजानपदेष्वपसर्पः प्रहितः । (प्रकाशम् ।) आगच्छतु ।

(प्रतीहारी निष्क्रान्ता ।)

हिन्दी—

राम—क्या प्रियभाषिणी मेरे वक्षस्थल पर ही सो गई ? (अथवा क्या प्रिय वचन कहती-कहती ही सो गई ?) (देखकर स्नेह पूर्वक)—

[श्लोक ३८]—यह (सीता) मेरे घर में लक्ष्मी है, आंखों के लिए अमृतमयी सलाई है; इसका यह स्पर्श शरीर में गाढ़े-गाढ़े चन्दन-रस का लेप है और (इसकी यह भुजलता कण्ठ में शीतल और स्निग्ध मोतियों के हार के समान है। (अधिक क्या ?) इसकी कौन-सी वस्तु प्रिय नहीं है ? (अपितु सभी कुछ प्रिय है।) परन्तु इसका विरह सर्वथा असह्य है।

[प्रवेश कर]

प्रतीहारी—देव ! आ गया।

राम—अरी ! कौन ?

प्रतीहारी—महाराज का निकटवर्ती सेवक "दुर्मुख"।

राम—(स्वयं ही) अन्तःपुरचारी "दुर्मुख" है ? उसे मैंने गुप्तचर-वेश में नागरिकों एवं देशवासियों में (उनकी मनोवृत्ति जानने के लिए) भेजा था। (प्रकाश में) आने दो।

[प्रतीहारी चली जाती है।]

संस्कृत-व्याख्या

अत्र प्रियवचना मम वक्षस्येव प्रसुप्तेति व्युत्क्रमेणान्वयः कार्यः । सीतां निर्वर्ण्य=दृष्ट्वा सस्नेहमाह-इयमिति ।

इयं सीता मम गृहे लक्ष्मीः । नयनयोश्चेयं ममामृतवर्ती=अमृत-शलाकेव शान्ति प्रदास्ति । असौ स्पर्शश्चास्या मम शरीरे सघनश्चन्दनरस एव । यादृश आनन्दश्चन्दनरसलेपेनायाति, तादृश एवास्याः स्पर्शेण । अयं मम कण्ठे निहित-श्चास्या बाहुः शिशिरो, मसृणः, मौक्तिकसरः=मुक्ताहार इवास्ते । किं बहुना ? अस्याः सर्वोऽपि पदार्थः प्रिय एव परमस्या विरहो यदि नोपस्थितो भवति । विरह स्तु प्रियो नास्याः ।

अत्र—एकस्याः सीताया अनेकधा समुल्लेखाद् उल्लेखाऽलङ्कारः । अति-शयोक्ति । उल्लेखस्य लक्षणञ्च—

'क्वचिद्भेदाद् गृहीतॄणां, विषयाणां तथा क्वचित् ।
एकस्यानेकधोल्लेखो, यः स उल्लेख इष्यते ॥" इति ।

रूपकालङ्कारश्च । शिखरिणी च्छन्दः ॥३८॥

अन्तःपुरस्य द्वाररक्षिका प्रविश्य कथयति—देव ! इति महाराज ! उपस्थितः । दुर्मुखस्योपस्थितेः सूचनाऽनया दत्ता । परं पदानां योजनया—उक्तश्लोके "विरहः" इतिपदोक्तावेत्र—"उपस्थितः" इत्यस्य योजनेन "विरह उपस्थितः' सन्निकृष्टोऽयमर्थः । अत एवात्र तृतीयं पताकास्थानकं भवति । तथा चोक्तं साहित्य-दर्पणे—

"अर्थोपक्षेपकं यत्तु, लीनं सविनयं भवेत् ।
स्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं, तृतीयमिदमुच्यते ॥'. इति ।

[एवंविधाः पाठाः प्रायेण संस्कृत नाटकेषु समुपलभ्यन्ते । यथा च—वेणीसंहारे दुर्य्योधनः कथयति भानुमतीं स्वपत्नीम्प्रति--"पर्याप्तमेव करभोरु ! ममोरु-युग्मम् ॥१ इति । "उरुयुग्म" मिति यावदेवोच्यते, तावदेव कञ्चुकी प्रविश्य कथित-वान्—"देव ! भग्नम्" एवञ्च-उरुयुग्मं भीमेन भग्नमिति सम्बन्धः समुपस्थितः समजनि । एवमेव मुद्राराक्षसेऽपि चाणक्यः—'अपि नाम दुरात्मा राक्षसो गृह्येत !' एतदनन्तरमेव सिद्धार्थकः कथयति—'अज्ज । गहीदो' इति । राक्षसो गृहीतः इत्यर्थः सम्पन्नः कामपि चमत्कृतिमुद्भावयति । एवमेवान्यत्रापि बोद्धव्यम् ।

"आसन्नपरिचारको दुर्मुखः समुपस्थितः" इति प्रतीहार्या वचनं निशम्य स्वगतमाह भगवान् रामः—शुद्धान्तेति । शुद्धान्ते=अन्तःपुरे चरितुं शीलं यस्य सः, परिशुद्धा अन्तःपुरे गन्तुं शक्नुवन्ति सेवकाः, न पुनः यः कोपि । स मया पुरे भवाः पौराः, जनपदे=देशे भवाः जानपदाः ('तत्र भवः" इतिशास्त्रेणाण्प्रत्ययः ।) तेषु अपसर्पः=गुप्तचरः प्रहितः=प्रेषितः । नगरे देशे वा मदीयां स्तुतिं वा निन्दां वा कीदृशीं कुर्वन्ति लोकाः इति गुप्तरूपेण ज्ञातुं चरः प्रेषितः, इति सारः ।

टिप्पणी

(१) 'इयं गेहे' इस श्लोक में सभी विशेषण सीताजी के प्रति राम के परम अनुराग को व्यञ्जित करते हैं । सीताजी की प्रत्येक वस्तु उन्हें प्रिय है यदि कोई

वस्तु अप्रिय है तो वह उनका विरह है। (२) श्लोक के अन्त में प्रतीहा तुरन्त 'उपस्थितः' कहकर 'विरह' की समीपता द्योतित करती है। यह पत. . स्थानक है। धनिक के मत में इसे 'गण्ड' कहेगें। दोनों के उदाहरण निम्नलिखित हैं:—

"यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिंस्तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते ।
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत्" (सा० दर्पण)

× × ×

"गण्डः प्रस्तुतसम्बन्धि, भिन्नार्थं सहसोदितम् ।" (दशरूपक)

(३) उल्लेख, अतिशयोक्ति, रूपक। शिखरिणी छन्द।

(प्रविश्य ।)

दुर्मुखः—(स्वगतम् ।) हा कह दाणिं देवीमन्तरेण ईस्सिं अचिन्तणिज्ज जणाववादं देव्वस्स कहइस्सं ? अहवा णिओओ क्खु मह मन्दभ अहे अस्स एसो। [हा कथमिदानीं देवीमन्तरेणेदृशम-चिन्तनीयं जनापवादं देवस्य कथयिष्यामि ? अथवा नियोगः खलु मम मन्दभागधेयस्यैष ।]

सीता—(उत्स्वप्नायते ।) अज्जउत्त ! कहिंसि ? [आर्यपुत्र ! कुत्रासि ?]

रामः—सेयमेव रणरणकदायिनी चित्रदर्शनाद्विरहभावना देव्याः स्वप्नोद्योगं करोति। (सस्नेहमङ्गमस्याः परामृशन्)

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु य-
द्विश्रामो हृदयस्य यत्र, जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः ।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्प्रेमसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्रार्थ्यते ॥३६॥

अन्वयः—यत्, सुख दुःखयो, अद्वैतं, सर्वासु, अवस्थासु, अनुगतं, यत्र, हृदयस्य विश्रामः, यस्मिन्, रसः, जरसा, अहार्यः, यत्, कालेन, आवरणात्ययात् परिणते, प्रेमसारे, स्थितं, तस्य सुमानुषस्य तत् एकं भद्रं कथमपि हि प्रार्थ्यते ॥३६॥

हिन्दी—

[प्रवेशकर]

दुर्मुख—(स्वयं ही) हा ! अब मैं कैसे देवी सीता के इस असम्भावनीय जनापवाद को महाराज से निवेदन करूंगा ? अथवा, मुझ मन्दभाग्य का यह कर्त्तव्य ही है !

सीता—(स्वप्न देखती हुई बड़बड़ाती हैं।) आर्यपुत्र ! (आप) कहां हैं ?

राम—यह वही चित्र-दर्शन से घबराहट कराने वाली विरह-भावना देवी को स्वप्न में भी बड़बड़ा रही है। (चित्रदर्शन-कालीन विरह-विचारों के कारण ही यह अब भी वैसी ही बातें कर रही हैं।) (स्नेहपूर्वक सीता के अङ्गों को छूते हुए—)

[श्लोक ३६]—(सच्चा प्रेम) सुख-दुःख और सम्पूर्ण दशाओं (सम्पत्ति-विपत्ति) में एक-सा रहता है। हृदय जिसमें अपूर्व विश्राम प्राप्त करता है; वृद्धावस्था में भी जिसमें अनुराग की कमी नहीं होती; और जो समय बीत जाने पर (अथवा—विवाह से लेकर मरण-पर्यन्त) संकोच-विकोच आदि आवरणों के हट जाने से प्रगाढ़ एवं उत्कृष्ट प्रेम में स्थित रहता है—ऐसे कल्याणकारी दाम्पत्य-स्नेह की प्राप्ति सौभाग्य से ही किसी-किसी को होती है।

संस्कृत-व्याख्या

दुर्मुखः प्रविश्य स्वगतमाह—हा, इति। हा ! देवीं सीतामन्तरेण=तस्याः सम्बन्धे, ("अन्तराऽन्तरेण युक्ते" इति द्वितीया विभक्तिः) ईदृशमचिन्तनीयं लोकानामपवादं=निन्दां महाराजस्य कथं निवेदयिष्यामि ? सर्वथा निन्दनीयोऽकथनीयश्चायं संवादः। परं मम मन्दभाग्यस्येदृशो नियोगो येन सर्वमपि मयाऽवश्यं वक्तव्यमेव, उचितं वा स्यादनुचितं वेति विचारयितुं ममावसरो नास्ति, इत्यर्थः। मन्दभाग्यस्य=मन्दं भाग्यं यस्य तस्य। अत्र "वा भाग-रुप-नामभ्यो धेयः" इति स्वार्थे धेय' प्रत्ययः।

स्वप्ने "हा आर्यपुत्र ! कुत्रासि ?" इति कथयन्तीं सीतां निरीक्ष्य श्रीरामः प्राह—सेयमेवेति। चित्रदर्शनेन रणरणकदायिनी=उत्कण्ठातिशयवर्धिका; विरह-वासना देव्याः स्वप्नस्योद्योगं करोति। प्राग् दृष्टं वस्तु स्वप्ने आयातीइति विरह-वार्ता-प्रसंगोऽधुनाऽपि सीतायाः स्वप्नमुपस्थापयतीति भावः।

सस्नेहं सीताया अङ्गं परामृशन्=स्पर्शं कुर्वन् प्राह श्रीरामः—अद्वैतमिति।

विशेषः—अस्मिन् श्लोके कविना दम्पत्योः सार्वदिकं, एकरसं, अविच्छिन्नं लज्जासंकोचादि-विकार-वर्जितं, सुखदुःखयोः समानं, अवस्थान्तरेऽपि अपरिवर्तनीयं हृदयस्य वास्तविक-विश्राम-प्रदं प्रेम-रूप मङ्गलमेवाभिलषणीयम् भवतीति प्रतिपादितम्। यैवंविधा येषां प्रीतिर्भवति तेषामेव जीवनं जीवनम्।

ततश्चेयं सीताऽपि यथार्थरूपेण ममहृदयस्य परमशान्तिप्रदायिनी, विलक्षणानन्दानुभावयित्रि, तथापि-आवयोः प्रेम वियोग-दावानले दग्धमिव किंचिद् विचित्रमिव सञ्जातम्।

अत्र "सुमानुषस्य" इति पदं विशेषरूपेण ध्येयम्। "सुमानुषन्तु दाम्पत्यम्" इत्यभियुक्तोक्त्या दाम्पत्यरूपोऽर्थः।

अथवा—सु-मानुषस्य योग्यपुरुषस्येति अर्थो गृह्यते।

'भद्र' इत्यस्य मङ्गलं=परमकल्याणमित्यर्थो भवति। 'श्वः श्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मङ्गलं शुभमित्यमरः।

यत्र दाम्पत्यं सुख-दुःखयोः अद्वैतम्=द्वैतरहितम् । अभिन्नमित्यर्थः । द्वाभ्यां भेदाभ्याम् इतम्=प्राप्तम्, द्वीतम्=द्वीतमेव द्वैतम् (स्वार्थेऽणप्रत्ययः) अविद्यमानं द्वैतं यस्मिन् तदद्वैतम् । एकस्य सुखेऽपरोऽपि सुखी, एकस्य दुःखेऽन्योऽपि दुःखी इत्येकाकारतोभयोर्भवेदिति भावः । सर्वासु-अवस्थासु=सम्पत्सु-विपत्सु च, अनुगतम्=सहचरितम्, यत्र=यस्मिन् दाम्पत्ये हृदयस्य =विश्रान्तिः स्यात् । विविध सुखदुःखात्मकैः संसार-सम्बन्धैं दुःखितं हृदयं यत्र विश्रामं लभते, इत्यर्थः । गोपनी-यापि हृदय-स्थितिः विश्रान्तिं प्राप्नुयादिति भावः । अत्र "विश्रामः" इत्यपाणिनीयः पाठः । "नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्याऽनाचमेः" इत्युपधावृद्धिनिषेधात् इति केचित् । श्रम एव श्रामः—"प्रज्ञादिभ्यश्चेति" सूत्रेण 'अण्' प्रत्यये सिध्यतीत्यपि केषाञ्चिन्मतम् । यस्मिन् रसः अनुरागः, जरसा—वृद्धावस्थया, अपि, अहार्यः=परिहरणीयो न भवेत् । वास्तविकी प्रीतिः स्थविरभावेऽपि न नश्यति । यद् दाम्पत्यम्-आवरणस्य लज्जादेः=शोकदुःखादेर्वा, कालेन=समयेन, अत्ययात्=विनाशात्, अथवा—वरणम् =विवाहः, अत्ययः=मृत्युश्चेतिवरणात्ययं, आवरणात्ययात्=विवाहदिनादारभ्य मरणदिनं यावत् परिणते=परिपक्वे, प्रेमसारे=उत्तमे प्रेम्णि, स्थितम्=अवस्थितम् तस्यैवंविधस्य सुमानुषस्य दाम्पत्यस्य, तत्=प्रसिद्धम् एकं=मुख्यम्, भद्रं=कल्याणम् कथमपि, सर्वात्मना, प्रार्थ्यते=अर्थ्यते । क्वचिद्, "प्राप्यते" इति पाठः ।

अत्र सीताया" इत्यनुक्त्वा "सुमानुषस्य" इति कथनादप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः । हेतुत्वेन पूर्ववाक्यत्रयाणामुपादानेन काव्यलिङ्गञ्चेति तयोः सांकर्यम् । अप्रस्तुत-प्रशंसालक्षणं यथा—

'क्वचिद् विशेषः सामान्यात्, सामान्यं वा विशेषतः ।
कार्यान्निमित्तं कार्यञ्च, हेतोरथ समात् समम् ॥
अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेद् , गम्यते पञ्चधा ततः ।
अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात् ·· ··· · · · · · · ।" इति ॥

शार्दूलविक्रीडितं च्छन्दः । तल्लक्षणं यथा--

"सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम् ।', इति ।

[एतस्यार्था विभिन्नरूपेण स्वीकृताः । तत्र टीकान्तरे विशेषणार्थिभिरवलोकनीयम् । निष्कृष्टोऽर्थस्तूक्त एवात्रेति दिक्] ॥३९॥

टिप्पणी

(१) भवभूति पवित्र प्रेम के उपासक हैं। उनका प्रेम वासना के स्तर से बहुत ऊँचा उठा हुआ है। वे सार्वदिक, एकरस, अविच्छिन्न दाम्पत्य प्रेम में विश्वास रखते हैं। प्रेम का इतना उच्च आदर्श बहुत कम देखने को मिलेगा। प्रो० काले इस श्लोक के विषय में लिखते हैं :—

"What a grand ideal of conjugal love the poet gives us here! Rama's words are not an effusion of youthful passion untried or

inexperienced, but passion tempered down by exerience and long association. It is impossible to describe a husband's love and regard for his wife more effectively or naturally than the poet has done here."

(२) इस श्लोक के रचना-विन्यास के सम्बन्ध में विद्वानों के कुछ मतभेद हैं। मुख्य आपत्ति 'अद्वैतं' तथा 'भद्रं तस्य सुमानुषस्य' की संगति के सम्बन्ध में है। परन्तु सीधा प्रकार यह है कि 'सुमानुषस्य' का अर्थ 'सुमापुषन्तु दाम्पत्यं के अनुसार 'दाम्पत्यं प्रेम' किया जाय और इस प्रकार वाक्य-विन्यास किया जाय—"सुमानुषस्य=दाम्पत्यस्य, तत्=प्रसिद्धम्, एकम्=मुख्यम्, भद्रं=कल्याणं, कथमपि सर्वात्मा, प्रार्थ्यते=अर्थ्यते ॥"

पण्डित घनश्याम ने 'सुमानुषस्य' का अर्थ 'सौजन्यस्य' किया है। 'सुमानुषस्य' का अर्थ 'सु+मानुषस्य=योग्य पुरुषस्य' भी किया जा सकता है।

यही व्याख्या का सरल प्रकार है। परीक्षार्थियों की सुविधा की दृष्टि से अन्य व्यख्या-प्रकार नहीं दिखाये गये हैं।

(३) अद्वैतम्—द्वाभ्याम् भेदाभ्याम् इतम्—प्राप्तं द्वीतम्, द्वीतमेव द्वैतम् (अण्) अविद्यमानं द्वैतं यस्मिन् तदद्वैतम्=समानम्। सच्चा प्रेम सुख-दुःख में समान रहता है। वह सभी अवस्थाओं में समान रहता है। "अद्वैत" को "भद्र" के साथ भी रखा जा सकता है—"सुमानुषस्य एकं भद्रम् अद्वैतं कथमपि प्राप्यते।

विश्रामो हृदयस्य—हृदय को उसमें शान्ति मिलती है।

अहार्यो रसः—समय के प्रभाव से उसका रस क्षीण नहीं होता।

आवरणात्ययात्—स्थितम्—के दो अर्थ हैं—(१) जो प्रेम समय बीतने पर लज्जा आदि के हट जाने से परिपक्वावस्था को प्राप्त होता है "यत् दाम्पत्यम् आवरणस्य लज्जादेः, कालेन, अत्ययात्=विनाशात् प्रेमसारे स्थितम्।" (२) जो विवाह से मृत्युपर्यन्त परिपक्वावस्था में रहता है। "वरणं=विवाहः, अत्ययः=मृत्युश्चेति वरणात्ययं, आवरणात्ययात्=विवाहदिनादारभ्य मरणं यावत् परिणते प्रेमसारे स्थितम्। (४) श्री जीवानन्द विद्यासागर ने 'भद्रं प्रेम' पाठ स्वीकार किया है। यह पाठ सरल होने पर भी हस्तलिखित प्रतियों से पुष्ट न होने के कारण मान्य नहीं है। (५) 'प्रार्थ्यते' के स्थान पर 'प्राप्यते' पाठ भी मिलता है। (६) 'विश्रामः'=इसे अपाणिनीय प्रयोग माना जाता है परन्तु कुछ विद्वानों ने इसका समाधान इस प्रकार किया है—"श्रम एव श्रामः 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इत्यण्।" (७) ,प्रेमसारे'—में वीरराघव ने यह ध्वनि निकाली है—"प्रेमसारे स्थितमित्यनेन मधुकटाहनिक्षिप्तर-साभफलसादृश्यं कथ्यते। (८) इस श्लोक में भवभूति ने अपने नाटक की ओर भी संकेत किया है:—

"उत्तररामचरित'—सदृश मङ्गलकारी नाटक कठिनता से ही (देखने को

या पढ़ने को) मिलता है । यह नाटक सभी अवस्थाओं में (कार्यावस्थाओं में) सुख-दुःख का अनुपम अद्वैत है, इसमें सर्वत्र आनन्द और करुणा की स्रोतस्विनी प्रवाहित होती रहती है, इस नाटक को देखने अथवा सुनने अथवा पढ़ने से हृदय अपार विश्राम का लाभ करता है, कहीं भी रस की धारा विच्छिन्न नहीं होती, हृदय में सत्वोद्रेक होने से तम का आवरण नष्ट हो जाने के कारण यह प्रेम-तत्वमय प्रतीत होता है ।"

दुर्मुखः—(उपसृत्य ।) जेदु देव्वो । [जयतु देवः ।]

रामः—ब्रूहि यदुपलब्धम् ।

दुर्मुखः—उवट्टुवन्ति देवं पौरजाणपदा, जहा विसुमरिदा अह्मे महाराअदसरहस्स रामदेव्वेणेत्ति । [उपस्तुवन्ति देवं पौरजानपदाः, यथा विस्मारिता वयं महाराजदशरथस्य रामदेवेनेति ।]

रामः—अर्थवाद एवैषः । दोषं तु मे कथंचित्कथय, येन प्रतिविधीयते ।

दुर्मुखः—(सास्रम् ।) सुणादु महाराओ । (कर्णे । एव्वं विअ । इति । [शृणोतु महाराजः । एवमिव ।]

रामः—अहह, अतितीव्रोऽयं वाग्वज्रः । (इति मूर्च्छति ।)

दुर्मुखः—आस्ससदु देव्वो । [आश्वसितु देवः ।]

रामः—(आश्वस्य ।)

हा हा धिक् ! परगृहवासदूषणं यद्,
वैदेह्याः प्रशमितमद्भुतैरुपायैः ।
एतत्तत्पुनरपि दैवदुर्विपाका-
दालर्कं विषमिव सर्वतः प्रसक्तम् ॥४०॥

तत्किमद्य मन्दभाग्यः करोमि ?

अन्वयः—हा, हा, धिक् ! वैदेह्याः यत्, परगृहवासदूषणम्, अद्भुतैः उपायैः, प्रशमितम् दैवदुर्विपाकात्, तत्, एतत्, पुनरपि, आलर्कं, विषमिव, सर्वतः, प्रसक्तम् ॥४०॥

हिन्दी—

दुर्मुख—(पास जाकर) महाराज की जय हो !

राम—जो (समाचार) मिला हो वह बताओ ।

दुर्मुख—नागरिक एवं देशवासी जन सब आपकी प्रशंसा करते हैं कि "श्री रामचन्द्र जी ने महाराज दशरथ को (अपने सद्गुणों के कारण) हमारे मन से भुला दिया है। (उनके सदाचरण से हमको अब 'दशरथ जी' याद नहीं आते।

राम—यह तो प्रशंसा ही है। मेरा कोई दोष हो तो कहो, जिससे कि उसका प्रतिविधान किया जा सके।

दुर्मुख—(आंखों में आंसू भर कर) महाराज! सुनिये! (कान में ऐसा ऐसा…)।

राम—ओह! यह वचन-वज्र सम अत्यन्त असह्य है!

[मूर्छित हो जाते हैं।]

दुर्मुख—महाराज! धैर्य रखिये।

राम—(प्रकृतिस्थ होकर)—

[श्लोक ४०]—"हा! हा! धिक्कार है! सीता के दूसरे (रावण) के घर में निवास करने का जो दोष (अग्नि-शुद्धि जैसे) बड़े आश्चर्यजनक उपायों द्वारा दूर किया गया था, आज दुर्भाग्यवश वही (दोष) पागल कुत्ते के काटे हुए विष की भांति चारों ओर फैल गया है।

तो मैं मन्दभाग्य अब क्या करूं?

संस्कृत-व्याख्या

"महाराजस्य स्तुतिं कुर्वन्ति जनाः। कथयन्ति च यत्—महाराजदशरथस्यापि राज्ये एवंविधं प्रजानां सुखं नासीत्" इत्याशयं दुर्मुखस्य वाक्यमुपश्रुत्य भगवान् रामः प्राह—अर्थवाद—इति। स्तुतिस्तु ममार्थवादरूपैवास्ति। केवलं प्रशसात्मकं तद् वाक्यम्। स्तुतिनिन्दापरकं वाक्यं 'अर्थवादः' इति कथ्यते। दोषन्तु मम मनागपि लोकोक्तं वद, येन तस्य समाधानं कृत्वा प्रजा-सहानुभूतिं प्राप्नुयामः। 'राज'-शब्दार्थस्तु प्रजाहितैरेव यथार्थो भवति। प्रजाजनाः स्तुतिन्तु कुर्वन्त्येव राज्ञाम्। दोषप्रतिविधानेनात्मसन्तोषो भविष्यति, इति भावः। दुर्मुख-वचनान्मूर्च्छितः, पुनः कथमपि समाश्वस्य भगवान् रामः कथयति—हाहा—इति।

परमखेदस्यायं विषयः समुपस्थितः। यतः सीतायाः परगृहवास रूपं दूषणं, अद्भुतैः—अग्निशुद्धिरूपैः, विचित्रैरुपायैः दूरीकृतम्, तथापि अस्माकं विधि-वैपरीत्यात् आलर्कं विषमिव=कुक्कुर-दंशविषमिव, पुनरपि सर्वतः प्रसृतम्। यथा विक्षिप्त-कुक्कुरस्य दंशदानात् विषस्य चिकित्सायामपि, पुनस्तद्विषं शरीरे प्रसरति, तथैवायं परगृहवास-रूपो दोषः प्रशमितोऽपि पुनः प्रसृतः, इत्यहो! भाग्य-वैपरीत्यमिदमस्माकमिति भावः। अलर्कः=उन्मत्तश्वा। तथा चामरः—"शुनको भषकः श्वा स्यादलर्कस्तु सरोगितः" इति। तस्येदमालर्कम्।

अत्र उपमा अलंकारः। प्रहर्षिणी छन्दः ॥४०॥

टिप्पणी

(१) अर्थवादः—प्रशंसा । "अर्थवादः प्रशंसा च स्तोत्रमीडा स्तुतिर्नुतिः" (हलायुध) । वैसे यह मीमांसा का पारिभाषिक शब्द है । "प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः" (अर्थसंग्रह) । अर्थवाद के तीन भेद होते हैं—

"गुणवादो विरोधे स्यादनुवादोऽवधारिते ।
भूतार्थवादस्तद्धानावर्थवादस्त्रिधा मतः ।।"

भगवान् राम अपनी प्रशंसा नहीं, यथार्थ आलोचना सुनना चाहते है । यह उनके चरित्र की अनुपम उदारता है ।

(२) एवमिव—रामायण में लोकापवाद का इन श्लोकों में वर्णन किया गया है—

"कीदृशं हृदये तस्य, सीतासम्भोगजं सुखम् ।
अङ्कमारोप्य तु पुरा, रावणेन बलाद् हृताम् ।।
लङ्कामपि पुरीं नीतामशोकवनिकां गताम् ।
रक्षसां वशमापन्नां, कथं रामो न कुत्सति ?
अस्माकमपि दारेषु, सहनीयं भविष्यति ।
यथा हि कुरुते राजा, प्रजा तमनुवर्तते ।'
एवं बहुविधा वाचो, वदन्ति पुरवासिनः ।
नगरेषु च सर्वेषु, राजन् ! जनपदेषु च ।।"

(३) अलर्कम्—अलर्कस्येदम् आलर्कम् । अलर्क+अण् । आलर्कं विषमिव =पागल कुत्ते के काटने से फैले हुए विष के समान ।

'शुनको भषकः श्वा स्यादलर्कस्तु सरोगितः ।" (अमर०)

(४) 'वाग्वज्र' से आहत राम की दशा का अत्यन्त मार्मिक वर्णन किया गया है । राम की इस व्यथा का वर्णन कविकुलगुरु कालिदास ने भी इन शब्दो में किया है:—

"कलत्रनिन्दागुरुणा किलैवमभ्याहतं कीर्तिविपर्ययेण ।
अयोघनेनाय इवाभितप्तं वैदेहिबन्धोर्हृदयं विदद्रे ।।"

(रघुवंश, १४ । ३३)

(५) उपमा अलङ्कार । प्रहर्षिणी छन्द ।

[विमृश्य सकरुणम् ।] अथवा किमेतत् ?

सतां केनापि कार्येण, लोकस्याराधनं व्रतम् ।
तत्प्रतीतं हि तातेन, मां च प्राणांश्च मुञ्चता ।।४१।।

संप्रत्येव च भगवता वसिष्ठेन संदिष्टम् ।

अन्वय—केनापि, कार्येण, लोकस्य, आराधनं, सतां, परम् (व्रतम्) । मां, च, प्राणांश्च, मुञ्चता, तातेन, तत्, प्रतीतम् ॥४१॥

हिन्दी—

(सोचकर करुणापूर्वक) अथवा, इस सोच विचार से क्या लाभ ?

[श्लोक ४१]—किसी भी प्रकार से लोकराधन करना श्रेष्ठ व्यक्तियों का कर्तव्य है। पिताजी ने मुझे और प्राणों को छोड़ते हुए इसी बात को सिद्ध किया है। (वन जाने की आज्ञा देने में पूज्य पिताजी को अपने प्राण त्यागने पड़े । मैं भी प्राण-पण से उनसे समान ही प्रजा का अनुरञ्जन करूंगा ।

(और) अभी-अभी भगवान् वसिष्ठ ने भी सन्देश दिया है ("युक्तः प्रजानामनुरञ्जने स्याः" इत्यादि) ।

संस्कृत-व्याख्या

किंकर्तव्यविमूढो रामः सन्तापमनुभवन् स्मृत्वा कर्तव्यनिर्धारणं करोति—सतामिति ।

सज्जनानां कृते लोकस्याराधनमेव सर्वदा कार्यमित्येव महाजनोचितः पन्थाः । एतच्च मम पितृचरणैरपि सुव्यक्तीकृतमेव । लोकाराधनाय ("लोकस्तु भुवने जने" इति कोष-प्रमाण्यादेकोऽपि जनः "लोकः" इत्युच्यते) लोकाराधनार्थमेवाहमपि तैः परित्यक्तः, प्राणाश्चापि स्वकीयाः परित्यक्ताः । ततश्च ममापीदमेव कर्तव्यं लोकाराधनात्मकमिति भावः ।

अत्रार्थान्तरन्यासः, अप्रस्तुतप्रशंसा, तुल्ययोगिता, चेत्यमी अलङ्काराः संकीर्णाः । अर्थान्तरन्यासश्च—

"सामान्यं वा विशेषेण, विशेषस्तेन वा यदि ।
कार्यञ्च कारणेनेदं, कार्येण च समर्थ्यते ॥
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः ॥ इति ॥४१॥

टिप्पणी

कुछ पुस्तकों में 'परम्' के स्थान पर 'व्रतं' तथा 'प्रतीतं' के स्थान पर 'पूरितं' पाठ मिलता है ।

अपि च—

यत्सावित्रैर्दीपितं भूमिपालै-
लोकश्रेष्ठैः साधु चित्रं चरित्रम् ।
मत्संबन्धात्कश्मला किंवदन्ती,
स्याच्चेदस्मिन्हन्त ! धिङ्मामधन्यम् ॥४२॥

अन्वयः—लोकश्रेष्ठैः, सावित्रैः, भूमिपालैः, यत्, चित्रं, चरित्रम्, साधु, दीपितम्, अस्मिन्, मत्सम्बन्धात्, कश्मला, किंवदन्ती स्यात्, चेत् हन्त ! अधन्यं, मां, धिक् ।।४२।।

हिन्दी—

और भी—

[श्लोक ४२]—जगत्प्रसिद्ध सूर्यवंशी राजाओं ने जिस चरित्र को भली-भांति उज्जवल किया है, यदि उसमें मेरे कारण निन्दनीय लोकापवाद लग जाय तो मुझे भाग्यहीन को धिक्कार है।

संस्कृत-व्याख्या

विचारान्तरं प्रस्तौति—यत्सावित्रैरिति।

सवितुः=सूर्याज्जायमानैर्नृपतिभिः लोकश्रेष्ठैः यत् साधु चरित्रमद्यावधि लोके विस्तृतम्, मम कारणात् अस्मिन् कश्मला=निन्दिता किंवदन्ती=जनश्रुतिः, यदि स्यात्, तर्हि मामधन्यं धिगस्तु। पूर्वार्जितमपि यशो विनाशयतो ममेदं जीवनमेवानुचितमिति भावः।

पवित्र-सूर्यवंशे उत्तमानुत्तमचरित्रयोर्वर्णनेन विषमालङ्कारः। तल्लक्षणञ्च यथा—

"गुणौ क्रिये वा चेत् स्यातां, विरुद्धे हेतुकार्ययोः।
यद्वारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः ।।
विरूपयोः संघटना, या च तद्विषमं मतम्।" इति।

शालिनीच्छन्दः। तल्लक्षणं यथा—

"शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः" ।।४२।।

टिप्पणी

(१) सावित्रैः=सवितृ+अण्। सवितुरपत्यानि पुमांसः सावित्रास्तैः। सूर्यवंशियों के द्वारा।

(२) लोकश्रेष्ठैः लोकेषु अतिषयेन प्रशस्याः। प्रशस्य × इष्ठन्। 'प्रशस्य' को "प्रशस्यस्य श्रः" इससे 'श्र' आदेश होकर 'श्रेष्ठ' बनता है।

(३) भगवान् राम को अपने वंश की कीर्ति का ही ध्यान है। रामायण में इस सम्बन्ध में विशेषरूप से उनका यह कथन स्मरणीय है—

"अकीर्तिर्यस्य जायेत लोके भूतस्य कस्यचित्।
पतत्येवाधमान् लोकान्, यावच्छब्दः प्रकत्यंते ।।
अकीर्तिर्निन्द्यते देवैः, कीर्तिर्लोकेषु पूज्यते।
कीर्त्यर्थं तु समारम्भः, सर्वेषां सुमहात्मनाम् ।।
अप्यहं जीवितं जह्यां, युष्मान्वा पुरुषर्षभाः।
अपवादभयाद्भीतः, किं पुनर्जनकात्मजाम् ।।"

(रामायण, उत्तरकाण्ड)

(४) यहाँ यह ध्यातव्य है कि राम मिथ्यापवाद फैलाने के सम्बन्ध में प्रजा को दोषी सिद्ध नहीं कर रहे हैं, अपितु अपने कर्त्तव्य का ही ध्यान कर रहे हैं। (५) विषमालङ्कार। शालिनी छन्द।

हा देवि देवयजनसंभवे ! हा स्वजन्मानुग्रहपवित्रवसुन्धरे ! हा मुनिजननन्दिनि ! हा पावकवसिष्ठारुन्धतीप्रशस्तशीलशालिनि ! हा राममयजीविते ! हा महारण्यवासप्रियसखि ! हा तातप्रिये ! हा स्तोकवादिनि ! कथमेवंविधायास्तवायमीदृशः परिणामः ?

त्वया जगन्ति पुण्ययानि त्वय्यपुण्या जनोक्तयः ।
नाथवन्तस्त्वया लोकास्त्वमनाथा विपत्स्यसे ॥४३॥

अन्वयः—त्वया, जगन्ति पुण्यानि, (सन्ति) त्वयि अपुण्याः, जनोक्तयः सन्ति त्वया लोकाः नाथवन्तः (सन्ति परन्तु) त्वम्, अनाथा, विपत्स्यसे ॥४३॥

हिन्दी—

हा, देवि, पृथ्वीपुत्रि ! हा, अपने जन्म के अनुग्रह से जगत् को पवित्र करने वाली ! हा, विदेहानन्दकारिणि ! हा, अग्नि, वसिष्ठ और अरुन्धती के द्वारा प्रशंसनीय चरित्र वाली ! हा, राममयजीवने ! हा, भयङ्कर वनवास की सहचारिणि ! हा, पिताजी की लाड़ली ! हा, स्वल्पभाषणशीले ! ऐसी होने पर भी (इन गुणों से युक्त होने पर भी) तुम्हारा ऐसा परिणाम !

[श्लोक ४३]—तुमसे संसार पवित्र है, परन्तु तुम्हारे विषय में लोगों के (ऐसे) दूषित विचार शब्दार्थ-कथन हैं। तुमसे लोक सनाथ हैं, परन्तु तुम अनाथ की भांति मर रही हो।

संस्कृत-व्याख्या

पुनः सीतां सम्बोध्य रामः स्वहृदयगतं भावमाह—हा देवी !—इति। देवयजनसम्भवे !=पृथिव्याः पुत्रि ! (एतेन स्वतःपवित्रता सूचिता)। हा ! जन्मना पवित्रिता वसुन्धरा=पृथ्वी यया सा, तत्सम्बुद्धौ तथा। (एतेन तव जन्म वसुन्धरायाः समुद्धारायैवास्सीदि भावः सूचितः।) हा मुनिजनकनन्दिनि ! (एतेन राजर्षेः परमपावनचरित्रस्यानन्दकारिण्याः पाचनत्वं सूच्यते।) हा पावक·····(इत्यादिना च उत्तमचरित्रत्वं सूच्यये।) हा राममयजीवने।=राममयं जीवनं तवास्तीत्यनेन (मां विना कथं प्राणान् धारयिष्यसीति=व्यज्यते।) हा महारण्यवामे प्रियसखीति सुखदुःखयोरभेदताऽभिव्यज्यते। 'सखा प्राणसमो मतः' इति कथनाद्। हा तातप्रिये ! इत्यनेन (स्वर्गस्थितस्य मम पितुरात्मा किं वक्ष्यतीति व्यज्यते।) हा स्तोक (=स्वल्प) वादिनि !=अल्पभाषिणि ! (इत्यनेन जनानां समक्षे तु कथैव का ? मम

सम्मुखेऽपि लज्जाशीलता प्रकटिता।) हन्त ! एवंविधगुणगणपूर्णाया अपि तवेदृशः परिपाकः सञ्जातः ? विधिकर्तव्यं को वेत्तु समर्थः।

तस्मिन् विषये किमधिकं ब्रवीमि ? आश्चर्यम्—त्वया इति।

त्वया सर्वाणि जगन्ति सपुण्यानि वर्तन्ते, तथापि हन्त ! लोकस्योक्तयस्तव विषयेऽपुण्याः सन्ति। 'त्वया सर्वे लोकाः सनाथाः, परं त्वमनाथा सती विपन्ना भविष्यसि ?

अहं तामवस्थामिदानीं प्रत्यक्षीकरोमि, यत्रारण्ये एकाकिन्या अनाथायास्तव= व्याघ्रादिभिः संहारो भविष्यति ! विचित्रा ससारस्य गतिः।

अत्र विरोधाभासालङ्कारः। तल्लक्षणञ्च यथा—

"जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्गुणो गुणादिभिस्त्रिभिः।
क्रिया क्रियाद्रव्याभ्यां यद् द्रव्यं द्रव्येण वा मिथः।
विरुद्धमिव भासेत विरोधोऽसौ दशाकृतिः।। इति"।।

अनुष्टुप्छन्दः ।।४३।।

टिप्पणी

निरपराध सीता के अपवाद को सुनकर राम का शोक चरम सीमा को पहुँच गया है। उनका विलाप परम मार्मिक है। सीता को किये गये सम्बोधन अत्यन्त व्यञ्जनाप्रधान हैं। संक्षेप में उनका व्यञ्जनार्थ इस प्रकार है:—

(१) **देवयजनसम्भवे !**—देवा इज्यन्तेऽत्रेति देवयजनं=यज्ञभूमिः, देवयजनात् सम्भवो यस्या सा, तत्सम्बुद्धौ। यज्ञभूमिसे उत्पन्न। इससे सीताजी की परम पवित्रता व्यक्त होती है। (२) **स्वजन्मानुग्रहपवित्रितवसुन्धरे !**—इससे 'तुम्हारा जन्म पृथ्वी के कल्याण के लिए ही हुआ है' यह अर्थ अभिव्यक्त होता है। (३) **मुनिजनकनन्दिनि !**—वीतराग जनक को भी आनन्दित मरने वाली होने से परम पवित्रता तथा दिव्यता व्यञ्जित होती है। (४) **हा पावकवसिष्ठारुन्धतीप्रशस्तशीलशालिनि !**—इससे भी उत्तमचरित्रता व्यञ्जित होती है। (५) **राममयजीविते !**—राम के बिना कैसे रह सकोगी ? (६) **महारण्यप्रवासप्रियसखि !**—सुख-दुःख में अभिन्न सङ्गिनी। "सखा प्राणसमो मतः" के अनुसार यहाँ "सखि" शब्द का प्रयोग किया गया है। आशय यह है कि उस महारण्य में तो तुम्हारे साथ मेरा समय कट गया था, परन्तु अब तो यह राजभवन तुम्हारे बिना महावन से भी भयानक हो जायगा। यहाँ मेरा साथ कौन देगी ? (७) **तातप्रिये !** परलोक में पूज्य पिताजी क्या कहेंगे ? (८) **स्तोकवादिनि !**—बहुत कम बोलने वाली ! अपने ऊपर किये गये अत्याचार को भी तुम चुपचाप सह जाओगी। इस एक विशेषण में ही सीता के सम्पूर्ण साधनामय जीवन की झाँकी मिल रही है।

(दुर्मुख प्रति ।) दुर्मुख ! ब्रूहि लक्ष्मणम् । एष नूतनो राजा रामः समाज्ञापयति । (कर्णे) ऐवमेवम् । इति ।

दुर्मुखः—हा, कह अग्गिपरिसुद्धाए, गब्भट्ठिदपवित्तसंताणाए, देवीए दुज्जनवअणादो एदं ववसिदं देव्वेण ? [हा, कथमग्निपरिशुद्धायाः, गर्भस्थितपवित्रसंतानायाः, देव्या दुर्जनवचनादिदं व्यवसितं देवेन ?]

रामः—शान्तं पापम्, शान्तं पापम् । दुर्जना नाम पौरजानपदाः ?

इक्ष्वाकुवंशोऽभिमतः प्रजानां, जातं च दैवाद्वचनीयबीजम् ।
यच्चाद्भुतं कर्म विशुद्धिकाले, प्रत्येतु कस्तद्यदि दूरवृत्तम् ॥४४॥

तद्गच्छ ।

अन्वयः—इक्ष्वाकुवंशः प्रजानाम्, अभिमतः, दैवात्, वचनीयबीजं, च, जातम्, विशुद्धिकाले, यच्च, अद्भुतं, कर्म, तत् यदि, दूरवृत्तं, कः, प्रत्येतु ? ॥४४॥

दुर्मुखः—हा देवि ! (इति निष्क्रान्तः ।)

हिन्दी—

(दुर्मुख से) दुर्मुख । लक्ष्मण से कहो कि यह 'नया राजा' राम आदेश देता है कि (कान में) ऐसे-ऐसे··· ··· ।

दुर्मुख—हा, क्या अग्नि-परीक्षा से शुद्ध तथा गर्भ में पवित्र सन्तान धारण करने वाली देवी (सीता के लिये दुर्जनों के कहने से (ही) आपने ऐसा निश्चय कर लिया ?

राम—शान्त ! शान्त ! क्या नागरिक और देशवासी दुर्जन हो सकते हैं ?

[श्लोक ४४]—इक्ष्वाकुवंश (सदा से) प्रजाओं को प्रिय रहा है परन्तु आज दुर्भाग्यवश उसमें निन्दा का एक कारण उत्पन्न हो गया है (तो हम प्रजाओं को दोष क्यों दें ?) और अग्नि परीक्षा के समय जो आश्चर्यजनक कार्य हुआ था, उसका दूर होने के कारण, कौन विश्वास करे ? (इसलिये नागरिकों पर कोई लाञ्छन लगाना उचित नहीं है ।)

इसलिये (बिना सोच विचार के) जाओ ।

दुर्मुख—हा देवि !

(चला जाता है ।)

संस्कृत-व्याख्या

दुर्मुखमुद्दिश्य कथयति श्रीरामः—एवमिति । दुर्मुख ! लक्ष्मणस्य सविधेगत्वा

ममादेशं श्रावय—एष नूतनो राजा रामः समाज्ञापयति । अत्र नूतनपदेन अनुल्लङ्घनीयाज्ञत्वं, सूर्यवंशे एवंविधो राजा कोऽपि नाभूत्, यः प्रजानुरञ्जनार्थं स्वप्राणेभ्योऽपि गरीयसीं प्रियां पत्नीं सगर्भां वसुन्धरामिव स्वयं निर्वासयेत् ? इति व्यज्यते ।

दुर्मुखस्य मुखात् "दुर्जनवचनात्" इति निशम्य भगवान् रामः—"पौरजानपदाः अपि कदाचिद्दुर्जना भवितुमर्हन्ती" ति साधयितुमाह—इक्ष्वाकु-इति ।

इक्ष्वाकुवंशे प्रजानां प्रीतिः सदैवाभूदिति तु निसन्दिग्धं वक्तुं युज्यते । अद्य दैवदुर्विपाकाद् वचनीयस्य=निन्दामाः वीजमुपस्थिपम्, इत्यत्र कस्य दोषः ? अग्निविशुद्धिर्दूरदेशे समजनीति तां को जनः प्रत्येतु=विश्वसितु ?

अत्र काव्यलिंगालङ्कारः । इन्द्रवज्राछन्दः । तल्लक्षणञ्च यथा—

'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौगः ।" इति ॥४४॥

टिप्पणी

(१) नूतनो राजा रामः—कहने का आशय यह है कि नये-नये पद पर प्रतिष्ठित होने के कारण राम कोई भी, यहाँ तक की सीता-परित्याग की भी, आज्ञा दे सकते हैं । प्रारम्भिक दिनों में शासक कठोर होता है उसका विरोध करने का सामर्थ्य लोगों में नहीं होता । अथवा यह 'नूतन राजा' अर्थात् 'अनूठा राजा' यह अर्थ भी हो सकता है । बिना किसी अपराध के पत्नी का परित्याग करने वाले राम यदि 'अनूठे' नहीं तो क्या हैं ? (२) दुर्जना नाम पौराजनपदाः ? राम का अपनी प्रजा में इतना विश्वास है कि वे उस पर कोई भी लाञ्छन सुनने को तैयार नहीं है । स्वयं बड़े से बड़ा बलिदान कर देंगे, पर प्रजा के लिए कोई अपशब्द कहे, यह उन्हें सह्य न होगा । (३) श्लोक में इन्द्रवज्रा छन्द तथा काव्यलिंग अलङ्कार हैं ।

रामः—हा कष्टम् ! अतिबीभत्सकर्मा नृशंसोऽस्मि संवृत्तः ।

शैशवात्प्रभृति पोषितां प्रियां, सौहृदादपृथगाश्रयामिमाम् ।
छद्मना परिददामि मृत्यवे, सौनिके गृहशकुन्तिकामिव ॥४५॥

अन्वयः—शैशवात् प्रभृति, पोषितां, सौहृदादपृथगाश्रयाम् इमां, प्रियां, शौनिके, गृहशकुन्तिकाम्, इव, छद्मना, मृत्यवे, परिददामि ॥४४॥

हिन्दी—

राम—हाय, दुःख है ! मैं अत्यन्त घृणित कर्म करने वाला तथा निर्दय (कसाई) हो गया हूं ।

[श्लोक ४५] जैसे कोई कसाई बचपन से पाली हुई, साथ रहने वाली घरेलू

चिड़िया को मौत को सौंप देता है—मार देता है उस प्रकार मैं भी बचपन से पाली हुई, विश्वस्त भाव से अभिन्न सहचारिणी इस प्राणप्रिया को (गंगा-स्नान के) छल से मृत्यु को दे रहा हूं।

संस्कृत-व्याख्या

आत्मनो नृशंसकर्मकारित्वमेव सूचयितुमाह श्रीरामः—शैशवादिति।

बाल्यकालादारम्य परिपालितां प्रियामद्य स्वयमेवाहं मृत्यवे ददामि। या च मम प्राणप्रिया, सुहृद्भूता वर्तते मत्तः पृथग् यस्याः कोऽप्याश्रयो नास्ति ? अपि च—मृत्यवे दानेऽपि छलमाश्रये। इयन्तु "विहारार्थमेव तस्याः इच्छानुसारमेव वने प्रेष्यते" इत्थमेव वेत्स्यति, मया च कृतोऽस्याः परित्यागः इति छलम्! यथा शौनिकः=पशु-पक्षि-घाती, परिपालितां गृहशकुन्तिकां पक्षिणी=कपोत्यादिकां स्वयमेव च निहन्ति, तस्या मारणार्थमेव परिपालनं करोति, तथैव मयापि साम्प्रतं सीतापालनपरित्यागेच्छया क्रियते अतो नृशंसोऽस्मि इति हृदयम्। अत्रोपमालंकारः। रथोद्धताच्छन्दः ॥४५॥

टिप्पणी

(१) बीभत्सकर्मा=घृणितकर्मा। (√बध् वैरूप्ये (भ्वादि)+सन्) (२) नृशंसः=नृन् शंसति=हन्ति इति। नृ+√शंस+अन्। (३) सौहृदात्=सुहृदय =अण्—"हायनान्तयुवादिभ्योऽण्"। 'हृदय' को 'हृद्' आदेश—"हृल्लेखयदण-लासेषु"। आदिवृद्धिः—"तवद्धतेष्वचामादेः।" (४) शौनिकः—सूना=ठक्। सूना वधस्थानं, तेन दीव्यति व्यवहरतीति सौनिकः। "तेन दीव्यति खनति जयति जितम्" इति ठक् "किति च" इत्यादिवृद्धिः। (५) शकुन्तिका—अनुकम्पा के अर्थ में "अनु-कम्पायाम्" इस नियम के अनुसार 'कन्' प्रत्यय। शकुन्त=कन् (स्त्री०)

(६) अपृथगाश्रयाम्—अपृथक्-अभिन्न एक आश्रायो यस्यास्ताम्।

(२) कुछ पुकों में 'प्रिया' के स्थान पर 'प्रियैः' पाठ मिलता है। जिसका अर्थ होगा प्रियजनों के द्वारा परिपालित। 'सौहृदात्' के स्थान में 'सौहार्दात्', 'अपृथगाश्रयाम्' के स्थान पर 'अपृथगाशयाम्' तथा 'सौनिकः' के स्थान पर 'सौनिके' पाठ भी मिलते हैं। जहाँ 'सोनिके' यह पाठ है वहाँ चतुर्थ्यर्थ में सप्तमी मानकर यह अर्थ होगा—

जिस प्रकार कोई मनुष्य कसाई को पालतू चिड़िया दे देता है उसी प्रकार मैं (राम) भी सीता को मृत्यु को दे रहा हूँ।

(३) उपमालङ्कार। रथोद्धता छन्द।

तत्किमस्पृश्यः पातकी देवीं दूषयामि ? (इति सीतायाः शिरः सुसमुन्नमय्य बाहुमाकृष्य ।)

अपूर्वकर्मचण्डालमयि मुग्धे ! विमुञ्च माम् ।
श्रितासि चन्दनभ्रान्त्या, दुर्विपाकं विषद्रुमम् ॥४६॥

(उत्थाय) हन्त हन्त, संप्रति विपर्यस्तो जीवलोकः । अद्यावसितं जीवितप्रयोजनं रामस्य । शून्यमधुना जीर्णारण्यं जगत् । असारः संसारः । काष्ठप्रायं शरीरम् । अशरणोऽस्मि । किं करोमि ? का गतिः ?

हिन्दी—

इसलिए पापी मैं (छूकर) देवी को क्यों अपवित्र करूं ? (धीरे से सीता का सिर उठा कर, हाथ खींच कर)—

[श्लोक ४६] अयि भोली-भाली सीते ! बड़ा निन्दित कर्म करने के कारण चाण्डाल बने हुए मुझको छोड़ो । तुम चन्दन के धोखे से परिणाम में भयङ्कर विष-वृक्ष का आश्रय ग्रहण कर रही हो । "मेरे से तुम्हारा हित होगा" तुम्हारा यह विश्वास भ्रम ही है । तुमने तो चन्दन के भ्रम से भयङ्कर विष-वृक्ष का अवलम्बन किया है; इसलिए मुझे छोड़ो ।]

(उठकर) हाय ! हाय ! अब संसार बदल गया । आज राम के जीवन का प्रयोजन समाप्त हो गया । (मेरे लिए) अब जीवलोक सुनसान-बियाबान जङ्गल के समान है । संसार निस्सार (लग रहा) है ! शरीर चेतना-हीन सा हो रहा है ! मुझे कहीं शरण नहीं है । क्या करूं ? कहाँ जाऊं ? क्या उपाय है ?

संस्कृत-व्याख्या

स्वीयं बाहुं सीतादेव्याः शिरसः समाकृष्याह रामः—अपूर्वेति ।

मुग्धे ! अपूर्वं कर्म कृत्वाऽहमिदानीं चाण्डालः संवृत्तोऽस्मि । त्वं मां मुञ्च । यतस्त्वं चन्दनस्य भ्रमेण दुर्विपाकम्=अनुचितपरिणामं, विषवृक्षमेव समाश्रितासि । त्वया स्वप्नेऽपि न सम्भावितोऽस्म्येवमिति महान् खेदः ।

अत्र निदर्शनालङ्कारः । अनुष्टुप्छन्दः ॥४६॥

रामः सीतासमीपादुत्थायोन्मत्त इव प्रलपति—हन्त हन्तेति । जीवलोके परिवर्तनं सञ्जातम् । अद्य संसारे रामस्य जीवनं निष्फलं सम्पन्नम् । मम जीवनस्याधुना काचिदावश्यकता नास्ति । जगदिदानीं रामस्य कृते शून्यं जीर्णं=प्राचीनं वनमेव समभूत् । संसारे कोऽपि सारो नाधुना विद्यते । शरीरञ्चेदं काष्ठमिव नीरसं वर्तते । मम रक्षकः कोऽपि नास्ति । किमिदानीं मया विधेयम् ? क उपायः क्रियाम् ।

टिप्पणी

(१) कर्मचण्डाल—चाण्डाल दो प्रकार के होते हैं। एक जन्म-चाण्डाल दूसरे कर्मचाण्डाल। राम-परित्याग-रूपी नृशंस कर्म करने का विचार कर रहे हैं, इसीलिए उन्होंने अपने लिए 'कर्मचण्डाल' शब्द का प्रयोग किया है। वसिष्ठ ने चार प्रकार के कर्मचाण्डाल कहे हैं—

"असूयकः पिशुनश्च, कृतघ्नो दीर्घरोषकः।
चत्वारः कर्मचाण्डालाः, जन्मनश्चापि पञ्चमः॥"

(२) स्पर्शनीय :—√स्पृश्+अनीयर्। स्वैरम्—स्व+√इर्+घञ्। दुर्विपाकम्—दुर्+वि+√पच्+घञ्। विपर्यस्त—वि+परि+√अस्+क्त। अवसितम्—अव+सो√+क्त। असारः—अ+√सृ+घञ्। संसारः—सम्+√सृ+घञ्। संसरन्त्यस्मिन्निति संसारः।

(३) राम की मानसिक स्थिति का बहुत सुन्दर चित्रण इन पंक्तियों में हुआ है।

अथवा

दुःखसंवेदनायैव, रामे चैतन्यमागतम्।
मर्मोपघातिभिः प्राणैर्वज्रकीलायितं हृदि ॥४७॥

हा अम्ब अरुन्धती ! भगवन्तौ वसिष्ठविश्वामित्रौ ! भगवन् पावक ! हा देवि भूतधात्रि ! हा तातजनक ! हा मातः ! हा प्रिय-सुख महाराज सुग्रीव ! सौम्य हनूमन् ! महोपकारिन् लंकाधिपते विभीषण ! हा सखि त्रिजटे ! परिमुषिताः स्थ परिभूताः स्थ राम-हतकेन !

अन्वयः—दुःखसंवेदनाय, एवं, रामे, चैतन्यं, आगतम्, मर्मोपघातिभिः, प्राणैः हृदि, वज्रकीलायितम् ॥४७॥

हिन्दी—

[श्लोक, ४७] दुःखों का अनुभव करने के लिए ही राम का जन्म हुआ है। मर्मस्थलों पर आघात पहुंचने वाले प्राण इस समय हृदय में गड़ी हुई वज्र की कील के समान लग रहे हैं। [अर्थात्—ऐसी बुरी दशा में भी ये प्राण नहीं निकल रहे हैं वज्र की कील की भांति अटके रहकर असह्य सन्ताप उत्पन्न कर रहे हैं। मैं मरना चाहता हूं परन्तु ये निर्दय प्राण मेरी इच्छा पूर्ण नहीं होने देते।]

हा ! माता अरुन्धती ! पूज्य वसिष्ठ और विश्वामित्र जी ! भगवन् अग्नि-देव ! हा ! देवि वसुन्धरे ! हा ! पिता जनक जी ! हा ! माता जी ! हा ! परम सुहृद महाराज सुग्रीव ! प्यारे हनुमान् जी ! उपकार-परायण लङ्काधिराज विभीषण ! हा ! त्रिजटे ! आप सब लोग राम से वञ्चित एवं तिरस्कृत हो गये हैं ।

संस्कृत-व्याख्या

अथवा मदर्थं कुत्रापि स्थानं नस्ति, नच किमपि कर्तव्यम्, इति निर्दिशति—दुःखेति ।

वस्तुतस्तु रामे चैतन्य-सम्प्राप्तिः केवलं दुःखमनुभवितुमेवाभूत् । मम हृदये च मर्मोपघातिनो ममामी प्राणाः वज्रकीलवदधुना सञ्जाताः । किमपि कार्यं सम्प्रति कर्तुं न पश्यामि ।

अत्रोपमालङ्कारः ॥४७॥

टिप्पणी

(१) संवेदनम्—सम्+√विद+ल्यट् । (२) मर्मोपघातिभिः—मर्माणि उपघ्नन्ति ये, तैः । मर्मन्+उप+√हन्×णिनि (म्रियते यस्मिन्नाहते इति मर्म इति व्युत्पत्तिः) (३) वज्रकीलायितम्—वज्रकील×क्यङ् (नामधातु)+क्त । वज्रकीलमिवाचरितम् ।

'वज्रकीलायितम्'—कहने का अभिप्राय यह है कि प्राण वज्र की कील की भांति ठुक गये है । राम चाहते हैं कि उनके प्राण निकल जाँय, पर वे निकल ही नहीं रहे हैं । भगवान् राम की अन्तर्व्यथा उनके इस कथन में फूट पड़ी है । राम का जीवन है ही क्या ? दुःख का 'पुटपाक' है, कष्ट-सूत्र की विस्तृत व्याख्या है; लोका-राधन की वेदी पर किया गया पावन उत्सर्ग है ।

—०—

अथवा को नाम तेषामहमिदानीमाह्वाने ?

ते हि मन्ये महात्मानः, कृतघ्नेन दुरात्मना ।
मया गृहीतनामानः, स्पृश्यन्त इव पाप्मना ॥४८॥

अन्वयः—कृतघ्नेन, दुरात्मना, मया, गृहीतनामानः, ते महात्मानः, पाप्मना, स्पृश्यन्ते, इव, (इति) मन्ये, हि ॥४८॥

हिन्दी—

अथवा अब मैं उन्हें बुलाने वाला कौन हूं ?

[श्लोक ४८] मुझे तो ऐसा लग रहा है कि मानों वे महानुभाव मुझ कृतघ्न तथा पापी के द्वारा नाम लिये जाने पर पाप-युक्त से हो रहे हैं । [मुझ पापी के स्मरण करने मात्र से ही उनकी पवित्रात्मा कलङ्कित-सी होती प्रतीत हो रही है । अतः उन महानुभावों का आह्वान करने का मुझे क्या अधिकार है ?]

संस्कृत-व्याख्या

शोकावेगादरुन्धत्यादीन् सम्बोधयति । अनन्तरं च विचारयति ते हि इति ।

अथवा तेषां महात्मनां नामग्रहणेनापि मया पापिना ते पापिन इव क्रियन्ते, किं नामप्रग्रणेन ? स्वकीयेन पापेनान्येषां पापसम्पर्कविधानं नोचितमिति भावः । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः ॥४८॥

टिप्पणी

कृतघ्नेन—कृतं हन्तीति कृतघ्नस्तेन । सीताके प्रति अपकार करने के कारण राम ने अपने लिये इस शब्द का प्रयोग किया है । कृतघ्न के साथ रहने से पाप लगता है । राम कहते हैं कि मेरे वसिष्ठ आदि का नाम लेने से ही वे मानों वाचिक-संस्पर्श से दूषित हो रहे हैं, मैं कृतघ्न जो हूँ । कृतघ्न की मुक्ति नहीं होती ।

"कृतस्य दोषं वदति, सकासान्न करोति यः ।
न स्मरेच्च कृतं यस्तु, आश्रमान् यस्तु दूषयेत् ॥
सर्वांस्तानृषिभिः सार्द्धं, कृतघ्नानब्रवीन्मनुः ।"
× × × (स्कन्दपुराण)
"ब्रह्मघ्ने च, सुरापे च, चौरे च, गुरुतल्पगे ।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः, कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥"

योऽहम्—

विस्रम्भादुरसि निपत्य जातनिद्रा-
मुन्मुच्य प्रियगृहिणीं गृहस्य लक्ष्मीम् ।
आतङ्कस्फुरितकठोरगर्भगुर्वीं,
क्रव्याद्भ्यो बलिमिव दारुणः क्षिपामि ॥४९॥

(सीतायाः पादौ शिरसि कृत्वा ।) अयं पश्चिमस्ते रामशिरसि पादपङ्कजस्पर्शः । (इति रोदिति ।)

अन्वय—विस्रम्भात्, उरसि, निपत्य, जातनिद्रां, आतङ्कस्फुरितकठोरगर्भगुर्वीं, गृहस्य, लक्ष्मीं प्रियगृहिणीं, दारुणः (सन्) उन्मुच्य, क्रव्याद्भ्यः, बलिं, इव क्षिपामि ।४९।

हिन्दी—

जो मैं—

[श्लोक ४९]—विश्वासपूर्वक छाती पर सोई हुई, (चित्रदर्शन के) समय से फड़कने वाले गर्भ से मन्थर, इस घर की लक्ष्मी प्रिय पत्नी को नृशंस होकर मांसा-

हारी हिंस्र जीवों-जन्तुओं में बलि की भांति फेंक रहा हूं। [इससे अधिक और क्या क्रूरता हो सकती है कि अपने पर अडिग विश्वास रखने वाली, गुणवती एवं गर्भिणी पत्नी को मैं मांस खाने वाले जीवों के सामने बलि के टुकड़ों की भांति फेंक रहा हूं।]

(सीता के पैरों पर सिर रखकर) राम के सिर में तुम्हारे चरण-कमलों का यह अन्तिम स्पर्श है।

[रो पड़ते हैं।]

संस्कृत-व्याख्या

पापकारित्वमेव प्रकटयति—विस्रम्भादिति।

अतः परं किं पापं स्यात् ? योऽहं विश्वासपूर्वकं वक्षसि प्रसुप्ताम् प्रियपत्नीं, गृहस्य लक्ष्मीम्, आतङ्केन स्फुरितो यः कठोरः=परिपूर्णावस्थो गर्भः, तेन गुर्वीम्= आलस्योपेताम्, क्रव्यं=मांसम्, अश्नन्ति इति क्रव्यादाः तेभ्यो बलिमिव क्षिपामि। मत्तः परः को दारुणः स्यात् !

अत्रोपमालङ्कार। प्रहर्षिणी च्छन्दः ॥४९॥

पश्चिम इति। अन्तिमो रामस्य शिरसि ते पादपङ्कजस्य स्पर्शः इत्युक्त्वा रोदिति।

टिप्पणी

(१) आतंकस्पुरितकठोरगर्भगुर्वीम्—आतङ्केन स्फुरितः कठोरो यो गर्भ—स्तेन गुर्वीम्। (२) क्रव्याद्भ्यः—क्रव्यंमांसमदन्तीति क्रव्यादाः श्वापदा व्याघ्रादयः। 'क्रव्यादामांसभक्षकाः।' क्रव्य+√अद्+विट्—"क्रव्ये च।" चतुर्थी सम्प्रदाने।

(३) बलि—"बलिर्दैत्यप्रभेदे च करे चामरदण्डयोः।
उपहारे पुमान्, स्त्री तु जरया श्लथचर्मणि।
गृहदारुप्रभेदे च, जठरावयवेऽपि च॥" (मेदिनी)

(४) पश्चिम—पश्चाद् भवः पश्चिमः। पश्चात्+डिमच्। अन्तिम।

(५) उपमालङ्कार। प्रहर्षिणी छन्द।

(नेपथ्ये।)

अब्रह्मण्यम्, अब्रह्मण्यम् !

रामः—ज्ञायतां भोः ! किमेतत् ?

(पुनर्नेपथ्ये।)

ऋषीणामुग्रतपसां, यमुनातीरवासिनाम्।
लवणत्रासितः स्तोमस्त्रातारं त्वामुपस्थितः ॥५०॥

हिन्दी—

(नेपथ्य में)

अमङ्गल ! अमङ्गल ! (अथवा-ब्राह्मणों पर विपत्ति ! ब्राह्मणों को भय !)

राम—अरे, पता लगाओ, यह क्या बात है ?

(पुनः नेपथ्य में ।)

[श्लोक ५०] यमुना-तीर-निवासी महातपस्वी ऋषियों का समूह 'लवण' राक्षस से भयभीत होकर रक्षा करने वाले आपके पास आया है ॥५०॥

संस्कृत-व्याख्या

नेपथ्ये इति । यत्र नटा स्ववेश-विन्यासं कुर्वन्ति, तत्स्थानं नेपथ्यमित्युच्यते । अब्रह्मण्यम्=ब्राह्मानां विघातकम् 'अब्रह्मण्यमवध्योक्तौ' इत्यमरः ।

ऋषीणामिति । यमुनातीरे, निवसतां ऋषीणां लवणासुर-संत्रासितः स्तोमः= समुदायः, रक्षकं त्वां रामं प्रत्युपस्थितः । अस्माकं रक्षां कुरु, इति भावः ॥५०॥

टिप्पणी

(१) नेपथ्य—जहाँ नट वेश-परिवर्तन करते हैं, उसे 'नेपथ्य' कहते हैं । "नेपथ्यं तु प्रसाधने । रंगभूमौ वेषभेदे" इति हैमः । (२) अब्रह्मण्यम्—न ब्रह्मण्यम् इति अब्रह्मण्यम् । ब्रह्मन्=यत् । ब्रह्मभ्यो हितं ब्रह्मण्यम्, न ब्रह्मण्यम् इत्यब्रह्मण्यम् । "अब्रह्मण्यमवध्योक्तौ" इत्यमरः । 'अब्रह्मण्यम्' का अर्थ तो 'वैसे ब्राह्मणों पर विपत्ति' है, परन्तु यह विपत्ति से से बचने के लिए 'पुकार' के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है । (३) लवण—लवण 'मधु' और रावण की बहिन 'कुम्भीनसीं' का पुत्र था । वह बड़ा ही क्रोधी, विकराल तथा मुनि-द्रोही था । अन्ततोगत्वा ऋषियों ने संगठन करके श्रीरामचन्द्र जी से प्रार्थना की । सब वृत्तान्त जानकर उन्होंने श्री शत्रुघ्न जी को उसका वध करने के लिए भेजा । उन्होंने उसका वध कर दिया ।

रामः—कथमद्यापि राक्षसत्रासः ? तद्यावदस्य दुरात्मनो माधुरस्य कुम्भीनसीकुमारस्योन्मूलनाय शत्रुघ्नं प्रेषयामि । (परिक्रम्य पुनर्निवृत्य ।) हा देवि ! कथमेवंविधा गमिष्यसि ? भगवति वसुन्धरे ! सुश्लाघ्यां दुहितरमवेक्षस्व जानकीम् ।

जनकानां रघूणां च, यत्कृत्स्नं गोत्रमङ्गलम् ।
यां देवयजने पुण्ये, पुण्यशीलामजीजनः ॥५१॥

राम—क्या अब भी राक्षसों का भय है ? तो (इसलिए) मैं 'कुम्भीनसी'-पुत्र दुष्ट मथुरेश्वर (लवण) का उन्मूलन करने के लिए शत्रुघ्न को भेजता हूं । (घूमकर

तथा पुनः लौटकर) भगति वसुन्धरे ! अपनी प्रशंसनीय पुत्री (उस) जानकी का ध्यान रखना—

[श्लोक ५१]—जो 'जनक' और 'रघु'—(दोनों) वंशों के समस्त मंगल का प्रतीक है, और जिस पुण्यशालिनी को यज्ञ के पवित्र स्थान में तुमने उत्पन्न किया था ॥५१॥

[रोते हुए चले जाते हैं ।]

संस्कृत-व्याख्या

[इति रुदन्निष्क्रान्तः ।]

रामोऽधुनापि राक्षसानां त्रासः ? इति तत्प्रबन्धं चिकीर्षुर्विचारयति—कथमिति । अये ! अद्यापि राक्षसानां त्रासः ? तद् यावत् अस्य दुष्टस्य मधुरापुरीनिवासिनः, कुम्भीनसी, राक्षसमाता, तस्याः कुमारस्य विनाशाय शत्रुघ्नं प्रेषयामीति ।

सीतामभिरक्षितुं भगवतीं धरित्रीं प्रार्थयते—भगवति-इति । भगवति ! =सर्वसामर्थ्यशालिनि ! वसुन्धरे देवि ! सुश्लाघां=प्रशंसनीयचरित्रां दुहितरं जानकीं=जनकनन्दिनीम्, अवेक्षस्व । सति विपत्ति-काले मातैव कन्यकानां परित्राणाय प्रकल्पते । अतस्त्वयैव सीतायाः संरक्षणं कार्यमितितत्त्वम् । [एतस्योपयोगोऽग्रे भविष्यति ।]

"कीदृशीयं सीते" ति निरूपयति—जनकानामिति । जनकवंशोत्पन्नानां, रघुवंशरत्नानां च राज्ञामियं सम्पूर्णं मङ्गलमस्ति । एतस्याः सम्बन्धेनोभयवंशयोः शोभा वर्तते । पुण्यशीलां च यां पुण्यशीले ! देवयजने ! पृथ्विदेवी ! त्वमजीजनः । या त्वयोत्पादितः, तस्या एतस्या ध्यानमवश्यं भवत्यैव कर्तव्यमिति भावः । अत्र रूपकालंकारः ।.५१।।

टिप्पणी

(१) कुम्भीनसी—कुम्भीव नासिका यस्याः । "पद्दन्नोमासहृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छसप्रभृतिषु" (६ । १ । ६३ पा०) इति सूत्रेण नसादेशः, स्त्रियां ङीप् च निपात्यते । (२) गोत्रमङ्गलम्—आशय यह है कि सीता रघु और जनक दोनों के कल्याण की प्रतिनिधि हैं । उनसे दोनों वंशों का यश सुरक्षित है । (३) अवेक्षस्व—आगामी कथासूत्र में पृथ्वी के योगदान पर इससे ठीक वैसा ही प्रकाश पड़ता है, जैसा की गंगाजी से पहिले कल्याण-कामना की प्रार्थना करने का (४) निष्क्रान्त—यहां 'बिन्दु' नामक द्वितीय अर्थप्रकृति है । 'बिन्दु' वह अर्थप्रकृति है, जो नाटकीय वृत्त-विच्छेद की सम्भावना में भी अविच्छेद बनाये रहे । अर्थात् जो कथासूत्र को विच्छिन्न होने से बचाये रहे । उसका लक्षण है—

"अवान्तरार्थविच्छेदे 'बिन्दु' रच्छेदकारणम् ।"

सीता—हा सोह्म अज्जउत्त ! कहिसि ? (इति सहसोत्थाय।) हद्धी हद्धी । दुस्सिविणरणरणअविप्पलद्धा अज्जउत्तसुण्णं विअ अत्ताणं पेक्खामि । (विलोक्य) हद्धी हद्धी । एआइणिं पसुत्तं म उज्झिअ कहि गदो णाहो ? होदु । से कुप्पिसं, जइ तं पेखन्ती अत्तणो पहविस्सं । को एत्थ परिअणो ? [हा सौम्य आर्यपुत्र ! कुत्रासि ? हा धिक् ! हा धिक् ! दुःस्वप्नरणरणकविप्रलब्धा आर्यपुत्रशून्यमिवात्मानं पश्यामि । ...हा धिक् ! हा धिक् ! एकाकिनीं प्रसूतां मामुज्झित्वा कुत्र गतो नाथः ? भवतु । अस्मै कोपिष्यामि, यदि तं प्रेक्षमाणा आत्मनः प्रभविष्यामि । कोऽत्र परिजनः ?]

(प्रविश्य ।)

दुर्मुखः—देवि ! कुमारलक्खणो विण्णवेदि—'सज्जो रहो । तं आरुहदु देवी'त्ति । [देवि ! कुमारलक्ष्मणो विज्ञापयति—'सज्जो रथः । तदारोहतु देवी' इति ।]

सीता—इअं आरूढह्मि । (उत्थाय परिक्रम्य।) फुरइ मे गब्भभारो । सणिअं गच्छह्म । [इयमारूढास्मि । स्फुरति मे गर्भभारः । शनैर्गच्छामः ।]

दुर्मुखः—इदो इदो देवी ! (इत इतो देवी ।)

सीता—णमो रहुउलदेवदाणं । (नमो रघुकुलदेवतानाम् ।)

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति महाकविश्रीभवभूतिविरचिते 'उत्तररामचरिते'
'चित्रदर्शनो' नाम प्रथमोऽङ्कः

हिन्दी—

सीता—हा ! प्रिय आर्यपुत्र ! आप कहां हैं ? (सहसा उठ कर) हाय ! हाय ! इस (विरहमूलक) दुःस्वप्न की उत्कठा (घबराहट) से खिन्न-सी होकर मैं अपने को 'आर्यपुत्र' से विरहित-सी देख रही हूं । (देखकर) धिक् ! धिक् ! मुझे अकेली सोती छोड़कर प्राणनाथ कहां चले गये ? अस्तु, यदि मैं अपने पर नियन्त्रण रख सकी तो (यदि उनको देखकर मेरा क्रोध शान्त न हो गया तो) मैं उनसे क्रोध (मान) करूंगी । यहां कौन परिजन है ?

[प्रवेश कर]

दुर्मुख—देवि ! कुमार लक्ष्मण निवेदन करते हैं कि—"रथ सुसज्जित है; अतः आप आरोहण कीजिये।"

सीता—अभी चढ़ती हूं। (उठकर तथा घूमकर) मेरा गर्भ फड़क रहा है; अतः धीरे-धीरे चलें।

दुर्मुख—महारानी जी ! इधर से, इधर से।

सीता—रघुकुल के देवताओं को मेरा प्रणाम है। (सब चले जाते हैं।)

महाकवि श्री 'भवभूति' विरचित 'उत्तररामचरित' में
'चित्रदर्शन' नामक प्रथम अङ्क समाप्त।

संस्कृत-व्याख्या

दुःस्वप्नपरिखेदिता, "आर्यपुत्रो मामेकाकिनीं परित्यज्य गतः इति तस्मै कुपिता भविष्यामि, यदि तमवलोकन्ती, स्वस्मै प्रभविष्यामि' ति वदन्ती सीता—दुर्मुखद्वारा सज्जितं रथं ज्ञात्वा, आरोहणाय प्रचलति। गमनसमये च रघुकुल-देवताभ्यः प्रणामं करोति—णमो-इति। रघुकुलस्य देवतानां कृते मयाऽयं प्रणामाञ्जलिरर्प्यते इति भावः। सर्वा अपि देव्यो मङ्गलं कुर्वन्तु सर्वेषाम्। इति।

निष्क्रान्ताः इति। अङ्कस्यान्ते सर्वेऽपि नटा अभिनयशालातो बहिर्भवन्तीति नियमः। चित्रदर्शनो नामायमङ्कः। अत्र चित्रस्य दर्शनमेव मुख्यतया वर्णितं कविना। अत एवास्य नामापि तथैव कृतमिति।

टिप्पणी

(१) आत्मनः प्रभविष्यामि—यदि अपने ऊपर नियन्त्रण रख सकी। सीताजी के कहने का आशय यह है कि भगवान् रामचन्द्र जी मुझे अकेली सोती हुई छोड़कर चले गये हैं। अतः मिलने पर मैं उनसे 'मान' करूंगी। परन्तु उन्हें आशङ्का है कि भगवान् रामचन्द्र जी को देखते ही उनका समस्त क्रोध शान्त हो जायगा। इसलिए वे कहती हैं, यदि मैं अपने पर, उन्हें देखकर नियन्त्रण रख सकी—उन्हें देखते ही प्रसन्न न हो गई !

कैसी मीठी कल्पना है ! बेचारी सीता को क्या पता है कि अब ऐसा अवसर लौटकर ही नहीं आयेगा !

(२) चित्रदर्शन—इस नाम-करण के लिए प्रथम अङ्क के प्रारम्भ में 'प्रथम अंङ्क का नाटकीय महत्व' शीर्षक तथा भूमिका देखिये। (३) अङ्क—अङ्क के लक्षण के लिए संस्कृत-टीका देखिए।

श्री 'प्रियम्वदा'-टीकालंकृत 'उत्तररामचरित'-नाटक के 'चित्र-दर्शन'
नामक प्रथम अङ्क का सटिप्पण हिन्दी-अनुवाद समाप्त।

द्वितीय अंक
(पञ्चवटी-प्रवेश)

"वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि ।
लोकोत्तराणां चेतांसि, को हि विज्ञातुमर्हति ?"

द्वितीय अङ्क की कथावस्तु का विश्लेषण—

द्वितीय अङ्क की घटना दो रूपों में विभक्त की जा सकती है— (१) आत्रेयी और वासन्ति, (२) राम और शम्बूक ।

(१) आत्रेयी और वासन्ती

[स्थान—दण्डकारण्य]

नेपथ्य में तपस्विनी के स्वागत के साथ अङ्क का आरम्भ होता है । एक तापसी, जिसका नाम आत्रेयी है, दण्डकारण्य में प्रविष्ट होती है और वनदेवता, जिसका नाम वासन्ती है, से मिलती है । आरम्भ में वासन्ती आत्रेयी को तापसी के रूप में और आत्रेयी वासन्ती को वनदेवता के रूप में देख रही है । दोनों की उक्तियों से निम्नलिखित बातें स्पष्ट हो रही हैं—

(क) आत्रेयी बाल्मीकि-ऋषि के आश्रम में अध्ययन करने वाली तपस्विनी है । वह निगमान्त (वेदान्त)-विद्या का अध्ययन करने के लिए वाल्मीकि के आश्रम को छोड़कर अगस्त्य आदि ब्रह्मवेत्ताओं के पास दण्डकारण्य में आई हुई है और अगस्त्य के आश्रम में जारही है ।

(ख) यद्यपि वाल्मीकि जी के पास बड़े-बड़े ऋषि अध्ययन करने के लिये आते हैं, तथापि वर्तमान में वहां अध्ययन के लिये कुछ विघ्न उपस्थित हो रहे हैं—

(१) किसी देवता विशेष ने वाल्मीकि जी के पास कुश और लव नामक दो बालकों को छोड़ दिया है, जिनको जन्म से ही जृम्भकास्त्र सिद्ध हैं । ऋषि ने उनका पालन पोषण करके ग्यारह वर्ष की अवस्था में उपनयन संस्कार करके उन्हें वेद का अध्ययन आरम्भ करा दिया है । वे कुशाग्रबुद्धि हैं, जिनके साथ आत्रेयी का अध्ययन नहीं हो पाता है ।

(२) दूसरे ब्रह्मा जी की आज्ञा से वाल्मीकि जी ने रामायण की रचना की है । इस प्रकार बालकों की कुशाग्र-बुद्धि और ऋषि का काव्य-प्रणयन-अध्ययन के लिए प्रत्यूह हो रहे हैं ।

विश्राम कर चुकने के अनन्तर आत्रेयी अगस्त्य-आश्रम का मार्ग पूछती है, जिसके उत्तर में वनदेवता (वासन्ती) "यहां पञ्चवटी में प्रवेश कर गोदावरी के किनारे-किनारे जाइए" यह कहती है। आत्रेयी तपोवन, पञ्चवटी, गोदावरी, प्रस्रवण पर्वत आदि का साक्षात्कार कर वासन्ती को पहचान लेती है। इसी प्रसङ्ग में आत्रेयी को सीता का स्मरण हो उठता है। दोनों के सीता-विषयक वार्तालाप से ये सूचनायें मिलती हैं:—

(क) सीता जी सापवाद निष्कासित कर दी गई है। लक्ष्मण के लौट जाने के अनन्तर उनका कोई समाचार नहीं मिला है।

(ख) ऋष्यशृङ्ग का यज्ञ समाप्त हो चुका है। रामचन्द्र जी ने सीता देवी का बहिष्कार कर दिया है, इसलिए यज्ञ समाप्ति पर अरुन्धती, राम की माताएं और ऋषि वसिष्ठ अयोध्या नहीं लौटना चाहते हैं अपितु उनका विचार वाल्मीकि के आश्रम में निवास करने का है।

(ग) रामचन्द्र जी ने अश्वमेध यज्ञ प्रारम्भ कर दिया है। वे एक पत्नीव्रती हैं, अतः यज्ञ में सीता जी की स्वर्ण-प्रतिमा से ही उनका (सीता का) कार्य लिया जा रहा है। वामदेव द्वारा अभिमंत्रित अश्व छोड़ दिया गया है, जिसकी रक्षा लक्ष्मण का पुत्र चन्द्रकेतु चतुरङ्गिणी सेना के साथ कर रहा है।

(घ) रामचन्द्र जी के राज्य में एक ब्राह्मण का पुत्र मर गया है। वह तभी जीवित हो सकता है जबकि राम पृथ्वी पर तपस्या करने वाले शूद्र जम्बूक का सिर काट दें। शम्बूक 'जनस्थान' में तपस्या कर रहा है, अतः राम का यहाँ (जनस्थान में) उपस्थित होना निश्चित है।

इस प्रकार दोनों चली जाती हैं और विष्कम्भ समाप्त हो जाता है।

(२) राम और शम्बूक

[स्थान—जनस्थान]

रामचन्द्र जी जनस्थान में उपस्थित होकर शम्बूक का वध कर देते हैं। वह दिव्य पुरुष बनकर ब्राह्मण पुत्र के जीवित हो जाने की सूचना देता है तथा रामचन्द्र जी से आशीर्वाद प्राप्त करता है। उसकी उक्तियों से रामचन्द्र जी समझ लेते हैं कि वे उस समय जनस्थान में स्थित हैं। शम्बूक ब्रह्मर्षि अगस्त के दर्शन के लिए उनके आश्रम की ओर चला जाता है।

(ग) रामचन्द्र जी अकेले रह जाते हैं। मयूरों के शब्दों से युक्त पर्वत मृग-व्याप्त वनस्थलियाँ, विविध वृक्षों से व्याप्त नदियों के किनारे, प्रस्रवण पर्वत, गोदावरी नदी तथा पञ्चवटी आदि उनकी पुरातन स्मृतियां जागृत कर उन्हें सीता का स्मरण करा देती हैं। पुराना शोक हृदय के मर्मस्थल में स्फुटित व्रण के समान नवीन सा होता हुआ उनको घेर लेता है। पञ्चवटी के प्रति राम का विशेष आकर्षण है परन्तु सीता का अभाव उन्हें व्याकुल बनाए दे रहा है।

इसी बीच शम्बूक अगस्त्याश्रम से लौट आता है तथा भगवान् अगस्त्य का सन्देश रामचन्द्र जी को सुनाता है कि वे लोपामुद्रा तथा अन्य ऋषियों के साथ उनकी (रामचन्द्र जी की अपने आश्रम में प्रतीक्षा कर रहे हैं।)

अगस्त्य का आदेश सुनकर पञ्चवटी से क्षमा-याचना करते हुए राम पुष्पक-विमान द्वारा क्रौञ्च-पर्वत एवं नदियों के सङ्गम को देखते हुए चले जाते हैं।

दूसरे अङ्क का नाटकीय महत्व

(१) भवभूति ने द्वितीय अङ्क में शुद्ध-विष्कम्भक का प्रयोग कर बीती हुई एवं आने वाली घटनाओं को जोड़ा है। सीता देवी का अपवाद-सहित त्याग एवं शम्बूक-वध के लिए रामचन्द्र जी के पुनः दण्डकारण्य में आने की सूचना के साथ-साथ विष्कम्भक में आत्रेयी तथा वासन्ती के वार्त्तालाप में रामचन्द्र जी की स्वर्णमयी मूर्ति की चर्चा से उनका सीता विषयक प्रेम तथा आदर सूचित होता है।

(२) रामचन्द्र जी के सीता विषयक प्रेम की पुष्टि के लिए यह आवश्यक है कि वे जिन स्थानों पर उनके साथ रहे थे उनका एक बार दर्शन अवश्य करें; इसी से नाटकीय प्रवाह की सृष्टि हो सकती है। इसके लिए कवि ने शम्बूक की सृष्टि की है। स्वार्थ के वशीभूत होकर रामचन्द्र जी पञ्चवटी में प्रवेश नहीं करते अपितु अपनी प्रजा के हित के लिए, ब्राह्मण-पुत्र के उद्धार के लिए, उनका इस स्थान में प्रवेश होता है। किन्तु पूर्व परिचित स्थान में आकर वे सीता देवी को भुला नहीं पाते। वे पति तथा राजा दोनों ही रूपों में लोकोत्तर हैं। उनका चरित्र वज्र से भी कठोर है और कुसुम मे भी मृदु! राज्यकार्य में व्याप्त रामचन्द्र जी के सीता-विषयक प्रेम की जागृति के लिए नाटककार ने इस घटना की सृष्टि की ओर इसलिए इस अङ्क का नाम भी "पञ्चवटी-प्रवेश" रखा है।

(३) पहले अङ्क तथा द्वितीय अङ्क की घटना में लगभग १२ वर्ष का अन्तर है। कुश एवं लव ग्यारह वर्ष के होकर वेद का अध्ययन करने लगे हैं, लक्ष्मण के भी पुत्र उत्पन्न हो गया है, तथा इतने समय में प्रकृति में भी परिवर्तन हो चुका है। बारह वर्ष तक अन्दर ही अन्दर सिसकता हुआ राम का सीताविषयक प्रेम जंगल में आकर प्रदीप्त हो उठता है। वे प्रजा के सामने रो भी नहीं सकते। उनका प्रजानुरञ्जन का आदर्श उनके पत्नी-प्रेम को अरण्यरोदन बना देता है। पहले अङ्क का राजा राम तथा पति राम का अन्तर्द्वन्द्व दूसरे अङ्क में मूर्त हो जाता है।

(४) संक्षेप में इस अङ्क में रामचन्द्र जी के चरित्र का विकास हुआ है। यहां नाटक-कार ने बड़े मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से चरित्र का विकास दिखाया है जो कवित्व, अनुभूति तथा सत्यता से ओत-प्रोत है।

द्वितीयोऽङ्कः ।

(नेपथ्ये)

स्वागतं तपोधनायाः !

[ततः प्रविशत्यध्वगवेषा तापसी ।]

तापसी—अये ! वनदेवता फलकुसुमगर्भेण पल्लवार्घ्येण दूरान्मामुपतिष्ठते !

हिन्दी—

[नेपथ्य में]

तपस्वी जी का स्वागत है !

[तदन्तर पथिकवेष में तापसी प्रवेश करती है ।]

तापसी—अरे ! वनदेवि फल-फूल-सहित पल्लव-निर्मित अर्घ्य से दूर से ही मेरी पूजा कर रही है !

संस्कृत-व्याख्या

अथ सीतादेव्याः परित्यागानन्तरं किमभूदिति वृत्तान्तं सूचयितुं द्वितीयाङ्कमारभते कविः । तत्रादौ पान्थवेषे काचिदात्रेयी नाम्नी तापसी प्रविशति, नेपथ्ये वनदेवी तस्याः स्वागतं करोति । तामवलोक्य तापसी कथयति—अयेइति । अस्य वनस्य देवी दूरादेव फलकुसुमगर्भेण=फलपुष्पमिश्रितेन पल्लवनिर्मितेनार्घ्येण मामुपतिष्ठते=अर्चयति । अतिथेरपि देवतुल्यत्वात् "उपाद्देवपूजासंगतिकरणमित्रकरणपथिष्वतिवाच्यम्" इत्यात्मनेपदे न दोषः ।

टिप्पणी

(१) 'नेपथ्ये'—परदे के पीछे के स्थान में, जहां नट वेष-भूषा धारण करते हैं । 'नेपथ्यं तु प्रसाधने । रङ्गभूमौ वेषभेदे'—इति हैमः । कुशीलवकुटुम्बस्य स्थली नेपथ्यमिष्यते ।' (२) 'स्वागतम्' यहां 'चूलिका'—नामक अर्थोपक्षेपक है क्योंकि जवनिका के अन्दर से आत्रेयी के आगमन-रूप अर्थ की सूचना दी गयी है । 'अन्तर्जवनिकासंस्थैः सूचनार्थस्य चूलिका' (सा० द०। ६) । (३) 'पल्लवार्घ्येण'—अर्घः=पूजाविधिः ('मूल्ये पूजाविधावर्घः'—इत्यमरः) तदर्थमिदमर्घ्यम् "पादार्घाभ्यां च" (पा० ५ । ४ । २५) इति यत् । अर्घ+यत् ।

[प्रविश्य]

वनदेवता—(अर्घ्यंविकीर्य ।)

यथेच्छाभोग्यं वो वनमिदमयं मे सुदिवसः,
सतां सद्भिः सङ्गः कथमपि हि पुण्येन भवति ।
तरुच्छाया तोयं यदपि तपसां योग्यमशनं
फलं वा मूलं वा तदपि न पराधीनमिह वः ॥१॥

अन्वयः—इदं वनं वः यथेच्छाभोग्यम् । अयं मे सुदिवसः । हि सतां सद्भिः सङ्गः कथमपि पुण्येन भवति । तरुच्छाया, तोयं यदपि तपसां योग्यम् अशनं फलं वा मूलं वा, तदपि इह वः पराधीनं न ॥१॥

हिन्दी—

[प्रवेश कर]

वनदेवता (अर्घ्य देकर)

[श्लोक १] (तपस्विनी जी !) यह वन आपकी इच्छानुसार उपभोक्तव्य है। आज का दिन मेरे लिए बड़ा ही शुभ है (क्योंकि आप पधारी हैं।) (सच तो यह है कि) सत्पुरुषों का सत्पुरुषों से सम्बन्ध बड़े पुण्यों से होता है। वृक्षों की छाया, (शीतल एवं निर्मल) जल तथा तपस्या के लिए उपयुक्त भोजन, जो कुछ भी फल-मूल आदि हैं, वह भी आपके लिए पराधीन (अप्राप्य) नहीं है। [अर्थात्—यह वन आपका ही है। चाहे यहां से फल-फूल ग्रहण करें। आप इस विषय में स्वतन्त्र हैं। ऐसे स्थान में थोड़ा विश्राम करने के उपरान्त जाइएगा।]

संस्कृत-व्याख्या

दूरादेव भूमौ पूजापात्रादर्घ्यं विकीर्य वनदेवी तपस्विन्याः स्वागतं कर्तुमुपक्रमते—यथेच्छेति ।

भोः तापसि ! इदम्=पुरोदृश्यमानम्, वनम्=विपिनम् वः=युष्माकम्, यथेच्छाभोग्यम्=इच्छामनतिक्रम्य समन्ताद्भोक्तव्यम् (अस्ति) । (अद्य), अयम्=उपस्थितः, मे=मम, सुदिवसः=शुभावसरः । शोभनमद्यतनं दिनमुपस्थितम् । हि=यत् सत्यम्, सताम्=सज्जनानाम्, सद्भिः=सत्पुरुषैः, सङ्गः=सङ्गतिः, कथमपि पुण्येन=केनापि सुकृतेनैव भवति=जायते तरुच्छाया=अत्रत्यपादपच्छाया, तोयम्=जलम्, यदपि, तपसाम्, नियमानाम्, योग्यम्=समुचितम्, अशनम्=भोजनम्, फलं वा मूलं वा, तदपि इह, वने, वः=युष्माकम्, भवद्विधानां कृते वा, पराधीनम्=परायत्तम् नास्ति । अस्मिन् वने विद्यमानाः सर्वेऽपि पदार्थाः भवच्छदृशानां कृते पराधीना न सन्ति । अतो यथेच्छं विश्रामं कृत्वा सनाथ्यतामिदं वनमिति भावः ।

अत्रातिथिसत्कारो धर्मः, इति मत्वा प्रेक्षकाणां पुरस्तात् इमं प्रसङ्गमवतारितवान् कविः ।

अत्र अर्थान्तरन्यासः अलङ्कारः । शिखरिणी च्छन्दः । तल्लक्षणं यथा—

"रसै रुद्रै श्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी ।" इति ।

प्रसादो गुणः। लाटी रीतिः ॥१॥

टिप्पणी

(१) यथेच्छाभोग्यम्—इसके स्थान पर 'यथेच्छं भोग्यम्' पाठ भी उपलब्ध होता है जिसका अर्थ भी 'इच्छानुसार भोगने योग्य' ही होगा। पहला पाठ समस्त है, दूसरा व्यस्त।

इच्छामनतिक्रम्य=यथेच्छम्, 'अव्ययं विभक्ति।'

(पा० २ । १ । ६) इति यथार्थेऽव्ययीभावः, ।

भोक्तुं योग्यं भोग्यम्,

"ऋहलोर्ण्यत्" (पा० ३ । १ । १२४) इति ण्यत्, 'चजोःकुघिण्यतो" (पा० ७-३-५२) इति कुत्वम् । समन्ताद्भोग्यम्, यथेच्छम् आभोग्यम् यथेच्छाभोग्यम् ।

(२) १. "सतां सद्भिः सङ्गः—', तुलना कीजियेः—

'गृहानुपैतुं प्रणयादभीप्सवो,
भवन्ति नापुण्यकृतां मनीषिणः ।"

(शिशुपालवध १ । १४)

२. पुण्येन—'हेतौ' तृतीया । ३. तपसाम्—"तपसः" पाठ भी उपलब्ध है । पराधीनम्—परस्मिन् अधि इति पराधीनम् ।

"अषडक्षाषितङ्ग्वलंकर्मालंपुरुषा—
ध्युत्तरपदात्खः" (पा२ ५ । ४ । ७) इति खप्रत्ययः ।
"आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्यया—
दीनाम्" (पा० ७ । १ । २) इयि ईनादेशः ।
पर+अधि+ख(ईन) ।

(५) "वः"—"बहुवचनस्य वस्नसौ" (पा० ८ । १ । २१) इति अपवादौ वसादेशः । (६) अलङ्कार—अर्थान्तरन्यास। शिखरिणी छन्द । प्रसाद गुण । लाटी रीति ।

तापसी—किमप्रोच्यते

प्रियप्राया वृत्तिर्विनयमधुरो वाचि नियमः,
प्रकृत्या कल्याणी मतिरनवगीतः परिचयः ।
पुरो वा पश्चाद्वा तदिदमविपर्यासितरसं,
रहस्यं साधूनामनुपधि विशुद्धं विजयते ॥२॥

अन्वय:—वृत्तिः प्रियप्राया; वाचि विनयमधुरः नियमः; मतिः प्रकृत्या कल्याणी; परिचयः अनवगीतः। इदम् तत् पुरो वा पश्चाद् वा अविपर्य्यासितरसम् साधूनाम् अनुपधि विशुद्धं रहस्यं विजयते ॥२॥

हिन्दी—

तापसी—इस विषय में क्या कहना !

[श्लोक २] सज्जनों का परम शुद्ध चरित्र सदा विजयी (सर्वोत्कृष्ट सिद्ध) होता है। उनका व्यवहार बड़ा प्रिय, (उनकी) वाणी में बड़ी मृदुता तथा संयम, बुद्धि स्वभाव से ही कल्याणकारिणी, अनिन्दनीय परिचय तथा वे जो कुछ कहना चाहते हैं वह प्रत्यक्ष और परोक्ष में समान ही होता है। [इसीलिए उनका चरित्र सर्वोत्कृष्ट है।]

संस्कृत-व्याख्या

वनदेवतायाः सरसां तथ्यां पथ्याञ्च वाङ्माधुरीं निपीय तापसी सहर्षमाह:—प्रियेति।

वृत्तिः=व्यवहृतिः, प्रियप्राया=अतिशयप्रीतिकारी। वाचि=वाण्याम् विनयमधुरः=विनयेन मनोहरः, नियमः। मतिः प्रकृत्या स्वभावेन, कल्याणी=मङ्गलमयी। परिचयः=संस्तवः, अनवगीतः=अनिन्दितः। इदम्=उक्तस्वरूपम्, पुरो वा पश्चाद् वा= (१) सङ्गमात्पूर्वं सङ्गमाऽनन्तरं वा (२) समक्षे परोक्षे वा, अविपर्यासितरसम्=समानरूपम्, साधूनाम्=महात्मनाम्, अनुपधि=अकैतवम् विशुद्धम्=पावनम् रहस्यं विजयते=विजयि भवति।

साधूनां किमपि परम-विशुद्धरहस्यं सर्वदा विजयि भवति। साधवः सर्वेस्साकं सदाचार-परिशीलितां वृत्तिमेव स्वीकुर्वन्ति; तेषां व्यवहारः प्रियः, वाण्यामतीव विनयो माधुर्यञ्च सदैव वर्तते; तेषां स्वभावेनैव मतिः कल्याणकारिणी भवति; परिचयोऽपि निन्दितो न भवति; सम्मुखे परोक्षे वा "तत्" "इदम्" वा, इति विपर्ययो न भवति; यत्किमपि ते वक्तुमिच्छन्ति तत्सर्वदा समानरूपमेव सम्पद्यते। अतएव सज्जनानां परमपवित्रमिदं रहस्यं विजयते। अन्येषां लौकिकानां जनानां व्यवहार ईदृशो न भवति। तेषां व्यवहारे सारल्यं विनयो वा प्रायो न दृश्यते। अतएव सर्वोत्कर्षेण साधुजनानां रहस्यं विशेषरूपेण जयतीति भावः। अत्र अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कारः। "व्यतिरेक" श्च। शिखरिणीच्छन्दः। लक्षणं तूक्तं प्राक्। पद्यमिदमनवद्यम् वितरति महाजनोचितां परमपावनीम् शिक्षाम्। अत्रापि कविहृदयं पवनजलेन सञ्चालित—वीचिजालं सर इव समुच्छलति ॥२॥

टिप्पणी

(१) प्रकृत्या कल्याणी मतिः—"प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्"—इस नियम से तृतीया। (२) पुरोवा पश्चाद्वा"—इसके दो अर्थ किए जा सकते हैं १, सङ्गम

से पहले अथवा बाद में २, सामने अथवा पीछे। (३) **तदिदमविपर्यासितरसम्**—इसका भी दो प्रकार से अर्थ किया जा सकता है। एक अर्थ में 'तदिदम्' रहस्य-का विशेषण होगा जिसका भाव होगा—"ऐसा (उक्तस्वरूप) यह साधुओं का रहस्य विजयी होता है।" द्वितीय अर्थ में "तत्" 'इदम्" का विशेषण होगा "अविपर्यासितरसम्" जिसका भाव होगा "(साधुओं का) 'तत्' और 'इदम्' सदा एकसा ही रहता है। भाव यह है कि वे सामने और पीछे यथार्थ बात ही कहते हैं।" इस पक्ष में, 'तदिदमविपर्यासितरसम्' पृथक् ही वाक्य होगा और चतुर्थ चरण पृथक्। (४) **अविपर्यासितरसम्**—इसके भी दो अर्थ सम्भव हैं—(२.) अनुलङ्घितानुरागम् (२.) एकरसम्। यह पद 'रहस्यं' और 'तदिदम्'—दोनों का विशेषण हो सकता है। विपर्यासः सञ्जातोऽस्येति विपर्यासितः तदस्य सञ्जातं "तारकादिभ्य इतच्" (पा० ५।२।३६) इतीतच्प्रत्ययः। विपर्यास+इतच्। न विपर्यासित इत्यविपर्यासितो (नञ्) रसो यस्य तदविपर्यातिरसम्। विपर्यासः=व्यत्यासः। "स्याद् व्यत्यासो विपर्यासो व्यत्ययश्च विपर्यये"—इत्यमरः। (५) **विजयते**—"विपराभ्यां जेः" (पा १।३।१९) इति विपूर्वकाज्जेरात्मनेपदत्त्वम्। (६) **अलङ्कार**—अप्रस्तुतप्रशंसा, काव्यलिङ्ग तथा व्यतिरेक। (७) तुलना कीजियेः—

> "वदनं प्रसादसदनं, सदयं हृदयं, सुधामुचो वाचः।
> करणं परोपकरणं, येषां केषां न ते वन्द्याः ?"

(उपविशतः)

वनदेवता—कां पुनरत्रभवतीमवगच्छामि ?

तापसी—आत्रेय्यस्मि।

वनदेवता—आर्ये आत्रेयि ! कुतः पुनरिहागम्यते ? किं प्रयोजनो दण्डकारण्योपवनप्रचारः ?

आत्रेयी—

> अस्मिन्नगस्त्यप्रमुखाः प्रदेशे, भूयांस उद्गीथविदो वसन्ति।
> तेभ्योऽधिगन्तुं निगमान्तविद्यां, वाल्मीकिपार्श्वादिह पर्यटामि ॥३॥

अन्वयः—अस्मिन् प्रदेशे अगस्त्यप्रमुखाः भूयांसः उद्गीथविदः वसन्तिः तेभ्यः निगमान्तविद्याम् अधिगन्तुम् इह वाल्मीकिपार्श्वात् पर्यटामि ॥३॥

वनदेवता—यदा तावदन्येऽपि मुनयस्तमेव हि पुराणब्रह्मवादिनं प्राचेतसमृषिं ब्रह्मपारायणायोपासते, तत्कोऽयमार्यायाः प्रवासः ?

आत्रेयी—तस्मिन् हि महानध्ययनप्रत्यूह इत्येष दीर्घप्रवासोऽङ्गीकृतः।

वनदेवता—कीदृशः ?

आत्रेयी—तत्रभगवतः केनापि देवताविशेषेण सर्वप्रकाराद्भुतं स्तन्यत्यागमात्रके वयसि वर्तमानं दारकद्वयमुपनीतम्। तत्खलु न केवलं तस्य, अपि तु तिरश्चामप्यन्तःकरणानि तत्त्वान्युपस्नेहयति।

वनदेवता—अपि तयोर्नामसंज्ञानमस्ति ?

आत्रेयी—तयैव किल देवतया तयोः कुशलवाविति नामनी च प्रभाव श्चो ख्यातः।

वनदेवता—कीदृशः प्रभावः ?

आत्रेयी—तयोः किल सरहस्यानि जृम्भकास्त्राणि जन्मसिद्धानीति।

वनदेवता—अहो नु भोश्चित्रमेतत्।

आत्रेयी—तौ च भगवता वाल्मीकिना धात्रीकर्मतः परिगृह्य पोषितौ रक्षितौ च। निर्वृत्तचौलकर्मणोस्तयोस्त्रयीवर्जमितरास्तिस्रो विद्याः सावधानेन परिनिष्ठापिताः। तदनन्तरं भगवतैकादशे वर्षे क्षात्रेण कल्पेनोपनीय त्रयीविद्यामध्यापितौ। न त्वेताभ्यामतिदीप्तिप्रज्ञाभ्यामस्मदादेः सहाध्ययनयोगोऽस्ति। यतः—

हिन्दी—

[दोनों बैठ जाती हैं।]

वनदेवता—सम्माननीया आपको मैं कौन समझूं ? (आप कौन हैं ? आपका परिचय ?)

तापसी—मैं आत्रेयी हूं। (मेरा नाम आत्रेयी है।)

वनदेवता—आर्ये ! आत्रेयि ? अब आप कहां से पधार रही हैं तथा आपके दण्डकवन में घूमने का क्या प्रयोजन है ?

आत्रेयी—[श्लोक ३] इस प्रदेश में 'अगस्त्य'—प्रभृति अनेक ब्रह्मवेत्ता (उद्गीथविद्) ऋषि कहते हैं। उनसे वेदान्त विद्या प्राप्त करने के लिए (पढ़ने के लिए) मैं वाल्मीकिजी के पास से यहां आ रही हूं।

वनदेवता—जबकि और मुनिगण भी वेदाध्ययन करने के लिए उन्हीं पुरातन

ब्रह्मवादी वाल्मीकि जी की सेवा करते हैं तब आप क्यों दूसरे-दूसरे स्थानों पर (वेदान्तविद्या की खोज में) घूम रही हैं ? (बड़े-बड़े मुनि भी जिनके पास वेदाध्ययन करने के लिए जाते हैं, आप उन्हीं वाल्मीकि जी के पास वेदान्तविद्या न पढ़कर इधर-उधर दूसरे गुरुओं की खोज में घूम रही हैं। बड़ा आश्चर्य है !) इसका क्या कारण है ?

आत्रेयी—वाल्मीकि जी के यहां अध्ययन में बड़ा विघ्न उपस्थित हो गया है; इसलिए मैंने इस लम्बे प्रवास को अपनाया है।

वनदेवता—कैसा (विघ्न) ?

आत्रेयी—वहां भगवान् वाल्मीकि को किसी देवता ने सर्वात्मना आश्चर्यकारी दुधमुहे बच्चों का एक जोड़ा समर्पित किया है। वह (जोड़ा) न केवल महर्षि के ही अपितु पशु-पक्षियों के हृदय में भी स्नेह उत्पन्न कर देता है।

वनदेवता—क्या (आपको) उनके नाम का पता है ?

आत्रेयी—(बच्चों को देने वाले) उसी देवता ने उन दोनों के 'कुश' और 'लव' ये नाम तथा प्रभाव बतलाया है।

वनदेवता—कैसा प्रभाव ?

आत्रेयी—(यह कि) उनको (प्रयोग तथा संहार—शान्त करने के) रहस्य से युक्त 'जृम्भकास्त्र' जन्मसिद्ध हैं।

वनदेवता—भगवान् वाल्मीकि ने धात्री-कर्म से लेकर (सब प्रकार की सेवा करके) उनका पालन-पोषण किया है। मुण्डन होने के अनन्तर (उन्होंने) उनको वेद छोड़कर शेष तीन विद्याएं बड़ी सावधानता-पूर्वक पढ़ाई। तदनन्तर महर्षि जी ने ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय विधि से यज्ञोपवीत-संस्कार कर उनको वेदाध्ययन भी कराया। प्रखर प्रतिभाशाली उन दोनों के साथ हम जैसों का अध्ययन करना सम्भव नहीं है। क्योंकि—

संस्कृत-व्याख्या

परस्परपरिचयप्रदानेन दण्डकारण्यप्रवेशः किम्प्रयोजनः ?—इति पृच्छन्तीं वनदेवीं प्रति समाधत्ते आत्रेयी—अस्मिन्निति।

अस्मिन् प्रदेशे=दण्डकारण्ये, अगस्त्यप्रमुखाः—अगस्त्यप्रभृतयः, भूयांसः=बहवः, उद्गीथविदः=उद्गीथवेत्तारः, वसन्ति=निवसन्ति। तेभ्यः=अगस्त्यादिभ्यः, निगमान्तविद्याम्=वेदान्तविद्याम्, अधिगन्तुम्=ज्ञातुं, पठितुम् प्राप्तुम् वा, इह=अत्र, वाल्मीकिपार्श्वात्=वाल्मीकिसमीपात्, पर्यटामि=भ्रमामि। वेदान्तशास्त्रे 'उद्गीथ'—शब्देन 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' इति छान्दोग्योपनिषत्, सर्वस्मिन्नपि ब्रह्माण्डे सगुणोपासनया 'एकत्वमनुपश्यतः' इति सिद्धान्तानुसारमेकं ब्रह्मतत्त्वं पश्यतां सतां कृते 'ओङ्कार'—पूजा उच्यते। सर्वमिदमोङ्कार एवेति 'समत्त्वं योग

उच्यते' इति गीतानुसारं ब्रह्मदर्शनं कुर्यात् साधकः इति शास्त्राणां हृदयम् । एषा विद्या च वेदान्तविद्या निगमान्तविद्या चोच्यते ।

"पुराकल्पे तु नारीणां, मौञ्जीबन्धनमिष्यते ।
अध्यापनं च वेदानां, सावित्रीवचनं तथा ॥"

इति यमस्मृत्या आत्रेय्याः निगमान्तविद्याधिकारः सर्वथा समुचितः । अत्रैवार्थे 'हारीतः' अपि स्वमतिं प्रकाशयन्ति—'द्विविधाः स्त्रियः—ब्रह्मवादिन्यः सद्यो वध्वश्च । तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनमग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भैक्ष्यचर्या" इति । 'तेभ्यः' इत्यत्र 'आख्यातोपयोगे' (पा० १।४।२९) इति नियमपूर्वकविद्यास्वीकारे पञ्चमी-विभक्तिर्भवति ॥३॥ 'ननु ब्रह्मणः=वेदस्य पारायणम्=अध्ययनं कर्तुं बहवो मुन-यस्तमेव प्राचेतसं वाल्मीकिमुपासते, पुनरत्रभवती कथमरण्यक्लेशं वहती" ति प्रश्नस्य समाधानं कर्तुमुस्थितमध्ययने प्रत्यूहम्—विघ्नं निरूपयति आत्रेयी—तत्रभगवत इति । महर्षेः हस्ते केनापि देवताविशेषेण बालकद्वयं न्यासीकृतम् । तच्च युगलं सर्वेषां चराचराणां मनांसि स्निग्धानि करोति स्वव्यापारेण । अत्र प्रतिमुखसन्धिः । आत्रेयी आह—तौ चेति । भगवता वाल्मीकिना तयोश्चूडाकर्म कृतम् । उपनयनात्पूर्वं वेदं विना सर्वा विद्या अध्यापिताः, उपनयनानन्तरञ्च वेदोऽपि । ताभ्यां दीप्तबुद्धिभ्यां सहास्मद्विधानामध्ययनं नैव सम्भवति–इति सारः । चूडाकर्मणो विधाने शास्त्रे नियमः परिकल्पितः—

"चूडाकर्म द्विजातीनां, सर्वेषामेव धर्मतः ।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥"

[मनुस्मृतौ]

विद्याश्चतुर्विधाः । तथा हि—

"आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीतिश्च शाश्वती ।
विद्या ह्येताश्चतस्रस्तु, लोकसंस्थितिहेतवः ।"

तत्र त्रयी–ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यास्त्रयो वेदाः । उपनयन–नियमोऽपि मनुना निरधारि । तथा हि—

"गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत, ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
गर्भादेकादशे राज्ञो, गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥" इति ॥

"त्रयीविद्यामध्यापितो"—इत्यत्र 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ–शब्दकर्माकर्मकाणा-मणि कर्त्ता स णौ"'इति द्वितीयाविभक्तिः । एतेन वाल्मीकिमहर्षेराश्रमे बालिकानां बालकैस्सहाध्ययन–व्यवस्था समासीदिति ज्ञायते ।

टिप्पणी

(१) कां पुनरत्रभवतीम्···—यह परिचय प्राप्त करने का बहुत ही सभ्य और शिष्ट ढङ्ग है । (२) आत्रेय्यस्मि—आत्रेयी का उत्तर भी विनम्रता से

युक्त है। वह अपना अधिक लम्बा परिचय परस्तुत न करके केवल नाम ही बताती है। आत्रेयी=अत्रेरपत्यं स्त्री आत्रेयी, 'इतश्चाऽनिञः' (पा० ४/१/१२२) इति ढक्: तदन्तात्" टिड्ढाणञ् · ' ·' (पा० ४/१/१५) इति ङीप् ।,(३) अगस्त्य प्रमुखा—प्रकृष्टं मुखं प्रमुखम् । अगस्त्यः प्रमुखो येषाम् अथवा अगस्त्यः प्रमुखो येषाम् ते। अगस्त्य मित्रावरुण के पुत्र थे जो वसिष्ठ के साथ ही एक कुम्भ से उत्पन्न हुए थे। (४) उद्गीथविदः—उद्गीथं विदन्ति जानन्ति इति उद्गीथविदः उद्गीथं+विद्+क्विप् । "उद्गीथ" शब्द का तात्पर्य है "ॐ" (ओंकार) जिसे प्रणव भी कहते हैं। ओङ्कार ब्रह्म का प्रतीक है जिसका सतत ध्यान करने से ब्रह्म की प्राप्ति की जा सकती है। "यह सारा संसार ओङ्कारमय है,'—ऐसा समझकर साधक उस परम-तत्त्व को प्राप्त करे—यही शास्त्रों का सार है। (५) तेभ्योऽधिगन्तुम्—जिससे नियमपूर्वक विद्या स्वीकार की जाय उस (आख्याता) में पञ्चमी होती है "आख्या-तोपयोगे" (पा० १। ४। २६) के अनुसार। (६) निगमान्तविद्याम्—वेदान्तविद्या को। 'निगम' शब्द का अर्थ है 'वेद'। नितरां गम्यते बुध्यते परमतत्त्वमनेनेति निगमः नि+√गम्+अप् करणे। अथवा निगच्छन्त्यनेनेति निगमच्छन्दः। वणिपथथः पुरं वेदो निगमाः" इत्यमरः। वेद 'मन्त्र' और 'ब्राह्मणों' का संकलन है। 'ब्रह्मणों' के अन्तिम भाग को 'आरण्यक' कहते हैं जिसमें प्रधान उपनिषद् समाविष्ट है। उपनिषदों में ब्रह्म-सम्बन्धी ज्ञान भरा पड़ा है। इन उपनिषदों में स्थित विद्या (विद्यते ज्ञायते इति विद्या √विद्+क्यप् भावे) वेदान्त या निगमान्त विद्याकहलाई जाती है। (७) तेभ्योऽधिगन्तु ं · · · पर्यटामि—आत्रेयी निगमान्तविद्या को प्राप्त करने की अधिकारिणी थी क्योंकि यमस्मृति की अनुमति हैः—एक शङ्का यहां हो सकती है कि पहले स्त्रियों को वेदाधिकार नहीं था फिर आत्रेयी कैसे इसकी अधिकारिणी हुई? इसका समाधान यह है कि पहले दो प्रकार की स्त्रियां होती थीं—१. गृहिणियाँ तथा २. ब्रह्मवादिनी। इनमें दूसरे प्रकार की स्त्रियों को वेदाधिकार था। हारीत इस विषय में लिखते हैं—'द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च; तत्र ब्रह्मवादिनी-नायुपनयनमग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भैक्ष्यचर्या।" अतएव, "सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्री शूद्रयोर्नेच्छन्ति" एवं "सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्री शूद्रो यदि जानीयाद् मृतः सोऽधो गच्छति" इत्यादि उक्तियां गृहिणियों के विषय में ही जाननीं चाहिएं ब्रह्मवादिनियों के विषय में नहीं। (८) पुराणब्रह्मवादिनम्—पुराणश्चासौ ब्रह्मवादी तम्। ब्रह्म वदतीति ब्रह्मवादिन्। देखिए श्वेताश्वतर० के ये शब्द—"ब्रह्म-वादिनो वदन्ति। किं कारणं ब्रह्म कुत: स्म जाता? जीवाम केन? क्व चसम्प्रतिष्ठाः?" (९) प्राचेतसम्—वाल्मीकि को। वाल्मीकि प्रचेतस् (वरुण) के दशम पुत्र थे। (१०) तत्खलु न केवलं तस्य · · ·—इसके स्थान पर यह पाठ अधिकतया उपलब्ध है—"तत् खलु न केवलमृषीणामपि तु चराचराणां भूतानामन्तराणि तत्त्वान्युपस्नेहयति।" (११) अपि तयो ' · ·—'नामसंज्ञानम्' के स्थान पर "नामसंविज्ञानतू" पाठा०।

(१२) **आख्यातः**—आ + √चक्ष (ख्या) + क्त कर्मणि । (१३) **धात्रीकर्मतः परिगृह्य** · · ·—१. धात्री का कार्य स्वीकार करके उनका पोषण किया है । २. धात्रीके कार्य से लेकर आचार्य के कार्य तक सभी कार्य करके पोषण किया है । पाठान्तर—"धात्रीकर्म्मवस्तुतः परिगृह्य ।"

(१४) **निवृत्तचौलकर्मणोः**—निवृत्तं चौलकर्म ययोः तयोः । जिनका चूडाकर्म (मुण्डन) हो गया है । इसके विषय में नियम है—(१५) **त्रयीवर्जमितरास्तित्रो विद्याः**—'यत्री का अर्थ है—ऋक्' साम और यजुर्वेद । "स्त्रियामृक् सामयजुषी इति वेदास्त्रयी"—इत्यमरः ।

'कामन्दक' के अनुसार अङ्ग और पुराण भी त्रयी में समाविष्ट हैं:—

"अङ्गानि वेदाश्चत्वारो, मीमांसा न्यायविस्तरः ।
धर्मशास्त्रं पुराणं च, त्रयीदं सर्वमुच्यते ।" (२/१३)

'त्रयी' के अतिरिक्त तीन विद्याएं हैं—१. आन्वीक्षिकी, २. वार्ता एवं दण्डनीति ।

"त्रयीवर्जमितरास्तिस्त्रः"—के स्थान पर केवल "त्रयीवर्जमितराः" पाठ भी है । इस पाठ के अनुसार तीन वेदों को छोड़कर शेष एकादश विद्याएं भी गृहीत हो सकती हैं । चतुर्दश विद्याएं प्रसिद्ध हैं ।

त्रयीवर्जम्=त्रयीं वर्जयित्वा । त्रयी + √वर्जि (चुरादि) + णमुल् भावे । "द्वितीयायां च" (पा० ३/४/५३)

(१६) **तदनन्तरं** · · · **अध्यापितौ**—पाठान्तर—"समनन्तरञ्च गर्भैकादशे वर्षे क्षात्रेण कल्पेनोपनीय तौ त्रयीविद्यामध्यापितौ ।"

'त्रयी विद्या' यज्ञोपवीत होने के अनन्तर ही शिष्य को गुरु के द्वारा दी जाती थी । क्षत्रिय का उपनयन गर्भ से ग्यारहवे वर्ष में किया जाने का विधान है :—

(१७) **एकादशे**—एकादशानां पूरणम् इति एकादशम्; तस्मिन् । एकादश + डट् । तस्य पूरणे डट्" (पा० ५/२/४८) । (१८) **अस्मदादेः**—वयम् (अर्थात् अहम्) आदिर्यस्य (जडसमूहस्य) शः अस्मदादिस्तस्य । (१९) **सहाध्ययनम्**—सह अध्ययनम् इति सहाध्ययनम् । 'सुप् सुपा' समासः । आत्रेयी के इस कथन से 'उस समय सहशिक्षा (Co-education) की व्यवस्था थी'—यह ज्ञात होता है ।

वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे,
न तु खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहन्ति वा ।
भवति हि पुनर्भूयान् भेदः फलं प्रति, तद्यथा,
प्रभवति शुचिर्बिम्बग्राहे मणिर्न मृदादयः ॥४॥

अन्वयः— गुरुः यथा प्राज्ञे तथैव जडे विद्यां वितरति; तयोर्ज्ञाने शक्तिं न तु करोति न वा अपहन्ति खलु। फलं प्रति पुनः भूयान् भेदः भवति। तद् यथा—शुचिः मणिः बिम्बग्राहे प्रभवति, मृदादयः न (प्रभवन्ति) अथवा मृदां चयः न प्रभवति ॥४॥
हिन्दी—

[श्लोक ४] गुरु जिस प्रकार बुद्धिमान् (छात्र) को विद्या प्रदान करता है उसी प्रकार मूर्ख को भी। वह न तो उन दोनों के ज्ञान में शक्ति (योग्यता) बढ़ाता है और न घटाता ही। परन्तु साथ-साथ पढ़ाये जाने पर भी परिणाम में बहुत भेद होता है। (कोई प्रथम, कुछ द्वितीय, अन्य तृतीय तथा दूसरे उससे भी आगे की (०) श्रेणी में आते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है (कि) निर्मल मणि ही प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में समर्थ होती है, मिट्टी आदि पदार्थ नहीं।

संस्कृत-व्याख्या

कथं नाध्ययनयोगः ? इत्यत्रोक्तोऽपि हेतुः प्रकारान्तरेण विन्यस्यते—वितरति इति।

अयमाशयः—गुरुर्यथा (येन प्रकारेण) प्राज्ञाय शिष्याय विद्यां ददाति तथैव-जडायापि, न च स तयोर्ज्ञाने शक्तिं वर्धयति न वा शक्ति-ह्रासं कस्यचित् करोति, किन्तु फलं प्रति बलीयन् भेदः स्फुटं प्रतीयते। एकस्मिन्नेव समये एकयैव शैल्या अध्यापितेषु छात्रेषु फलं प्रति वैषम्यं दृश्यते एव। तत्र केचित् प्रथमां श्रेणीं लभन्ते, केचन द्वितीयां केचन च तृतीयाम्। अपरे पुनः सर्वथैव स्वभाले वैफल्य-तिलकं संयोजयन्ति। अतः स्पष्टमिदम्—मृदां चयो विम्वग्रहणेऽसमर्थः, मणिस्तु शुचिः समर्थः। तस्मादत्र गुरुजनानां दोषो मनागपि नाशङ्कनीयः। छात्राणामपि विशिष्टो दोषो नास्ति। बुद्धिस्तु स्वकर्मफलानुसारं सर्वेषां यथायथं भिन्नैव भवति।

अत्र "उपमा" 'दृष्टान्तश्च' अलङ्कारौ। 'मृदादयः' इत्यत्र 'मृदां चयः' इति क्वचित् पाठः। प्रसादो गुणः। लाटी रीतिः। हरिणीच्छन्दः। तल्लक्षणम् यथा—
"रसयुगहयैर्न्सौम्रौस्लौगो यदा हरिणी तदा।" ॥४॥

टिप्पणी

(१) पाठान्तर—१. 'भवति हि' के स्थान पर 'भवति च'। २. 'मृदादयः के स्थान पर 'मृदां चयः'=मिट्टी का ढेर। (२) फलं प्रति—"अभितः–परितः–समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि" —इति द्वितीया। (३) प्रभवति शुचि—वस्तुतः पात्र के गुणवैशिष्ट्य से ही उसमें अन्य गुणों की संक्रान्ति हुआ करती है। इस विषय में रैवतक-वर्णन में आया हुआ महाकवि माघ का यह श्लोक द्रष्टव्य है:—

१. "फलद्भिरुष्णांशुकराभिमर्शात्,
काशानवं धाम पतङ्गकान्तैः।
शशंस यः पात्रगुणाद्गुणानां,
संक्रान्तिमाक्रान्तगुणातिरेकाम् ॥
(शिशुपाल०, ४।१६)

और भी भावसाम्य के लिये :—

२· "पात्रविशेषे न्यस्तं, गुणान्तरं व्रजति शिल्पमधातुः ।
पय इव समुद्रशुक्तौ, मुक्ताफलतां पयोदस्य ॥"
(मालविकाग्निमित्र, १।३)

३· 'क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति ।"
(रघुवंश, ३।२९)

४· "चीयते बालिशस्यापि, सत्क्षेत्रपतिता कृषिः ।
न शालेः स्तम्बकारिता, वप्तुर्गुणमपेक्षते ॥"
(मुद्राराक्षस, १।३)

वनदेवता—अयमध्ययनप्रत्यूहः ? दूसरा का विघ्न

आत्रेयी—अन्यश्च ।

वनदेवता—अथापरः कः ?

आत्रेयी—अथ स ब्रह्मर्षिरेकदा माध्यन्दिनसवनाय नदीं तमसामनुप्रपन्नः । तत्र युग्मचारिणोः क्रौञ्चयोरेकं व्याधेन वध्यमानं ददर्श । आकस्मिकप्रत्यवभासां देवीं वाचमनुष्टुभेन छन्दसा परिणतामभ्युदैरयत् ।

"मा निषाद ! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥५॥

हिन्दी—

वनदेवता—यही अध्ययन में विघ्न है ?

आत्रेयी—(नहीं) और (दूसरा) भी है ।

वनदेवता—वह और कौनसा है ?

आत्रेयी—(वह यह है कि—) एक दिन महर्षि मध्याह्नकालिक स्नान के लिये तमसा (नदी) पर गये । वहां उन्होंने परस्पर विहार करने वाले क्रौञ्च (नामक पक्षियों) के जोड़े में से एक को (किसी) व्याध के द्वारा मारे जाते हुए देखा । (इस करुण दृश्य को देखकर) उन्होंने सहसा प्रादुर्भूत "अनुष्टुप्" छन्दोबद्ध वाणी कही—

[श्लोक ५] अरे निषाद ! तू शाश्वत वर्षों (बहुत काल) तक स्थिति (शान्ति) मत प्राप्त कर, क्योंकि इस क्रौञ्च के जोड़े में से काम से मोहित एक (पक्षी) को तूने मार डाला है ॥५॥

संस्कृत-व्याख्या

विघ्नान्तरं प्रदर्शयति आत्रेयी— अथ स इति। एकदा भगवान् वाल्मीकिः मध्याह्नकालिकस्नानं [सवनं त्रिविधं—प्रातः, मध्याह्ने सायं च स्नानं कुर्वन्ति धर्मानुष्ठातारः] कर्त्तुं तमसायास्तीरे गतः तत्र क्रौञ्चयोर्युगले एकः सहचरः केनापि व्याधेन हतः। इदं करुणापूर्णदृश्यं दृष्ट्वा परिखिद्यतः ऋषेराननात्सहसैवानुष्टुप्-च्छन्दोमयी वाणी निर्गता। कीदृशी सा ? इत्याह—मा निषाद ! इति। [अयं श्लोको वाल्मीकि-रामायणस्य बालकाण्डे द्वितीयसर्गे १५ संख्याकः। ततश्चात्र नाटके ५ संख्यास्य नोचिता। अस्यार्थास्तु विद्वद्भिर्यथामति विविधाः कृताः। ते च स्वयं रामायणभाष्यादौ द्रष्टव्याः। प्रकृतोपयोपयर्थोऽत्र दीयते] तथा हि—भो निषाद !=व्याध ! तव सर्वदा प्रतिष्ठा मा भूत् यतस्त्वं काममोहितयस्याः सहचरं मारितवान् इति। अत्र करुणोरसः। शोकोऽत्र स्थायिभावः। क्रौञ्च आलम्बनविभावः। तत्-संहार उद्दीपनविभावः। वाल्मीकेराक्रोशः अनुभावः। निषादचिन्तादयो व्यभि-चारिणः।

टिप्पणी

(१) माध्यन्दिनसवनाय—मध्याह्नकालिक स्नान एवं सन्ध्या के लिये √सु +ल्युट् भावे समनम्। दिन में तीन सवन होते थे—१. प्रातः सवन, २. माध्यन्दिन सवन तथा ३. तृतीय सवन (सायतन सवन।) देखिए छान्दोग्य० और रामायण—

"ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातः सवनम्, रुद्राणां माध्यन्दिनं सवनमा-दित्यानाञ्च विश्वेषां देवानाञ्च तृतीयसवनम्। (छान्दोग्योप० २।२४।१)

"अभिपूज्य तदा हृष्टाः, सर्वे चक्रुर्यथाविधि।
प्रातःसवनपूर्वाणि, कर्माणि मुनिपुङ्गवाः॥
ऐन्द्रश्च विधिवद्दत्तो, राजा चाभिष्टुतोऽनघः।
माध्यन्दिनञ्च सवनं, प्रावर्त्तत यथाक्रमम्॥
तृतीयसवनं चैव, राज्ञोऽस्य सुमहात्मनः॥"

(रामायण, बालकाण्ड, १४।५।७)

(२) तमसाम् —तमसा एक नदी थी जो गङ्गा के समीप ही प्रवाहित होती थी।

"स मुहुर्त्तं गते तस्मिन्, देवलोकमुनिस्तदा।
जगाम तमसातीरं, जाह्नव्यास्त्वदूरतः॥"

(रामायण, बालकाण्ड, २।३)

(३) आकस्मिकप्रत्यवभासाम्—आकस्मिकः प्रत्यवभासः यस्यास्ताम्। जो सहसा प्रकाशित हुई है। कहीं 'वाचम्' के आगे 'अव्यतिकीर्णवर्णाम्, पाठ और प्राप्त होता है जिसका अर्थ है 'स्पष्टाक्षर वाली (वाणी) को'। प्रति+अव+√भास+घञ् भावे=प्रत्यवभासः। (४)मा अगमः—श्लोक में 'मा अगमः' यह

आर्ष प्रयोग है। व्याकरण के 'न माङ्योगे' (पा० ६।४।७४) नियमानुसार 'माङ्' के योग में 'अट्' का आगम नहीं हो सकता। अतः 'मा गमः' शुद्ध प्रयोग है। यदि 'माङ्' के स्थान पर 'मा' मानकर अडागम का समर्थन करने की चेष्टा की जाय तो भी छुटकारा नहीं मिल सकता क्योंकि 'माङि लुङ्' नियम के अनुसार 'माङ्' के सिवा लुङ् लकार हो ही नहीं सकता। अतः इसे आर्ष प्रयोग ही मानना उचित होगा। वैसे वीर राघव ने ,त्वमगमः' में से 'तु+अम+गमः' ये तीन पद निकाले हैं। ऐसी अवस्था में उपर्युक्त शङ्का नहीं रहती किन्तु 'अम' का "न विद्यते मा लक्ष्मीर्यस्य सः अमः तस्य सम्बुद्धौ" 'हे अम्'—यह अर्थ क्लिष्ट कल्पना सा ही जान पड़ता है। अस्तु। (५) शाश्वतीसमा—'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (पा० २।३।५) इस नियम से द्वितीया। (६) मा निषाद ·· काममोहितम्—इस पद्य के तीन प्रकार से व्याख्याकारों ने अर्थ किये हैं—१. निषाद के पक्ष में, २. राम के पक्ष में एवं ३. रावण के पक्ष में। निषादपक्षीय अर्थ ऊपर लिखा जा चुका है। श्री राम के पक्ष में व्याख्या यह होगी—'मा लक्ष्मीर्निषीदति अस्मिन्निति मानिषादः। तत्सम्बुद्धौ हे मानिषाद !=हे राम ! (रामस्य विष्णुत्वात् सीतायाश्च लक्ष्म्यशत्वात्) त्व शाश्वतीः समाः=निरन्तरान् वत्सरान्, प्रतिष्ठाम् अगमः=प्राप्तवान् असि। यत्=यस्मात् क्रौञ्च-मिथुनात् वालितारयोः रावणमन्दोन्दर्योर्वा यन्मिथुनं तस्मात् एकं काममोहितम्=कामतः भ्रातृपत्न्यां तारायां रममाणं वालिनं, सीतायामासक्तचित्तं रावणं च, अवधीः=हतवान्। रावण के पक्ष में यह अर्थ होगा—"नितरां सादयति=पीडयति इति निषादः=रावणः तत्सम्बुद्धौ निषाद=रावण ! यत्=यस्मात् क्रौञ्चमिथुनात्=(अल्पीभावार्थक्रुञ्चेः पचाद्यच्। क्रुञ्चम्। ततः स्वार्थिकोऽण्। क्रौञ्चम्) राजक्षयव-नवासादिदुःखादत्यल्पीभूतं यन्मिथुनं सीतारामरूपं तस्मादेकं सीतारूतं यस्मादवधीः वधादभ्यधिकपीडां प्रापितवानसि तस्मात्त्वं प्रतिष्ठां···अतः परं मा गमः।" यद्यपि ये अर्थ पूर्णतः तीनों पक्षों में लग जाते हैं तथापि यहि अधिक ठीक जंचता है कि मूलतः इस श्लोक का सम्वन्ध निषाद से ही है क्योंकि इस श्लोक में वाल्मीकि का ही शोक बीजरूप से प्रतिष्ठित है। देखिये—रामयण, रघुवंश एवं ध्वन्यालोकः—

१. 'पादवद्धोऽक्षरसमस्तन्त्रीलयसमन्वितः।
शोकार्त्तस्य प्रवृत्तो मे, श्लोको भवतु नान्यथा॥

× × ×

समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः, पादैर्गीतो महर्षिणा।
सोऽनुव्याहरणाद्भूयः, शोकः श्लोकत्वमागतः॥
तस्य बुद्धिरियं जाता, महर्षेर्भावितात्मनः।
कृत्स्नं रामायणं काव्यमीदृशैः करवाण्यहम्॥"

(बालकाण्ड, २।१८, ४०-४१)

२. "निषादविद्धाण्डजदर्शनेन,
श्लोकत्त्वमापद्यत यस्य शोकः ।।
(रघुवंश, १४।७०)

३. "काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः, शोकः श्लोकत्त्वमागतः ।।

विविधविशिष्टवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुणः काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः सन्निहितसहचरीविरहकातरक्रौञ्चाक्रन्दजनितः शोकः एव श्लोकतया परिणतः ।"
(ध्वन्या०, १।५)

वनदेवता—चित्रम् । आम्नायादन्यत्र नूतनश्छन्दसामवतारः ।

आत्रेयी—तेन हि पुनः समयेन तं भगवन्तमाविर्भूतशब्दब्रह्मप्रकाशमृषिमुपसंगम्य भगवान् भूतभावनः पद्मयोनिरवोचत्—"ऋषे ! प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि । तद्ब्रूहि रामचरितम् अव्याहतज्योतिरार्षं ते चक्षुः प्रतिभातु । आद्यः कविरसि" इत्युक्त्वान्तर्हितः । अथ स भगवान् प्राचेतसः प्रथमं मनुष्येषु शब्दब्रह्मणस्तादृशं विवर्तमितिहासं रामायणं प्रणिनाय ।

वनदेवता—हन्त, तर्हि पण्डितः संसारः ।

आत्रेयी—तस्मादेव हि ब्रवीमि 'तत्र महानध्ययनप्रत्यूह' इति ।

वनदेवता—युज्यते ।

आत्रेयी—विश्रान्तास्मि भद्रे ! संप्रत्यगस्त्याश्रमस्य पन्थानं ब्रूहि ।

वनदेवता—इतः पञ्चवटीमनुप्रविश्य गम्यतामनेन गोदावरीतीरेण ।

आत्रेयी—(सास्रम् ।) अप्येतत्तपोवनम् ? अप्येषा पञ्चवटी ? अपि सरिदियं गोदावरी ? अप्ययं गिरिः प्रस्रवणः ? जनस्थानवनदेवता त्वं वासन्ती ?

वनदेवता—तथैव तत्सर्वम् ।

आत्रेयी—हा वत्से जानकि !

स एष ते वल्लभबन्धुवर्गः, प्रासङ्गिकीनां विषयः कथानाम् ।
त्वां नामशेषामपि दृश्यमानः, प्रत्यक्षदृष्टामिव नः करोति ॥६॥

अन्वयः—प्रासङ्गिकीनां कथानां विषयः दृश्यमानः सः एष ते वल्लभबन्धुवर्गः नामशेषाम् अपि त्वाम् नः प्रत्यक्षदृष्टाम् इव करोति ॥६॥

हिन्दी—

वनदेवता—आश्चर्य है ! वेद से अतिरिक्त (लोक में) भी छन्दों का नया प्रादुर्भाव !

आत्रेयी—उस समय, भगवान् वाल्मीकि, जिनके (अन्तःकरण में) शब्द रूप ब्रह्म का प्रकाश आविर्भूत हो चुका था—के पास आकर समस्त संसार के उत्पादक ब्रह्माजी ने कहा "ऋषे ! तुम शब्दस्वरूप ब्रह्म में प्रबुद्ध हो गये हो, अतः रामचरित्र को कहो (लिखो—वर्णन करो) । अप्रतिहत प्रकाश वाला आर्ष ज्ञान तुम्हारे अन्तः करण में) सदा प्रकाशित हो ! तुम 'आदिकवि' हो ।" यह कहकर वह अन्तर्धान हो गए । तदनन्तर भगवान् वाल्मीकि ने मनुष्यों में सर्वप्रथम शब्द-ब्रह्म के वैसे "विवर्त्त-रूप" रामायण (नामक) इतिहास का निर्माण किया । (इसलिये "रामायण' —रचना में संलग्न रहने के कारण आदि कवि के पास पढ़ाने के लिए समय ही नहीं है । अतः मैं इन दो कारणों से यहां चली आई हूं ।)

वनदेवता—वाह ! तब तो (सारा) समार (ही) पण्डित हो गया !

आत्रेयी—इसीलिए तो मैं कहती हूं कि वहां अध्ययन में बड़ा विघ्न है !

वनदेवता—ठीक है !

आत्रेयी—भद्रे ! मैं विश्राम कर चुकी हूं । (अतः) अब अगस्त्याश्रम का मार्ग बतलाओ ।

वनदेवता—यहां से पञ्चवटी में प्रवेश करके गोदावरी के इस किनारे-किनारे चली जाइये ।

आत्रेयी—(आंखों में आंसू भरकर) क्या यह (वही) तपोवन है ? क्या यह (वही) पञ्चवटी है ? क्या यह (वही) गोदावरी नदी है ? क्या यह प्रसवण पर्वत है ? क्या तुम (भी) जनस्थान वन की देवी वासन्ती हो ?

ववदेवता—यह सब कुछ वही है !

आत्रेयी—हा वत्से सीते !

[श्लोक ६]—प्रासङ्गिक बातचीत के विषय-भूत दिखाई देने वाले तुम्हारे ये प्रिय बन्धुगण (बन्धु-तुल्य, वृक्ष, पर्वत, नदी, पशु-पक्षी आदि) नामशेष (मृत) तुमको हमारे लिए प्रत्यक्ष-दृष्ट-सी कर रहे हैं । (यद्यपि तुम आज इस संसार में नहीं हो तथापि इन प्रदेशों का निरीक्षण करने से तुम्हारी सलौनी सूरत हमारी आंखों के सामने रहकर नाच उठती है ।)

संस्कृत-व्याख्या

आत्रेयीवचनं निशम्य साश्चर्यमाह वनदेवी—चित्रमिति । आश्चर्यम् ! आम्नायः—वेदः, आम्नायसमाम्नायशब्दौ वेदे प्रसिद्धौ । "श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायस्त्रयी" इत्यमरः । तस्मादन्यत्र लोके नूतन एवायं छन्दसाम्=अनुष्टुबादीनाम् अवतारः=समागमनम् । वेदे एव छन्दांस्यासन्, न तु लोके । लोके केवले गद्ये एव काव्यादिकं प्रचलति स्म । श्रीवाल्मीकेरारम्भादेवेयं प्रवृत्तिरभूदिति भावः । छन्दांसि द्विविधानि—वैदिकानि लौकिकानि च । वैदिकेषु वर्णानां परिगणनम्, लौकिकेषु च वर्णानां मात्राणाञ्च । वैदिकेऽनुष्टुप्छन्दसि चत्वारः पादाः प्रतिपादमष्टौ वर्णाः, मिलित्वा ३२ द्वात्रिंशदक्षराणि यथा—पुरुषसूक्ते "सहस्र शीर्षाः" इत्यादौ । लौकिके चापि तथैव । परं प्रतिपदं पञ्चमो वर्णो लघुः षष्ठश्च दीर्घः—इति नियमः । इति दिक् । कथा-क्रमं पुनरारभ्यात्रेयी ब्रूते—तेन हि इति । तदैव भगवन्तं वाल्मीकिं, आविर्भूतः प्रकटितः शब्दरूपब्रह्मणः प्रकाशो यस्मिन् (यस्य वा) तं, समुपेत्य भगवान् भूतानां=सर्वजगतां भावनः=समुत्पादकः, पद्ममेवयोनिः=उत्पत्ति-स्थानं यस्य सः, अवोचत्=अकथयत्—"ऋषे ! त्वं शब्दब्रह्मणि निष्णातः, अतो रामचरितं वर्णय । अव्याहतप्रकाशं च ते आर्षम्=ऋषिसम्बन्धि चक्षुः=ज्ञाननेत्रं प्रकाशितं भवतु । आदिकविस्त्वमेवासि"—इत्युक्त्वा प्रच्छन्नोऽभूत् । अनन्तरं च स एव भगवान् प्राचेतसः=वाल्मीकिः मनुष्येषु प्रथमावतीर्णं शब्दात्मक ब्रह्मणो विवर्त्तरूपमितिहासं "रामायणं"=रामस्य अयनं=स्थानं, प्रणिनाय=प्रणीतवान् । ततश्च —रामायणनिर्माणे संलग्नः सः महर्षिः । अध्यापनार्थं तस्य सविधे समय एव नास्ति —इति को लाभस्तत्रेति मत्वा स्मागतास्मीति भावः । "विवर्त्त"--पदेन कस्यचित्पदार्थस्य परिणामविशेष एव गृह्यते । परन्तु परिणाम—विवर्त्तयोर्भेदोऽस्ति । तथाहि—"प्रकृतिस्वरूपापरित्यागे सति रूपान्तरस्वीकारो विवर्त्तः" "प्रकृतिस्वरूपपरित्यागेन रूपान्तरस्वीकरणं परिणामः" इति । अतएव—"अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त्त इत्युदीरितः"—इति लक्षणम् । अत्रेदं रहस्यम्—वेदान्तसिद्धान्ते 'विवर्त्तवादो' मतः । तन्मते कारणान्येव कार्यरूपं धारयन्ति । "नामरूपे व्याकरवाणि" इति श्रुत्यनुसारं वस्तुतत्त्वमपरिहाय नाम-रूप-भेद एव भवति । अतएव ब्रह्मैव जगद्रूपेण परिणतम्, न तु वस्तुतो "जगत्'—संज्ञः कोऽप्यतिरिक्तः पदार्थः । यथा मृदेव घटरूपं धारयति । तत्र 'घटः' इति नाम वर्तुलाद्याकरश्चोभावपि मिथ्याभूतौ । तयोः परित्यागे मृदेवावशिष्येत । अयमस्ति विवर्त्तवादः । 'परिणामवादे' च—कारणं कार्ये विलीनं सत् स्वरूपं सर्वथा परित्यजति—इति संक्षेपः । "इतिहासः"—इति ह= इत्येवमेव=आस्ते सदैव वर्तते इति "इतिहासः" । पारम्पर्येण प्रचलिता वार्ता "इतिहासः" इत्युच्यते । इति+ह पूर्वकात्√"आस्" धातोर्घञ् प्रत्ययेन निष्पन्नोऽयं शब्दः । "शब्दब्रह्म"—इति । वैय्याकरणाः, मीमांसकाः साहित्यिकाश्च शब्दं नित्यं मन्यन्ते । नैयायिकाश्च अनित्यम् । वैय्याकरणानां मते च "शब्द—स्फोटः" एव ब्रह्म-

व्यापकं विद्यते। ततश्चरामायणनामकः कश्चिन्नवीनः पदार्थो नास्ति अपि तु सदातन इतिहास एव रामायणशब्दैविशेषरूपेण वर्त्तते—इति विवर्त्तभावं गमितः। एतेन वेदवद् रामायणस्यापि नित्यता। अतएव ब्रह्मणा आर्षम् ज्ञानं त्रिकालाबाधितम् ते प्रतिभातु—इत्याशीर्वादः प्रदत्तः। "ऋषिर्दर्शनात्" "ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो भवन्ति" इति भावः। आत्रेयी मुखाद्रामायण समाचारमाकर्ण्य सहर्षमाह वनदेवी—हन्त इति। "हन्ते" ति हर्षद्योतकमव्यय-पदम्। "हन्तहर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः"—इत्यमरः। तर्हि संसारः पण्डितो जातः सर्वोऽपि लोको रामायणं पठित्वा श्रुत्वा च राम-चरित्र-पाण्डित्यं लप्स्यते–इति भावः। वासन्त्याः वचनात् "पञ्चवटीय" मिति विदित्वा सकरुणं सीतां संस्मृत्य आह—स एष इति।

हा वत्से जानकि! तव प्रसङ्गे समागतानां कथानां विषयभूतोऽयम् तवातिप्रियो बन्धुवर्गः (अत्रत्या वृक्षाः, पर्वताः, सरितः, पशु-पक्षिणश्च सर्वेऽपि बान्धवा इवाभवन् दृश्यमानः सन् नामशेषां (विपन्नाम् ?) अपि प्रत्यक्षदृष्टामिवास्माकं करोति। यद्यपि मया सीतादेवी नैव दृष्टा, सा चेदानीमस्मिन् भुवो भागे न विद्यते तथाप्येतेषां स्थानादीनां दर्शनेन प्रत्यक्षदृष्टामिव तां मन्ये—इति भावः। क्वचित् "बन्धु"—इत्यस्य स्थाने "शाखी" ति पाठः। अत्र सीतायाः प्रत्यक्षवर्णनमिव कृतमिति "भाविकालङ्कारः"। तल्लक्षणं यथा—

"अद्भुतस्य पदार्थस्य, भूतस्याथ भविष्यतः।
यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं, तद्भाविकमुदाहृतम्॥" इति।

"इव"—पदोपपादनेन "उत्प्रेक्षा" च। इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोर्मिश्रणादुपजातिश्छन्दः। लक्षणञ्च— 'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ, पादौ यदीयावुपजातयस्ताः।" इति। प्रसादो गुणः। वैदर्भी रीतिः॥६॥

टिप्पणी

(१) आम्नायादन्यत्र नूतनश्छन्दसामवतारः—आम्नायते इति आम्नायः= वेदः। आ+√म्ना+घञ् कर्मणि। "श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायस्त्रयी धर्मस्तु तद्विधिः" इत्यमरः। अवतरत्यनेन इति अवतारः=अव+√तृ+घञ् करणे। छन्द दो प्रकार के हैं—वैदिक और लौकिक। वैदिक छन्द वर्णों की संख्या पर चलते हैं किन्तु लौकिक (वर्णिक और मात्रिक) छन्दों में लघु गुरु का विचार किया जाता है। उदाहरणार्थ—वैदिक "अनुष्टुप्" में चार चरण होते हैं जिनमें आठ–आठ अक्षर होते हैं—"द्वात्रिंशदक्षरानुष्टुप् चत्वारोऽष्टाक्षराः समा" (ऋ० प्रा० प० १६।३७) जैसे "सहस्रशीर्षा पुरुषः" आदि में। लौकिक "अनुष्टुप्" में भी यद्यपि आठ–आठ वर्णों से युक्त चार चरण होते हैं, परन्तु उसमें अन्तर यह है कि प्रत्येक चरण का पञ्चम वर्ण लघु और षष्ठ वर्ण दीर्घ होता है एवं द्वितीय–चतुर्थ चरण का सप्तम वर्ण लघु और प्रथम–तृतीय चरणों का दीर्घ होता है:—

"श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं, सर्वत्र लघु पञ्चमम् ।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं, सप्तमं दीर्घमन्ययोः ।।"

रामायण से पूर्व लौकिक छन्द में कविता नहीं थी । सर्वप्रथम क्रौञ्चद्वन्द्व-वियोगविक्लान्त महर्षि वाल्मीकि के अन्तस् से लौकिक छन्द में "मा निषाद" आदि कविता प्रस्फुटित हुई । अतएव वनदेवता ने साश्चर्य यह कहा है कि वेद से अन्यत्र (लोक में) भी छन्दों का प्रारम्भ हो गया । (२) तेन समयेन—"अपवर्गे तृतीया" (पा० २।३।६) इति तृतीया । (३)आविर्भूतशब्दब्रह्मप्रकाशम्—आविर्भूतः शब्दब्रह्मणः प्रकाशो यस्मिन् । वैयाकरणों के अनुसार शब्द ब्रह्मरूप है । अपि च–ब्रह्म का ज्ञान शब्दों के द्वारा ही हो सकता है । इसीलये दूसरे शब्दों में, अव्यक्त ब्रह्म के रूप हैं शब्द । उपनिषदों में, वेदों को ब्रह्म का "निःश्वसित" कहा गया है—

"अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो···"

(बृहदारण्यकोपनिषद्, २।४।१०)

वाक्यपदीय की पहली कारिका भी द्रष्टव्य है :—

"अनादिनिधनं ब्रह्म, शब्दत्वं यदक्षरम् ।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन, प्रक्रिया जगतो यतः ।।"

(४) भूतभावनः पद्मयोनि :—भावयति = जनयतीति भावनः । √भू + णिच् + ल्युट्, कर्त्तरि बाहुलकात् । भूतानां भावनः—इति भूतभावनः । संसारोत्पादक । पद्मं विष्णोर्नाभिपद्मं योनिर्यस्य सः पद्मयोनिः । ब्रह्मा । ब्रह्माजी की उत्पत्ति विष्णु के नाभिकमल से मानी जाती है । (५) वागात्मणि ब्रह्मणि—देखिए टिप्पणी संख्या ३ । (६) अव्याहतज्योतिरार्षम्—अव्याहतं ज्योतिर्यस्य तदव्याहतज्योतिः = अविघ्नित प्रकाश वाला । ऋषेरिदम् आर्षम् । ऋषि + अण् । (७) ते चक्षुः प्रतिभातु—इसके स्थान पर "ते प्रातिभं चक्षुः" और "ते प्रतिभाचक्षुः" भी पाठ हैं । प्रतिभाया इदं प्रातिभम् । प्रतिभा + अण् । प्रतिभैव चक्षुः प्रतिभाचक्षुः । नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं—"प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता ।" (क्षेमेन्द्र औचित्यविचारचर्चा, भट्टतौत के मत का उद्धरण) ध्वन्यालोकलोचन में अभिनवगुप्त ने "प्रतिभा" का लक्षण यह किया है:—"प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा ।" वस्तुतः महर्षि वाल्मीकि का प्रातिभ नेत्र खुल ही गया था; तभी तो उन्होंने अपूर्व रामचरित का प्रणयन किया । (८) तेन हि···अन्तर्हितः—यहाँ भवभूति ने रामायण का ही अनुसरण किया है । देखिये—

"रामस्य चरितं कृत्स्नं, कुरु त्वमृषिसत्तम !"

× × × (बालकाण्ड, २।३२)

वैदेह्याश्च यद्वृत्तं प्रकाशं यदि वा रहः ।

(बाल०, २।३४)

तच्चाप्यविदितं सर्वं, विदितं ते भविष्यति ।
न ते वागनृता काव्ये, काचिदत्र भविष्यति ।।

(बाल०, २।३५)

इत्युक्त्वा भगवान् ब्रह्मा, तत्रैवान्तरधीयत ।।

(बाल०, २।३८)

(६) शब्दब्रह्मणस्तादृशं विवर्त्तम्—विवर्त्तते विभिन्नरूपेण वर्त्तते अनेन इति विवर्त्तः । वि+√वृत्+घञ् करणे ।

"विवर्त्त" वेदान्तशास्त्र का एक शास्त्रीय शब्द (Technical Word) है । वेदान्ती कार्य-कारण के सम्बन्ध में 'विवर्त्तवाद' मानने हैं । उनके अनुसार—कारण ही कार्यरूप में परिणत हो जाता है; ये दोनों भिन्न नहीं हैं । इनमें केवल नाम और रूप का भेद है । इसलिए 'ब्रह्म' ही 'जगत्' रूप में परिवर्तित हो जाता है, 'जगत्'—नामक कोई नया पदार्थ नहीं है । मिट्टी ही घड़ा बन जाती है; घड़ा कोई अतिरिक्त वस्तु नहीं है । नाम और रूप का परित्याग करने पर मिट्टी ही शेष रह जाएगी । इसीलिए वेदान्तियों के मत में कार्य मिथ्या है और कारण सत्य । 'जगत्' मिथ्या है और 'ब्रह्म' सत्य । "परिणामवाद" भी यद्यपि "कारण के कार्यरूप में परिवर्तित होने" का समर्थन करता है, परन्तु परिणाम और विवर्त्त में भेद है । 'परिणाम' में कारण कार्य-रूप में विलीन होने पर अपने स्वरूप का सर्वथा परित्याग कर देता है परन्तु "विवर्त्त" में रूपान्तर स्वीकार कर लेने पर भी कारण का स्वभाव बना रहता है—"परिणामभावो नाम वस्तुनो यथार्थतः स्व-स्वरूपं परित्यज्य स्वरूपान्तर-प्रतिपत्तिर्यथा दुग्धमेव स्वरूपं परित्यज्य दध्याकारेण परिणमते । विवर्त्तभावस्तु वस्तुनः स्व-स्वरूपापरित्यागेन स्वरूपान्तरेण मिथ्याप्रतीतिर्यथा रज्जुः स्व-स्वरूपाप-रित्यागेन सर्पाकारेण मिथ्या प्रतिभासते ।"

"अवस्थान्तरतापत्तिरेकस्य परिणामिता ।
स्यात्क्षीरं दधि मृत्कुम्भः, सुवर्णं कुण्डलं यथा ।।
अवस्थान्तरभानं तु, विवर्त्तो रज्जुसर्पवत् ।
निरंशेऽप्यस्त्यसौ व्योम्नि, तलमालिन्यकल्पनात् ।।
ततो निरंश आनन्दे, विवर्त्तो जगदिष्यताम् ।।"

(पञ्चदशी, १३, ८–१०)

कवि ने "विवर्त्त" का प्रयोग इसी नाटक के तृतीय अङ्क के ४७ वें श्लोक में भी किया है । किन्तु यहाँ इस शब्द का प्रयोग, श्री पी० वी० काणे के मत में, शास्त्रीय अर्थ में नहीं है अपितु साधारण अर्थ में है । उनका कथन है:—

'It seems to us that the author has not used the word विवर्त्त here in its technical sense. He wanted to show off his knowledge of the Vedanta philosophy and uses the word विवर्त्त because the word ब्रह्म has already been used. विवर्त्त here simply means a modification of words in the form of रामायण. The author, we think, has no intention to suggest that the रामायण is such an illusory appearance of the word principle as the serpent of the rope. It is not impossible, we must however say, to explain विवर्त्त even here in its technical sense.

P. V. Kane, Notes on uttarsamcharita (59)

(१०) इतिहासम्—इति ह आस बभूव इति यत्र उच्यते स इतिहासः पुरावृत्तम्। 'ऐसा हुआ'—यह जिस शास्त्र में बताया जाय—उसे इतिहास कहते हैं। इति ह+√आस्+घञ् अधिकरणे। "इतिहासः पुरावृत्तम्"—इत्यमरः। ('इति ह आसीद्यत्रेतीतिहासः। इतित्पेवमर्थे हः किलार्थे'—इति क्षीरस्वामी; 'इति ह इति पारम्पर्योपदेशेऽव्ययम्। तदास्ते अस्मिन्निति घञ्'—इति व्याख्यासुधा)। (११) हन्त! तर्हि पण्डितः संसारः—यहाँ 'हन्त' हर्षसूचक अव्यय है। "हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः"—इत्यमरः। 'पण्डितः' के स्थान पर 'मण्डितः' भी पाठ है जिसका अर्थ है कि रामायण से संसार सुशोभित हो गया है। (१२) पञ्चवटीम्—पञ्चानां वटानां समाहारः पञ्चवटी ताम्। "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च (पा० २।१।५१) इति समासस्तस्य "संख्यापूर्वो द्विगुः" (पा० २।१।५२) इति द्विगुसंज्ञा, "अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्ट-" इति वचनात् "द्विगोः" (पा० ४।१।२१) इति ङीप्।

(अ) "वल्लभबन्धुवर्गः"—वल्लभाश्च (तपोवन-पञ्चवटी-गोदावरी-प्रभृतयः) बन्धुश्च (वासन्ती) वल्लभबन्धवः। द्वन्द्व में यद्यपि 'अल्पाचतरम्' नियमानुसार 'बन्धु' शब्द पहले आना चाहिए था, तथापि कहीं-कहीं इस नियम का ध्यान नहीं रहता। यहाँ तक कि पाणिनि भी पूर्णतया इसका पालन नहीं कर सके यथा—"लक्षणहेत्वोः" आदि। वल्लभबन्धूनां वर्गः इति वल्लभबन्धुवर्गः। अथवा—बन्धूनां वर्गः बन्धुवर्गः। वल्लभो बन्धुवर्गः वल्लभबन्धुवर्गः। पञ्चवटी आदि प्रिय बन्धुगण। वृक्ष और पशु-पक्षियों को भी बन्धु कहा गया है। इसी लिए तो—

"यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि बान्धवो मे" ऐसी उक्ति है। (उत्त०, ३।६)।

'वल्लभबन्धुवर्गः' के स्थान पर 'वल्लभशाखिवर्गः' भी पाठ है जिसका अर्थ है प्रिय वृक्ष-समूह। वल्लभाश्च ते शाखिनश्च तेषां वर्गः।

(आ) प्रासङ्गिकीनाम्—प्र+√सञ्ज+भावे घञ्=प्रसङ्गः । प्रसङ्गे भवाः इति प्रासङ्गिक्यः तासाम् । प्रसङ्ग+ठञ् ।

(इ) प्रत्यक्षदृष्टाम्—अक्ष्णः प्रति इति प्रत्यक्षम् । प्रति+अक्षि+टच् समासान्त । अव्ययीभाव-समास "प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः" नियम से । प्रत्यक्षदृष्टाम्, 'सुप् सुपा' समास ।

वसन्ती—(सभयम् । स्वगतम्) कथं नामशेषेत्याह ? (प्रकाशम्) किमत्याहितं सीतादेव्याः ?

आत्रेयी—न केवलमत्याहितम्, सापवादमपि । (कर्णे) एवमिति ।

वासन्ती—अहह ! दारुणो दैवनिर्घातः । (इति मूर्च्छति ।)

आत्रेयी—भद्रे ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

वासन्ती—हा प्रियसखि ! ईदृशस्ते निर्माणभागः ? हा रामभद्र ! अथवा अलं त्वया । आर्ये आत्रेयि ! अथ तस्मादरण्यात्परित्यज्य निवृत्ते लक्ष्मणे सीतायाः किं वृत्तमिति काचिदस्ति प्रवृत्तिः ?

आत्रेयी—नहि नहि ।

वासन्ती—कष्टम् । आर्यारुन्धतीवसिष्ठाधिष्ठितेषु नः कुलेषु, जीवन्तीषु च वृद्धासु राज्ञीषु कथमिदं जातम् ?

आत्रेयी—ऋष्यशृङ्गसत्रे गुरुजनस्तदाऽऽसीत् । संप्रति परिसमाप्तं द्वादशवार्षिकं सत्रम् । ऋष्यशृङ्गेण च संपूज्य विसर्जिता गुरवः । ततो भगवत्यरुन्धती "नाहं वधूविरहितामयोध्यां गच्छामि" इत्याह । तदेव राममातृभिरनुमोदितम् । तदनुरोधाद्भगवतो वसिष्ठस्यापि श्रद्धा "वाल्मीकिवनं गत्वा वत्स्याम" इति ।

वासन्ती—अथ स रामभद्रः किमाचारः ?

आत्रेयी—तेन राज्ञा राजक्रतुरश्वमेधः प्रक्रान्तः ।

वासन्ती—अहह धिक् ! परिणीतमपि ?

आत्रेयी—शान्तम् नहि नहि ।

वासन्ती—का तर्हि यज्ञे सहधर्मचारिणी ?

आत्रेयी—हिरण्मयीसीताप्रतिकृतिर्गृहिणीकृता ।

वासन्ती—हन्त भोः !

वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि ।

लोकोत्तराणां चेतांसि; को नु विज्ञातुमर्हति ? ॥७॥

अन्वयः—लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति ? (तानि) वज्रादपि कठोराणि कुसुमादपि मृदूनि (भवन्ति)। यद्वा—लोकोत्तराणां चेतांसि वज्रादपि कठोराणि कुसुमादपि मृदूनि । को नु (तानि) विज्ञातुमर्हति ?

हिन्दी—

वासन्ती—(आशङ्कित होकर स्वयं ही) क्या "नामशेष" यह कह रही हैं ? (प्रकाश में) सीतादेवी पर क्या विपत्ति आ पड़ी ?

आत्रेयी—केवल विपत्ति ही नहीं, प्रत्युत लोकापवाद भी। (वह लोकापवाद से कलङ्कित होकर मरी हैं।)

(कान में) ऐसा-ऐसा ...... ।

वासन्ती—अहह ! (हाय !) दुर्दैव का (यह) बड़ा भारी आघात है !

[मूर्छित हो जाती है।]

आत्रेयी—कल्याणि ! धैर्य धारण करो ! धैर्य धारण करो ।

वासन्ती—हा प्रियसखि ! तुम्हारे जीवन का ऐसा (दुःखमय) अन्त हुआ ? (तुम्हारे भाग्य में यही बदा था ?) हा ! रामभद्र ! अथवा, (रहने दो !) तुम्हें उपालम्भ देने से क्या लाभ है ? आर्ये ! आत्रेयी ! तदनन्तर सीता जी को छोड़कर लक्ष्मण जी के लौट जाने पर उनका (सीता का) क्या हुआ ? क्या कुछ पता है ?

आत्रेयी—नहीं नहीं। (कुछ पता नहीं !)

वासन्ती—(ओह !) दुःख है ! आर्या अरुन्धती तथा वसिष्ठ जी से अधिष्ठित हमारे (रघुकुल में) और बूढ़ी रानियों के जीवित रहते हुए यह सब कुछ कैसे हो गया ?

आत्रेयी—गुरुजन तब "ऋष्यशृङ्ग" के यज्ञ में (सम्मिलित थे। (अतः उन पर दोष न लगाओ !) अब वह बारह वर्षों तक होने वाला यज्ञपूर्ण हो गया है और ऋष्यशृङ्ग ने गुरुजनों को आदरपूर्वक विदा कर दिया है। तब भगवती अरुन्धती ने—"मैं वधू (सीता) से रहित अयोध्या में नहीं जाऊंगी" यह कहा (यह निश्चय किया) और (कौशल्या आदि) राम-माताओं ने भी इसका ही समर्थन किया। उसके आग्रह से भगवान् वसिष्ठ को भी—"वाल्मीकि आश्रम में जाकर निवास करें"—यह इच्छा हुई।

वासन्ती—आजकल रामभद्र क्या कर रहे हैं ?

आत्रेयी—अब उन राजा (?) ने "अश्वमेध"—नामक राजयज्ञ आरम्भ किया है !

वासन्ती—अरे रे ! धिक्कार है ! विवाह भी कर लिया ? (क्योंकि बिना धर्मपत्नी के यज्ञादि कोई भी शुभकार्य सम्पन्न नहीं होते ।)

आत्रेयी—शान्त ! नहीं ! नहीं !

वासन्ती तब यज्ञ में सहधर्मिणी कौन है ?

आत्रेत्री—सुवर्णमयी "सीता-प्रतिमा" को पत्नी बनाया है ।

वासन्ती—ओह !

[श्लोक ७]—"वज्र से भी कठोर और कुसुम से भी सुकुमार लोकोत्तर (महापुरुषों) के हृदयों को कौन समझ सकता है ?"

संस्कृत-व्याख्या

"नामशेषा" मिति श्रवणेन भीतेव वासन्ती पृच्छति—किमिति । सीतादेव्या किमत्याहितम्=जीवितसंशयकरं वृत्तं संवृत्तम् ? "अत्याहितं महाभीतिः कर्म जीवानपेक्षि च"—इत्यमरः ।

आत्रेयी कथयति—न केवलमिति । न केवलमतिभयमेव, प्रत्युत निन्दासहितमपि । सीताया निन्दापि जाता । निन्दितं मरणमभूदिति कर्णे "एव" मिति कथयति । एतेन सीता-परित्यागो लोकापवादमूलः—इति सूचितम् ।

अत्यन्तकटुवचनं निशम्य वासन्ती प्राह—अहह इति । "अहह" इति दुःखातिशयेऽव्ययपदम् । हा ! दारुणः=अतिशयितकठोरो दैवस्य निर्घातः=आघातः । दुर्दैववशात् सीतादेव्या उपरि महानाघातः संजातः । इति स्मृत्वा मूर्च्छिताभवदिति ।

स्वर्णमयीं सीतां धर्मपत्नीं मत्वा रामभद्रोऽश्वमेधं प्रारभते—इति श्रुत्वा वासन्ती प्राह—वज्रादपीति ।

वस्तुतोऽलौकिकानां महापुरुषाणां हृदयानां विचारान् को वा विज्ञातुमर्हति ? तेषां हृदयानि सत्यवसरे वज्रादपि कठोराणि भवन्ति, कदाचिच्च प्रसूनेभ्योऽपि सुकुमाराणि सम्पद्यन्ते । सीतापरित्यागे कठोरतमं रामस्य हृदयं यज्ञसमये सीताप्रतिकृतिं परिकल्प्यातिशयसुकुमारतां प्रकटयति । अतः साधारणजनैर्दुर्विज्ञेयमेव रामहृदयमिति टिप्पणीनामवसर एव तत्र नास्तीति भावः ।

अत्र मृदु-कठोरयोरेकत्र वर्णनाद् "विषमालङ्कारः" । अप्रस्तुतप्रशंसा च ॥७॥

टिप्पणी

(१) किमत्याहितं सीतादेव्याः ?—आत्रेयी के द्वारा 'नामशेषाम्' इस शब्द को सुनकर वासन्ती शङ्कित होकर उससे पूछती है कि क्या सीता पर महाविपत्ति आ गयी है अर्थात् क्या वह मर गयी ?

"अत्याहितं महाभीति. कर्म जीवानपेक्षि च" इत्यमरः ।

अतिशयेन आहितम्=अत्याहितम् । अति+आ+√धा+क्त कर्मणि ।

(२) "निर्घातः"—निर्+हन्+घञ् भावे । 'दारुणो दैवनिर्घातः' का तात्पर्य है भयङ्कर धक्का । वैसे इस शब्द का अर्थ दो वायुओं का संघर्ष होता है:—

"वायुना निहतो वायुर्गगनाच्च पतत्यधः ।
प्रचण्डघोरनिर्घोषो, निर्घात इति बुध्यते ॥"

(३) कष्टम् ! आर्यारुन्धती · · · · पाठान्तर—१. आर्यारुन्धतीवसिष्ठाधिष्ठितेषु रघुकदम्बकेषु, २. आर्यारुन्धतीवसिष्ठाधिष्ठितेषु रघुकुलकदम्बकेषु ३. हा कष्टम् ! आर्यारुन्धतीवसिष्ठाधिष्ठवे रघुकुलगृहे जीवन्तीषु च प्रवृद्धासु राज्ञीषु (प्रवृद्धराज्ञीषु) । अर्थ सरल है । 'कदम्बक' शब्द श्रेष्ठता के अर्थ में 'कुञ्जर' आदि के समान अथवा समूह के अर्थ में प्रयुक्त होता है । वासन्ती का आशय यह है कि इन सबके रहते हुए यह सब कुछ हो कैसे गया ? कितनी स्वाभाविक मनोदशा का चित्रण है ! पहले तो गुरु वसिष्ठ के रहते हुए सीता का निर्वासन असम्भव था । इतने पर भी यदि वसिष्ठ जी वहां उस समय उपस्थित न हों—इसलिए सीता निकाली जा सकती थीं—यह सम्भव नहीं क्योंकि वहां बूढ़ी रानियां तो जीवित थीं ही जिनके लिए सीता आँखों का तारा थी । (देखिए—'प्रतनुविरलैः' · · · · उत्तर०, १।२०) यह क्योंकर हो गया ? बहुवचनों की ध्वनि दर्शनीय है ! (४) अथ स रामभद्रः किमाचारः ?—कः आचारः यस्य स किमाचारः । पाठान्तर, 'किमारम्भः,' कः आरम्भः (व्यापारः) यस्य सः । (५) राजक्रतुरश्वमेधः—क्रतूनां राजा राजक्रतुः । राजदन्तादित्वात्परनिपातः । अश्वः मेध्यते (हिंस्यते) यत्रेत्यश्वमेधः । पाठा०, 'तेन राज्ञा क्रतुरश्वमेधः' । अश्वमेध क्रतु प्राचीन काल में अपनी सार्वभौमिकता सिद्ध करने के लिये राजाओं द्वारा किया जाता था । क्रतु में, बलिदान आवश्यक है । अश्वमेध क्रतुमें, एक घोड़ा राजचिह्न से अलंकृत करके छोड़ दिया जाता था जिसके पीछे सेना चलती थी । जो भी राजा उस घोड़े को पकड़ता था उससे युद्ध होता था । यदि अश्वपक्षी राजा की विजय हो जाती थी तो फिर वह अश्व आगे चलता था । इस प्रकार पृथ्वी का परिभ्रमण करके घोड़ा लौट आता था । तब उसकी बलि दे दी जाती थी । देखिए विशदवर्णन के लिये रामायण बाल०, १२–१४ सर्ग । (६) परीणितमपि—परि+√नी+भावे क्त । अश्वमेध बिना पत्नी के कोई भी राजा नहीं कर सकता था । अतः वासन्ती को श्रीराम के द्वितीय विवाह की शङ्का हुई ! भारतीय संस्कृति की यह विशेषता है कि स्त्री-पुरुष दोनों को महत्ता प्रदान की गयी है । इसीलिये तो सभी धार्मिक कार्यों में पत्नी की उपस्थिति अपेक्षित है । तुलना कीजिए—

"यज्ञवाटं गताः सर्वे यथाशास्त्रं यथाविधि ।
श्रीमांश्च सह पत्नीभी राजा दीक्षामुपाविशत् ॥"

(रामा०, बाल० १३।४१)

(७) हिरण्मयी सीताप्रतिकृतिः—हिरण्यस्य विकार इति हिरण्मयः हिरण्य+मयट् । तस्य विकारः (पा० ४।३।१३४) इति मयट् । "दाण्डिनायन · · ·" (पा० ६।४।१७४) इति यलोपनिपातः । "टिड्ढाणञ् · · · ·" (पा० ४।१।१५) इतिस्त्रियां ङीप् । यहां श्रीराम के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है । यद्यपि उन्होंने सीताजी को लोकाराधन के लिये निष्कासित कर दिया था तथापि अब भी उनके हृदय में उनके प्रति अपार प्रेम है । इस समय लगभग बारह वर्ष हो गये हैं किन्तु उन्होंने दूसरा विवाह न करके सीता जी की सौवर्णी प्रतिमा बनाकर अपने एक पत्नीव्रत एवं लोकाराधन दोनों का परिचय दिया है । (८) वज्रादपि · · · · अर्हति ?—महाकवि भवभूति का यह श्लोक सहृदय-समाज में बहुत ही प्रसिद्ध है । इसमें कविवर ने लोकोत्तर महानुभावों के हृदय की अज्ञेयता सिद्ध की है । उनका हृदय कब कैसा हो जाता है । इसका किसी को पता नहीं । श्री रामचन्द्रजी का हृदय जहां सीतापरित्याग के समय अतिशय कठोर हो गया था वहां यज्ञ में सीता की प्रतिकृति से ही उसे सम्पन्न करना उनके हृदय की अलौकिक मृदुता को प्रकट करता है ।

तुलना कीजियेः—

"सम्पत्सु महतां चित्तं, भवत्युत्पलकोमलम् ।
आपत्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम् ॥" (भर्तृहरि)

पाठ०, "को नु विज्ञातुम्" के स्थान पर 'को हि विज्ञातुम्'

आत्रेयी—विसृष्टश्च वामदेवानुमन्त्रितो मेध्याश्वः । प्रक्लृप्ताश्च तस्य यथाशास्त्रं रक्षितारः । तेषामधिष्ठाता लक्ष्मणात्मजश्चन्द्रकेतुर्दत्तदिव्यास्त्रसंप्रदायश्चतुरङ्गसाधनान्वितोऽनुप्रहितः ।

वासन्ती—(सहर्षकौतुकास्रम् ।) कुमारलक्ष्मणस्यापि पुत्र इति मातः ! जीवामि ।

आत्रेयी—अत्रान्तरे ब्राह्मणेन मृतं पुत्रमुत्क्षिप्य राजद्वारे सोरस्ताडमब्रह्मण्यमुद्घोषितम् । ततो "न राजापचारमन्तरेण प्रजानामकालमृत्युः संचरती" त्यात्मदोषं निरूपयति करुणामये रामभद्रे सहसैवाशरीरिणी वागुदचरत्—

"शम्बूको नाम वृषलः, पृथिव्यां तप्यते तपः ।
शीर्षच्छेद्यः स ते राम ! तं हत्वा जीवय द्विजम्" ॥८॥

अन्वयः—शम्बूको नाम वृषलः पृथिव्यां तपः तप्यते । (हे) राम ! सः ते शीर्षच्छेद्यः । तं हत्वा द्विजं जीवय ॥८॥

इत्युपश्रुत्य कृपाणपाणिः पुष्पकमधिरुह्य सर्वा दिशो विदिशश्च शूद्रतापसान्वेषणाय जगत्पतिः सञ्चारं समारब्धवान् ।

वासन्ती—शम्बूको नामाधोमुखो धूमपः शूद्रोऽस्मिन्नेव जनस्थाने तपश्चरति । अपि नाम रामभद्रः पुनरिदं वनमलङ्कुर्यात् ?

आत्रेयी—भद्रे ! गम्यतेऽधुना ।

हिन्दी—

आत्रेयी—(उन्होंने) "वामदेव" ऋषि के द्वारा अभिमन्त्रित यज्ञ का घोड़ा छोड़ा है । शास्त्रनिर्दिष्ट प्रकार से उसके रक्षक भी नियुक्त किये हैं । और उन (रक्षकों) के अध्यक्ष लक्ष्मण-नन्दन 'चन्द्रकेतु' को दिव्यास्त्र देकर चतुरङ्गिणी सेना के साथ (मेध्याश्व के) पीछे भेजा है ।

वासन्ती—(हर्ष, कौतूहल और आंसुओं के साथ) कुमार लक्ष्मण के भी पुत्र है ? माता ! मैं तो इस वृत्तान्त के स्मरणमात्र से ही) प्रत्युज्जीवित सी हो गयी हूं । जो (लक्ष्मण कल यहां स्वयं कुमार थे आज वे भी पुत्रशाली हैं ! यह परम हर्ष का विषय !)

आत्रेयी—इसी बीच में (एक दिन) कोई ब्राह्मण राजदरबार में अपने मरे हुए पुत्र को रखकर छाती पीट-पीट कर "ब्राह्मणों पर विपत्ति है ?" इस प्रकार सकरुण श्रीरामचन्द्रजी के अपने दोषों की विवेचना करने पर सहसा ही (यह) आकाशवाणी हुई—

[श्लोक ८]—"राम ! पृथ्वी पर 'शम्बूक'—नामक शूद्र (घोर) तप कर रहा है । (अतः) आप उसका सिर काटकर इस ब्राह्मण-पुत्र को जिलाइये ।"

यह सुनकर जगदीश्वर श्रीरामचन्द्र जी ने हाथ में खड्ग ले 'पुष्पक-विमान' पर चढ़कर शूद्र-तपस्वी को खोजने के लिए दिशा और विदिशाओं (ईशान प्रभृति कोणों) में घूमना आरम्भ कर दिया ।

वासन्ती—अरे, (केवल) धुंआ पीकर ही (रहने वाला) शम्बूक-नामक शूद्र तो इसी जनस्थान में ही नीचे को मुंह लटकाए हुए (उग्र) तप कर रहा है ! क्या राम (यहां आकर पुनः इस वन को अलङ्कृत करेंगे ? [एक बार तो वे अपने वन-वास-काल में यहां रहे थे । क्या अब पुनः इस वन को अपने शुभागमन से पवित्र करेंगे ? यदि ऐसा है तो बहुत सुन्दर है ! उनके दर्शन का सौभाग्य मिलेगा ।]

आत्रेयी—भद्रे ! अब चलती हूं !

संस्कृत-व्याख्या

वामदेवनामकेन ऋषिणाऽनुमन्त्रितेन यज्ञीयाऽश्वेन सहितः शास्त्रानुसारं रक्षिभिर्युक्तः गज-रथ-अश्व-पदातिरूपया चतुरङ्गिण्या सेनया युक्तः प्राप्तदिव्यशास्त्रो

लक्ष्मणस्य पुत्रः सेनाधिष्ठाता-इति निशम्य सहर्षकौतुकास्त्रम् प्राह वासन्ती-कुमार इति

"लक्ष्मणस्यापि पुत्रः"—इति हर्षः, 'सेनापतिः"—इति कौतुकम्, "सीता सम्प्रति नास्ति"—इति अस्त्रम् । य एवात्र कुमार आसीत्, तस्यापि पुत्रः सञ्जात-इति स्मरणेनैव मातः—आत्रेयी ! जीवामि=पुनर्जीवनमिव संवृत्तम् । आत्रेय्या विद्यायांवयोवृद्धत्वात् "मातः" इति सम्बोधनमुचितम् । अथवा 'मातः' इति स्त्रीणामुक्तौ स्वभाव एवेति ।

"राज्ञोऽन्यायं विना प्रजाजनस्याकालमृत्युर्नैव भवती"ति स्वकीयं दोषं निरूपयति रामे देववाणी उदचरत्=उच्चारिताऽभूत् । कीदृशी सेत्याह—शम्बूक इति ।

शब्दार्थः—वृषलः=शूद्रः ।

[श्लोकः ७८]—शम्बूकाभिधानः शूद्रः पृथिव्यां तपः करोति । त्वं तस्य शिरः कर्त्तनं कृत्वा ब्राह्मणस्य बालमुज्जीवयेति । अस्य शिशोः प्राणप्राप्तेरयमेवाभ्युपाय इति सारः । शूद्रस्य सर्वेषां वर्णानां सेवावृत्तिस्तदा शास्त्रकारैर्निश्चिता । तां परित्यज्य तपःकरणाद् व्यवस्थाभङ्गो मृत्युमेव जनयति । ब्राह्मणाश्च धर्माचार्याः । अन्यायाचरणे तेषामेव पुत्रा म्रियन्ते-इति भावः ।

अत्रेदं परमतत्वम्—ब्राह्मणानां कृते धर्माचरणम्=यैरुपायैर्देशः सुखसमृद्धिशाली स्यात्तद्विभागो ब्राह्मणानाम्, रक्षा-विभागः=सेनादिविभागः क्षत्रियाणाम्, धनादिसंवर्धनात्मको व्यापारविभागो वैश्यानां, सेवा (Service) विभागः शूद्राणां च हस्ते समासीत् । परस्परकृता च सर्वेषां प्रीतिर्देशरक्षणार्थमासीत् । जाति-वंशकृतो द्वेषश्च नासीत् । तदा सर्वे लोकाः स्वकर्त्तव्यपालनतत्परा भूत्वा सर्वदा सुखिनः समभवन् । तां पद्धतिं परित्यज्य प्रतिदिशं क्लेशजातमेवाधुनाऽनुभवन्ति-इति विचारणीयो विषयः ॥८॥

शम्बूकवधोद्यतरामागमनोदन्तेन प्रसन्ना वासन्ती प्राह—शम्बूक इति । शम्बूकस्तु ननु अधोमुखः सन् धूम्रपस्तपति, अस्मिन्नेव जनस्थाने, किंस्विद् रामः पुनरपि शुभागमनेन वनमिदं कृतार्थयिष्यति ? तद्दर्शनेनात्मा सुखी भविष्यति-इति महान् हर्ष इति भावः ।

टिप्पणी

(१) वामदेवानुमन्त्रितः—वामदेव एक ऋषि थे। प्रायः इनके नाम का उल्लेख वसिष्ठजी के नाम के साथ होता है। वसिष्ठजी की अनुपस्थिति में रामचन्द्र जी ने इनकी देख-भाल में अश्वमेध का कार्य आरम्भ कर दिया था। (२) 'विसृष्टश्च···ऽनुग्रहितः।"—अश्वमेध में घोड़ा छोड़ने और उसके अनुगमन के शास्त्रीय विधान का उल्लेख तैत्तिरीय ब्राह्मण और शतपत ब्राह्मण में है जिसकी चर्चा यहाँ भवभूति ने की है :—

"देवा आशापाला एतं देवेभ्योऽश्वं गोपायतेत्याह शतं वै तल्प्या राजपुत्रा देवा आशापालाः ।" (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।८।९।४)

"तस्यैते पुरस्ताद्रक्षितार उपक्लृप्ता भवन्ति । राजपुत्राः कवचिनः शतं राजन्या निषङ्गिणः शतं सूतग्रामण्यां पुत्रा इषुवर्षिणः शतं क्षात्रसंगृहीतॄणां पुत्रा दण्डिनः शतमश्वशतं निरष्टं निरमणं यस्मिन्नेनमपिसृज्य रक्षन्ति ।" (शतपथ ब्राह्मण १३।४।२।५)

"अश्वमुत्सृज्य देवा आशापाला इति त्रिभ्यः परिददाति शतं कवचिनो रक्षन्त्यपर्यावर्त्तयन्तोऽश्वमनुचरन्ति ।" (आपस्तन्व श्रौतसूत्र)

"शतं कवचिनो रक्षन्ति यज्ञस्य संतत्या अव्यच्छेदाय ।"

(शतपथ ब्राह्मण, १३। । ।४)

(३) चतुरङ्गसाधनान्वितः—चत्वारि अङ्गानि यस्य तत् चतुरङ्गं, चतुरङ्गं च तत् साधनं च, तेन अन्वितः । चार अङ्ग ये हैं :—(१) हस्ति, (२) रथ, (३) अश्व तथा (४) पदाति । साधन=सेना । "साधनं मृतसंस्कारे सैन्ये सिद्धौषधे गतौ" इति मेदिनी । (४) "सोरस्ताडमब्रह्मण्यमुद्घोषितम्"—उरसः ताडः (ताडनम्) उरस्ताडः, उरस्ताडेन सह यथा स्यात्तथा सोरस्ताडम् । अव्ययीभाव । ब्रह्मणि वेदे साधु इति ब्रह्मण्यम् ब्रह्मद्+यत् । न ब्रह्मण्यम्=अब्रह्मण्यम् । वेदविरुद्धं हिंसेत्यर्थः (५) न राजापचारमन्तरेण——राज्ञः अपचारः राजापचारस्तमन्तरेण । अप+√चर+भावे घञ् अपचारः=दुर्वृत्त । "अन्तरान्तरेणयुक्ते" (पा० २।३।४) इति द्वितीया । (६)वृषलः—वृषल का अर्थ शूद्र है । "शूद्राश्चावरवर्णाश्च वृषलाश्च जघन्यजाः" इत्यमरः । (७) शीर्षच्छेद्यः—शीर्षच्छेदं नित्यमर्हतीति शीर्षच्छेद्यः "शीर्षच्छेदाद्यच्च" (पा० ५।१।६५)

प्राचीन धर्मशास्त्रों के अनुसार शूद्र का कार्य सेवा था । इसके अतिरिक्त वेदाध्ययन तपश्चर्या आदि उसके कर्त्तव्य नहीं थे । यदि वह अपना कार्य छोड़कर इन कार्यों को करता था तो वह दण्डनीय होता था ।

"विप्रसेवैव शूद्रस्य, विशिष्टं कर्म कीर्त्यते ।
यदतोऽन्यद्धि कुरुते, तद्भवत्यस्य निष्फलम् ।। (मनुस्मृति, १०।१२३)

(८) दिशो विदिशश्च—दिशाएं पूर्वादि । विदिशाएं–आग्नेयादि । दिशाओं के मध्य की दिशाएं 'विदिशा' कहलाती हैं । दिग्भ्यां विनिगर्ता विदिक् । "दिशोर्मध्ये विदिक् स्त्रियाम्" इत्यमरः । (९) धूमपः—जो धूएं को पीता हो । तुलना—

"तस्मिन् सरसि तप्यन्तं, तापसं सुमहत्तपः ।
ददर्श राघवः श्रीमांल्लम्बमानमधोमुखम् ।।' (रामा०, उत्तर०,७५।१४)

वासन्ती—आर्ये आत्रेयी ! एवमस्तु । कठोरश्च दिवसः ।

तथाहि—

कण्डूलद्विपगण्डपिण्डकषणोत्कम्पेन संपातिभि—
घर्मस्त्रंसितबन्धनैश्च कुसुमैरर्चन्ति गोदावरीम् ।
छायापस्किरमाणविष्किरमुखव्याकृष्टकीटत्वचः—
कूजत्क्लान्तकपोतकुक्कुटकुलाः कूले कुलायद्रुमाः ॥९॥

अन्वयः—कूले (गोदावर्याः) छायापस्किरमाणविष्किर-मुख-व्याकृष्ट-कीटत्वचः, कूजत्-क्लान्त-कपोत-कुक्कुट-कुलाः, कुलायद्रुमाः, कण्डूल-द्विप-गण्ड-पिण्ड-कषणोत्कम्पेन सम्पातिभिः, घर्मस्त्रंसित-बन्धनैः कुसुमैः गोदावरीम् अर्चन्ति ॥९॥

(इतिपरिक्रम्य निष्क्रान्ते ।)

इति शुद्धविष्कम्भकः ।

हिन्दी—

वासन्ती—आर्ये आत्रेयि ! ऐसा ही हो ! (बहुत अच्छा ! जाइए ! क्योंकि) दिन भी (सूर्य की प्रखर किरणों से) असह्य हो रहा है क्योंकि—

[श्लोक ९] गोदावरी के तट पर स्थित वृक्षों की छाया में बैठे हुए कुछ (कौए आदि जङ्गली) पक्षी अपनी चोंचों से वृक्षों की छाल कुरेद-कुरेद कर कीड़े निकाल कर खा रहे हैं । और (दूसरी ओर) गर्मी से व्याकुल घोंसलों में बैठे हुए कबूतर, मुर्गे आदि पक्षिगण कूजन कर रहे हैं । इन वृक्षों के तनों से जब जङ्गली हाथी (आ-आकर) खुजलाने के लिये अपने गण्डस्थलों को रगड़ते हैं तब उनकी रगड़ से (हिलने के कारण) धूप से मुरझाए हुए शिथिल बन्धनों वाले पुष्प (नीचे बहने वाली गोदावरी के जल में) (गिर चू) पड़ते हैं । (तब ऐसा प्रतीत होता है कि) मानों ये वृक्ष (इस प्रकार पुष्प चढ़ा कर) गोदावरी की अर्चना कर रहे हैं ।

[घूमकर चली जाती हैं]

शुद्ध विष्कम्भक ।

संस्कृत-व्याख्या

गन्तुमिच्छत्यात्रेयी कृतविश्रामा सती । दिनस्यातिदुःसहत्वं (सूर्यस्य प्रखर-किरणसन्तप्तत्वं) प्रदर्शयितुमाह वासन्ती—कण्डूलेति ।

कूले=गोदावर्यास्तटे छायायाम्=अनातपे, अपस्किरमाणाः—चञ्च्वा भूमिभागम् वृक्षांश्च (यथायथम्) परिस्खलन्तः, (किरतेर्हर्षजीविका-कुलायकरणेष्विति वाच्यम्" इत्यात्मनेपदत्वम्, "अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने" इति सुडागमः, स सुडपि च "सुडपि हर्षादिष्वेव वक्तव्यः" इत्युक्तेष्वर्थेष्वेव भवति ।) छायापस्किरमाणाश्च ते विष्किराः काकादयः पक्षिणः, तेषां मुखैः व्याकृष्टाः=विशेषरूपेणाकृष्टाः कीटा याभ्यस्तादृश्यस्त्वचो येषां ते (वृक्षाः), कूजत्क्लान्तकपोत-कुक्कुटकुलाः=कूजन्तः=मधुरं शब्दं कुर्वन्तः, क्लान्ताः = आतपखिन्नाः ये कपोताः कुक्कुटाश्च

तेषां कुलानि येषु ते (वृक्षाः), कुलायद्रुमाः=कुलायाः=नीडास्तैर्युक्ताः द्रुमाः=वृक्षाः, कण्डूलद्विपगण्डपिण्डकषणोत्कम्पेन कण्डूं = खजूं त लान्ति=आददते इति कण्डूलाः ये द्विपाः=द्वाभ्यां (मुखशुण्डाभ्यां) पिबन्ति इति द्विपाः=हस्तिनः, तेषां गण्डा एव पिण्डाः=समूहाः, तेषां कपोलभागानां कषणेन=घर्षणेन य उत्कम्पः=उत्कृष्टं कम्पनं तेन कृत्वा सम्पातिभिः=पतनशीलैः, घर्मेण=आतपेन स्रंसितानि=शिथिलानि बन्धनानि=वृन्तानि येषां तैः कुसुमैः=पुष्पैः, गोदावरीमर्चन्ति=पूजयन्ति (इव) इति।

अयमत्र सरलार्थः—गोदावर्या नद्यास्तटयोरुभयभागे बहवो वृक्षाः स्थिताः। तेषां कोटरेषु पक्षिभिः स्वकीयाः कुलायाः नीडः निर्मिताः। रविप्रतापस्य दुःसहत्त्वात् वायसादयः पक्षिणः छायायां स्वभावानुरूपं चञ्चुभिः किमपि खाद्यं गवेषयितुं पृथिवीं खनन्ति, वृक्षाणां त्वगभ्यश्चेतस्ततो विशेषरूपेण कीटानाकर्षन्ति, कपोताः कुक्कुटाः=ताम्रचूडाश्च कूजन्ति, अपि च—घर्मातिरेकात् पुष्पाणां बन्धनानि शिथिलतां भजमानानि सन्तिः आरण्यकाः गजाः समागत्येतस्तो गण्डस्य (कपोल) कण्डूतिं दूरीकर्त्तुं वृक्षान् संघर्षन्तिः, तेषामाघात-प्रत्याघतैः परिकम्पितेभ्यः पादपेभ्यः पुष्पाणि परिपतन्ति गोदावर्याः पयसि; ततः कविरत्रोत्प्रेक्षते—"एते वृक्षाः स्वकुसुमैर्मन्ये भगवतीं गोदारीं पूजयन्ती"ति।

अत्र निदाघकालस्य वर्णनं शोभनं कृतं कविना। यादृशस्तीव्रो निदाघः शब्दाः अपि तादृशा एव। "अपस्किरमाण"—"विष्किर"–प्रभृतश्च शब्दाः गम्भीरवैयाकरणत्वं द्योतयन्ति कवयितुः। ककार-लकार-प्रयोग-कुशलता चानुप्रास-कलाकोविदतामाकलयतीति कृतार्थना कवेः।

इवादिशब्दाभावात्—प्रतीयमानोत्प्रेक्षा । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः। तल्लक्षणं च—

"सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्" इति। ओजो गुणः। तल्लक्षणं यथा—

"ओजश्चित्तस्य विस्तार–रूपं दीप्तत्वमुच्यते" इति। डम्बर-बन्धात्मिका गौडी रीतिः ॥६॥

इत्येवं परिक्रम्य=इतस्ततः पादप्रक्षेपं कृत्वा उभे अपि=आत्रेयी–वासन्त्यौ निष्क्रान्ते=निर्गते।

शुद्धविष्कम्भकः—इति। अंकेष्वदर्शनीयाः पदार्थाः "अर्थोपक्षेपकैः" प्रदर्श्यन्ते। ते च अर्थमुपक्षिपन्तीति व्युत्पत्त्या सार्थकाः पञ्च भवन्ति। तथा हि—

"अर्थोपक्षेपकाः पञ्च, विष्कम्भकप्रवेशकौ।
चूलिकाऽङ्कावतारोऽथ, स्यादङ्कमुखमित्यपि॥" [सा० द०।६)

अत्रचायं विष्कम्भकः। लक्षणञ्चास्य—

"वृत्तवर्त्तिष्यमाणानां, कथांशानां निदर्शकः।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भः, आदावङ्कस्य दर्शितः॥"

स च द्विविधो भवति शुद्धः सङ्कीर्णश्च । तथा चोक्तम्—

"मध्येन मध्यमाभ्यां वा, पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः ।
शुद्धः स्यात्स तु संकीर्णो, नीचमध्यमकल्पितः ॥" इति ।

तथा चात्र आत्रेयी वासन्ती-रूप-संस्कृत-भाषि-पात्राभ्यां(मध्यमाभ्याम्)प्रयुज्य-मानत्वात् "शुद्धविष्कम्भकः" इति ।

तथा चात्र सीता-निर्वासन-कुसलवोत्पत्ति-प्रभृतीनां प्राग्गतानाम् शम्बूक-वधार्थं रामभद्रस्य पञ्चवटी-प्रवेशादि-भविष्यतां वृत्तानां वर्णन-सूचना-दानेन विष्कम्भकलक्षणं चरितार्थम् ।

टिप्पणी

(१) व्याकरण, शब्दार्थ तथा समास के लिये संस्कृत टीका देखिये ।

(२) शुद्धविष्कम्भकः—संस्कृत-नाटकों में अङ्कों में न दिखलाई जाने वाली घटनाएं "अर्थोपक्षेपकों" से सूचित की जाती है । कथा सूत्र से सम्बद्ध अर्थों का उपक्षेप कराने के कारण इनको "अर्थोपक्षेपक" कहते हैं । ये पांच होते हैं—

(१) विष्कम्भक, (२) प्रवेशक, (३) चूलिका, (४) अङ्कावतार एवं (५) अङ्कमुख । जैसा कि कहा है—

"अङ्केष्वदर्शनीया या, वक्तव्यैव च सम्मता ।
या च स्यात् वर्षपर्यन्तं, कथा दिनद्वयादिजा ॥
अन्या च विस्तरा सूच्या, सार्थोऽपक्षेपकैर्बुधैः ।
वर्षादूर्ध्वं तु यद्वस्तु तत्स्याद्वर्षादधोभवम् ॥
दिनावसाने कार्यं यद्, दिनेनैवोपपद्यते ।
अर्थोपक्षेपकैर्वाच्यमङ्कच्छेद्यं विधाय तत् ॥
अर्थोपक्षेपकाः पञ्च, विषकम्भकप्रवेशकौ ।
चूलिकाङ्कावतारोऽथ, स्यादङ्कमुखमित्यपि ॥"

(सा० द०, ६।३०८-११)

इन अर्थोपक्षेपकों में से यहां विष्कम्भक है । जो बीती हुई या आने वाली घटनाओं की संक्षेप में सूचना देता है उसे 'विष्कम्भक' कहते हैं । यह अङ्क के आदि में प्रयुक्त होता है । यह (१) शुद्ध और (२) संकीर्ण भेद से दो प्रकार का होता है ।

जिसमें एक अथवा दो मध्यम पात्र संस्कृत में वार्तालाप करते हैं वह 'शुद्ध' हैं, वह 'संकीर्ण' विष्कुम्भ कहलाता है:—

"वृत्तवर्तिष्यमाणानां, कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भः, आदावङ्कस्य दर्शितः ॥
मध्येन मध्यमाभ्यां वा, पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः ॥
शुद्धः स्यात्सतु संकीर्णो, नीचमध्यमकल्पितः ॥"

(सा० द०, ६।३१२)

यहाँ वासन्ती और अत्रेयी मध्यम पात्र हैं तथा संस्कृत में सम्भाषण कर रही हैं। अतः यह 'शुद्ध विष्कम्भक' है।

भवभूति 'विष्कम्भकों के प्रयोग में बड़े कुशल हैं। वे उनमें कथा का समुचित निर्वाह करने वाले तत्त्वों की सूचना दे देते है। उनका प्रकृत विष्कम्भक 'सीता-परित्याग', 'कुश-लव-जन्म' आदि बीती हुई तथा 'शम्बूक-वध' करने के लिए श्रीरामचन्द्रजी के 'पञ्चवटी-प्रवेश' की आने वाली घटना की सूचना देने के कारण पूर्ण सफल है।

(ततः प्रविशति सदयोद्यतखड्गो रामभद्रः।)

रामः—

रे हस्त ? दक्षिण ! मृतस्य शिशोर्द्विजस्य,
जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम्।
रामस्य बाहुरसि, निर्भरगर्भखिन्न—
सीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते ? ॥१०॥

अन्वय—रे दक्षिण हस्त ! द्विजस्य मृतस्य शिशोः जीवातवे शूद्रमुनौ कृपाणं विसृज, (त्वं) रामस्य बाहुरसि निर्भरगर्भखिन्नसीताविवासनपटोः, ते करुणा कुतः ? ॥१०॥

(कथंचित्प्रहृत्य) कृतं रामसदृशं कर्म। अपि जीवेत्स ब्राह्मणपुत्रः।

हिन्दी—

[तदनन्तर करुणापूर्वक (हाथ में) तलवार ताने
हुए श्रीराम प्रवेश करते हैं।]

राम—[श्लोक १०] अरे दक्षिण हस्त ! तू मरे हुए ब्राह्मण-बालक को जिलाने के लिये शूद्र मुनि पर तलवार का प्रहार कर। (इस विषय में हिचक क्यों करता है ?) अरे ! तू तो परिपूर्ण गर्भ से खिन्न (प्रियतमा) सीता का परित्याग करने में पटु राम का हाथ है; अतः तुझ में करुणा कहां से आयी ? (निर्दय व्यक्ति का अङ्ग होने के कारण तू भी करुणाहीन होकर 'शूद्र तापस' पर प्रहार कर।)

(किसी प्रकार प्रहार करके) राम—सदृश कार्य कर दिया ! क्या वह ब्राह्मण पुत्र जी गया होगा ?

संस्कृत-व्याख्या

ततः सदयं (यथा स्यात्तथा) हस्ते खड्गमुत्कर्षतो रामस्य प्रवेशो भवति। शूद्रमुनौ प्रहर्त्तुं भगवान् रामः स्वदक्षिणहस्तं प्रेरयति—रे हस्त इति।

'रे'=इति अनादरद्योतकमव्ययम्, दक्षिणहस्त !=वामेतर कर ! द्विजस्य= विप्रस्य, मृतस्य=उपरतस्य, शिशोः=बालकस्य, जीवातवे=जीवनाय, शूद्रमुनौ= शम्बूके इति भावः। कृपाणं=असिं, विसृज=विमुञ्च। त्वं रामस्य बाहुः=भुजः असि। निर्भरगर्भखिन्नसीताविवासनपटोः=पूर्णगर्भक्लिष्टसीताप्रवासन-निपुणस्य, ते= तव, करुणा=दया, कुतः—कस्मात् (जायते इति भावः ?)

श्लोकोऽयमतीव मार्मिकः। अत्र कोमलता स्पृहणीयता च भावानामभि- व्यज्यते। तथाहि—रे दक्षिण हस्त ! त्वं मृतस्य द्विजबालकस्योज्जीवनहेतौ शूद्रमुनौ कृपाणप्रहारं कर्तुं कथं नोत्सहसे ? परिपूर्णगर्भभारपरिखिन्नायाः स्वप्राणप्रियायाः परित्यागादकरुणस्य रामस्य बाहुरसि, अङ्गिनोऽकरुणत्वात्तदीयस्याङ्गस्यापि करुणा न सम्भवति। अतो निःशकं प्रहारं कुरु—इति भावः।

अत्र 'रे' इति नीचसम्बोधन-पदं रामस्यात्मग्लानिं सूचयति। 'दक्षिण' विशेषणेन च कुशलतारूपोऽर्थो गृह्यते। यो हि सीताविवासने आज्ञाप्रदाने दक्षिणो हस्तः स्वभावेनैवाग्रेसरो भवति। अपि च—दक्षिणस्यैव बाहो रामस्याङ्गत्वमुप- पद्यते; वामभागस्तु पत्न्या भवति। सा च स्वयं निराकृता तदीयाङ्गस्य सम्बोधना- दावपि कीदृशोऽधिकारः ? किञ्च—"ब्राह्मणो मामकी तनुः" इत्युक्तत्वाद् द्विजरक्षां विना दक्षिणत्वं कुतस्तरां स्यादिति युक्तैव तथोक्तिः।

'शूद्रमुनौ'—इति पदेन च मुनित्वेऽपि शूद्रत्वे सति मुनित्वं नोचितमिति मर्यादाभञ्जकत्वान्मुनिरपि वध्यः। तदानीं शूद्राणां तपस्यानिषेधात्। एतेन मर्यादापुरुषोत्तमता रामस्य सूचिता भवति।

'कृपाण'—पदप्रयोगश्च वैज्ञानिकता कवेः प्रकटयति। कृपाम् आ समन्तान्न- यतीति, कृपया वा अनति=जीवतीति व्युत्पत्त्या प्रहारोऽप्ययं कार्यद्वयस्य साधकः— ब्राह्मणशिशोरुज्जीवनस्य, शूद्रस्य चास्य तपस्याफलत्वेनोत्तमलोकप्राप्तेरिति। ततश्च नायमस्य वधो द्वेषमूलः, प्रत्युतः कल्याणकर एवेति भावः 'जीवातुरस्त्रियां भक्ते जीविते जीवनौषधे" इति मेदिनि।

अत्र 'हे हस्त'—इति पाठस्तु साहित्य-सौहित्यानभिज्ञपरिकल्पितः। 'हे हृ' इत्यनुप्रासलोभे नात्र युक्तः। कोमल-रसेऽनुप्रासस्य विरुद्धत्वात्। हस्तबाहुः-पावयोः पौनरुक्त्याच्च। 'निर्भर' इत्यादि कथनस्य 'हे' इति सम्बुद्धिपदेनापोषणाच्च। 'रे' इति पाठस्तु परमरमणीयः। कारुण्याभावञ्च विशेषरूपेण पोषयति, इति सहृदयैः स्वयमामीलितलोचनैर्विचारणीयम्। 'रामस्ये' त्यत्रार्थान्तरसंक्रमितवाच्यो ध्वनि- प्रभेदः।

अत्र काव्यलिङ्गालङ्कारः। वसन्ततिलका च्छन्दः। रामस्य परितापनिन्दादि- वस्तुव्यञ्जकतया चोत्तमकाव्यत्वम्।

अपि च—'निर्भर ··· पटोः' इति विशेषणमत्र महान्तं भ्रमं जनयतीत्यपि विवेचनीयम्। 'रामस्य' इति षष्ठ्यन्त-पदस्येदं विशेषणम् ? अथवा 'ते' इति

षष्ठ्यन्तस्य ? 'रामस्य बाहुरसि' इत्यत्र वाक्यं परिसमाप्तम्, अनन्तरञ्च 'निर्भर'— इत्यादि कथनं समाप्तपुनरात्तत्वदोषनिगृहीतम्। 'रामस्ये' त्यत्रार्थान्तरसंक्रमितवाच्य-ध्वनिनैव 'अकरुणत्व' रूपस्यार्थस्य प्रतीतेश्च विशेषणेनानेन न किमपि वैशिष्ट्य-मायाति। अतो निःसन्देहं कवेः कौशलमत्र 'ते' इत्यस्य विशेषणेनैव प्रकटीभवति। हस्तेनैव राजानः 'आज्ञोल्लेखनं' कुर्वन्ति, अतो हस्त-द्वारा राम-निन्दाप्रतीतौ वैचित्र्याधिक्यं नः प्रतिभाति, प्रतिभावतां सताम् सुविचारोऽत्राभ्यर्थनीयः। वस्तुतस्तु 'पटो' इति निर्विसर्गपाठस्वीकारे सम्बुद्धि-पदेऽर्थस्यातितमां चमत्कृतिः स्पष्टता चायाति, यदि विज्ञेभ्योऽस्माकं विचारो रोचेत ॥१०॥

कथञ्चिदिति। कथंकथमपि=केनापि प्रकारेणानिच्छन्नपि, लोकसीमारक्षणाय प्रहारं कृत्वा; रामसदृशं कर्म कृतमिति सकरुणमाह। ब्राह्मणपुत्रो जीविष्यति किमिति विवेचयन् स्थितः।

टिप्पणी

उक्त श्लोक अत्यन्त मार्मिक है। इसमें भावों की सुकुमारता, उदारता तथा स्पृहणीयता भली भांति अभिव्यक्त हो रही है। श्रीरामचन्द्र जी का दाहिने हाथ को सम्बोधन कर करुणापूर्ण वचन कहना उनकी आत्म-ग्लानि का द्योतक है। इसके शब्दों में अपूर्व ध्वनि तथा अर्थगाम्भीर्य भरा पड़ा है।

(१) रे !—इस नीचता-सूचक सम्बोधन-पद का प्रयोग करने से राम की आत्मग्लानि स्पष्ट हो रही है।

कुछ लोग 'रे' के स्थान पर 'हे' पाठ स्वीकार करते हैं। परन्तु हमारे मत में तो 'रे' का प्रयोग ही उपयुक्त है, क्योंकि 'रे' ही राम की आत्मग्लानि तथा हाथ की निर्दयता को विशेष रूप से अभिव्यक्त करता है। (२) दक्षिण !—हस्त का यह विशेषण भी बहुत ही साभिप्राय है :—

[क] प्रथम तो—इस विशेषण से 'सीता-निर्वासन' के लिये आगे बढ़कर आज्ञा देने में हाथ की अत्यन्त कुशलता सिद्ध होती है क्योंकि उसी का संकेत देकर लक्ष्मण को सीता—परित्याग की आज्ञा दी गई थी। अतः ऐसे-ऐसे कठोर कार्य करने में हाथ चतुर (दक्षिण) है ही। उसे शूद्रमुनि पर तलवार चलाने में हिचक नहीं होनी चाहिए। [ख] दूसरी बात यह है कि दायाँ हाथ ही राम का हो सकता है—बायाँ नहीं क्योंकि वाम भाग पत्नी का होता है। परन्तु राम ने तो निरपराध पत्नी का परित्याग कर दिया है। इसलिए अब उन्हें उसके (वाम) अङ्ग को सम्बोधन करने का अधिकार ही क्या है ? [ग] तीसरी बात यह है कि बाँयी ओर हृदय होता है, अतः बाँये अङ्ग में सहृदयता होती है। इसलिये शूद्रमुनि के मारणरूपी कठोर कार्य को सहृदय बायाँ हाथ सम्पन्न नहीं कर सकता। [घ] चौथा भाव इस विशे-षण के प्रयोग में यह है कि—'ब्रह्मणो मामकी तनुः' के अनुसार ब्राह्मण भगवान् का ही रूप है। विना उसकी रक्षा किये 'दक्षिणता' कैसे आ सकती है ?

अतः इन सब कारणों से 'ब्राह्मण-शिशु' की रक्षा के लिये 'शूद्रमुनि' पर प्रहार करते समय श्रीरामचन्द्रजी का हाथ के लिए 'दक्षिण' विशेषण प्रयुक्त करना सर्वथा उचित है।

(३) कृपाणम्—कृपाण शब्द का प्रयोग भी कवि की अनुपम विदग्धता का परिचायक है। 'कृपाम् आ समन्तान्नयति'—इस व्युत्पत्ति से यह प्रहार भी १. ब्राह्मण-शिशु को जीवन-दान तथा २. शूद्र मुनि को उत्तम लोकों की प्राप्ति कराने से दो कार्यों का साधक है।

इससे—'शूद्र-मुनि का वध द्वेष-मूलक महीं प्रत्युत कल्याण अथवा दया की भावना से युक्त है'—यह ध्वनित होता है। (४) रामस्य बाहुरसि—पाठान्तर, 'रामस्य गात्रमसि'। निर्भरगर्भखिन्नसीताविवासनपटो—पाठा० 'दुर्वहगर्भखिन्न· · ·'।

यद्यपि यह विशेषण श्रीराम के लिए भी लगाया जा सकता है, परन्तु इसे 'रामस्य' का विशेषण मानने में कोई विच्छित्ति नहीं है क्योंकि 'रामस्य बाहुरसि' अथवा 'रामस्य गात्रमसि' पर वाक्य समाप्त हो चुका है; पुनः 'निर्भर· · ·' आदि विशेषण 'रामस्य' के साथ लगाने से (समाप्तपुनरात्तत्व' दोष आ जाने के कारण) वाक्य दूषित हो जाता है।

और भी—यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यही सिद्ध होगा कि यह ('निर्भर· · ·') 'ते' का ही विशेषण है क्योंकि राजागण हाथ से ही आज्ञा का उल्लेख किया करते हैं। 'सीता-निर्वासन' की आज्ञा देने में भी राम का हाथ दोषी है। अतः उसके लिए ही यह विशेषण उपयुक्त है।

हमारे मत में तो—'निर्भरगर्भखिन्नसीताविवासनपटो!' इसको सम्बोधन मान लेने से अर्थ में अधिक चमत्कार हो जाएगा। (६) अलङ्कार—काव्यलिङ्ग। (७) छन्द—वसन्ततिलका। (८) कथञ्चित् प्रहृत्य—किसी प्रकार प्रहार करके अर्थात् कठिनता से। राम की दयालुता प्रकट होती है।

मञ्च पर वध दिखलाना चिन्त्य है जैसा कि कहा है :—

"दूराह्वानं वधो युद्धम् राज्यदेशादिविप्लवः।" (सा० द० ।६)

अतः इसकी यहाँ सूचना देनी ही ठीक थी; प्रदर्शित नहीं।

(९) कृतं रामसदृशं कर्म्म—इसके विषय में वीरराघव कहते हैं:— 'रामसदृशं कर्म्म, न ते दशरथसदृशं कर्म। दशरथो ह्यबुद्धिपूर्वकं शूद्रतापसवधं कृतवान्। तथा च 'पितुः शतगुणं पुत्रः' इति न्यायेन दोषविषय एव न तु गुणविषय इति स्वोपालम्भ इह व्यज्यते।"

(प्रविश्य ।)

दिव्यपुरुषः—जयतु देवः ।

दत्ताभये त्वयि यमादपि दण्डधारे,
संजीवितः शिशुरसौ मम चेयमृद्धिः ।
शम्बूक एष शिरसा चरणौ नतस्ते,
सत्संगजानि निधनान्यपि तारयन्ति ॥११॥

अन्वयः—यमादपि दत्ताऽभये त्वयि दण्डधारे (सति) असौ शिशुः सञ्जीवितः, मम च इयम् ऋद्धिः । एष शम्बूकः शिरसा ते चरणौ नतः, सत्सङ्गजानि निधनानि अपि तारयन्ति ॥११॥

हिन्दी—

[प्रवेश कर]

दिव्यपुरुष—महाराज की जय हो !

[श्लोक ११] "यमराज से भी अभयदान देकर आपके दण्ड धारण करने पर (आपकी कृपा से) यह ब्राह्मण बालक जीवित हो उठा और मेरी यह (अलौकिक) शोभा हो गयी । यह शम्बूक आपके चरणों में सिर से (सिर झुकाकर) प्रणाम करता है । (यह सच है कि) सत्सङ्ग से उत्पन्न मरण भी (प्राणियों का) उद्धार कर देते हैं ।

संस्कृत-व्याख्या

दिव्यरूपमाकल्प्य शम्बूकः प्रविश्य रामं प्रणमन्नाह—दत्ताभयेति ।

शब्दार्थः—दण्डधारे=शासितरि । ऋद्धिः=समुन्नतिः, सम्पत् । निधनानि =मृत्यवः ।

देव ! तव विजयः सदैवास्तु । महाराज ! भगवान् सर्वेषामभयप्रदः । अनुचित-कार्य-करणे यमराजमपि दण्डयतो भवतोऽनुग्रहेणैवासौ ब्राह्मण-शिशुः सञ्जीवितः, मम चेयं प्रत्यक्षतो वर्तमाना समृद्धिः सञ्जाता । "शम्बूक"—नामायं भवतामपुगृहीतः सेवकः सविनयं चरणयोः प्रणतः । सत्यमेवैतत्—सत्सङ्गाज्जायमानानि निधनानि=मरणान्यपि तारयन्ति संसारसागरतः । तस्मान्नायं मम मृत्युः, अपितु रोगिणः पीडाकरस्य कायस्य चिकित्सेव निर्विचिकित्सं कल्याणसाधनमेव ।

अत्र विरुद्धान्मृत्योः "दिव्यरूपकार्योत्पत्तेः" विषमाऽलङ्कारः । विशेषार्थस्य सामान्यतया समर्थनादर्थान्तरन्यासश्च । तयोश्च परस्परनिरपेक्षतयाऽत्र संसृष्टिः । वसन्ततिलकावृत्तम् । प्रसादो गुणः । लाटी रीतिः ॥११॥

टिप्पणी

(१) दत्ताभये—दत्तम् अभयं येन, तस्मिन् । (२) यमात्—"भीत्रार्थानां भयहेतुः" से पञ्चमी । (३) सञ्जीवितः शिशुरसौ—तुलना कीजिये देवताओं की राम के प्रति यह उक्ति—

"यस्मिन् मुहूर्त्ते काकुत्स्थ ! शूद्रोऽयं विनिपातितः ।
तस्मिन्मुहूर्त्ते बालौऽसौ, जीवेन समयुज्यत ॥"
(रामा०, उत्त२, ७६।१५)

(४) ततः—√नम् + क्त । (५) सत्सङ्गजानि निधनान्यपि तारयन्ति—शम्बूक देवत्व की प्राप्ति के लिए तप कर रहा था । उसे यह देवत्व सत्सङ्ग से उत्पन्न मृत्यु के उपरान्त मिला; अतएव वह तर गया । उसकी कामना यही थी—

"शूद्रयोन्यां प्रजातोऽस्मि तप उग्रं समास्थितः ।
देवत्वं प्रार्थये राम ! सशरीरो महायशः ॥"
(रामा०, उत्त०, ७६।२)

सतां सङ्गः सत्सङ्गः, तस्माज्जायन्ते इति सत्सङ्गजानि । निधनानि= नि + √धा + क्यु भावे ।

(६) अलङ्कार—१. काव्यलिङ्ग (प्रथम दो पंक्तियाँ तीसरी पंक्ति की कारण हैं), २. अर्थान्तरन्यास (चतुर्थ पंक्ति में) ।

रामः—द्वयमपि प्रियं नः, तदनुभूयतामुग्रस्य तपसः परिपाकः ।
यत्रानन्दाश्च मोदाश्च, यत्र पुण्याश्च संपदः ।
वैराजा नाम ते लोकास्तैजसाः सन्तु ते शिवाः ॥१२॥

हिन्दी—

राम—ये दोनों ही बातें मेरे लिये बड़ी प्रसन्नता की हैं । अतः अब तुम इस उग्र तपस्या के फल का अनुभव करो ।

[श्लोक १२] जहां आनन्द, प्रमोद तथा दिव्य सम्पत्तियां हैं, वे "वैराज" नामक (ब्रह्म-सम्बन्धी सबसे ऊंचे) लोक तुम्हें (इस तपस्या के फलस्वरूप) प्राप्त हों।

संस्कृत-व्याख्या

शुभसमाचारश्रवणेन प्रसन्नो भगवान्—"उग्रस्य तपसः फलमनुभवे"ति शम्बूकं प्रत्याह—यत्रेति । "वैराजाः" तैजसाः लोकास्तुभ्यं निर्धारिताः सन्ति । यत्रानन्दाः—आत्मसाक्षात्कृतानि सुखानि, मोदाः=दिव्यसुखानि, पुण्याः=परमोत्तमाः सम्पदश्च सन्ति, शिवाः=मङ्गलकारकास्ते लोकाः परमतपसः फलकत्वेन त्वया सुचिरमनुभूयन्ताम् ।

विराजः—ब्रह्मण इमे वैराजाः । ब्रह्मसम्बन्धिनो लोकाः । तेजोमयाः सर्वोपरिवर्त्तमानाः लोकाः प्रशस्ततपः कर्तॄणां कृते सुनिश्चिताः ।

अत्र समुच्चयालङ्कारः । अनुष्टुप् छन्दः ॥१२॥

टिप्पणी

(१) पाठान्तर—"पुण्याश्च सम्पदः" के स्थान पर "पुण्याभिसम्भवः"। (२) यत्रानन्दाश्च मोदाश्च—आनन्द और मोद का अन्तर वीरराघव ने इस प्रकार दिखाया है—"आनन्दाः=आत्मानुभव-जन्या हर्षाः, मोदाश्च दिव्यविषयानुभवजन्या हर्षाः।"

तुलना०—

"यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।" (ऋग्वेद, ९।११३।११)

(३) वैराजाः—विराजः ब्रह्मण इमे वैराजाः। विराज्+अण्।

'लोकाः सान्तानिका नाम, यत्र तिष्ठन्ति भास्वराः।

ते वैराजा इति ख्याता देवानां देवि देवताः॥"

(४) तैजसाः—तेजस इमे। तेजस्+अण्।

शम्बूकः—स्वामिन्! युष्मत्प्रसादादेवैषामहिमा। किमत्र तपसा? अथवा महदुपवृतं तपसा।

अन्वेष्टव्यो यदसि भुवने लोकनाथः शरण्यो,
मामन्विष्यन्निह वृषलकं योजनानां शतानि।
क्रान्त्वा प्राप्तः स इह तपसां संप्रसादोऽन्यथा तु,
क्वायोध्यायाः पुनरुपगमो दण्डकायां वने वः? ॥१३॥

अन्वयः—(हे स्वामिन्!) भुवने अन्वेष्टव्यः लोकनाथः शरण्यः (त्वम्) यत् मां वृषलकं अन्विष्यन् योजनानां शतानि क्रान्त्वा इह प्राप्तः असि, स इह तपसां संप्रसादः। अन्यथा तु वः अयोध्यायाः दण्डकायां वने क्व पुनः उपगमः॥१३॥

हिन्दी—

शम्बूक—प्रभो! आपके प्रसाद की ही यह महिमा है। इसमें तपस्या का क्या (प्रभाव) है? अथवा (यह बात नहीं) तप ने बहुत उपकार किया है (क्योंकि)

[श्लोक १३] जो कि संसार में (बड़ी-बड़ी तपस्याएं कर मुनियों के द्वारा) अन्वेषणीय, लोकों के स्वामी तथा शरणागतवत्सल हैं, वही आप मुझ (तुच्छ) शूद्र को खोजते हुए सैंकड़ों योजन लांघकर यहां आए हैं—यह तप का ही अनुग्रह (प्रभाव) है। नहीं तो अयोध्या से दण्डक-वन में फिर आपका आगमन कैसे होता?

संस्कृत-व्याख्या

देवशरीरधारी शम्बूको रामं सर्वैश्वर्यसम्पन्नं सम्बोधयति—स्वामिन्निति। स्वामिन्=इति विशेषणेन रामस्य सर्वविधैश्वर्यशालित्वं सूच्यते। स्वं=सर्वविधं

धनमस्यास्तीति "स्वामिन्नैश्वर्ये" इति "आमिनच्"—प्रत्ययान्तो निपातः। भवतां कृपैवाऽत्र हेतुः, किं तपसा ? अथवा तपस्ययैव महदुपकृतम्।

कथमिति चेदत्राह—अन्वेष्टव्य इति।

(स्वामिन् !) भुवने=लोके, अन्वेष्टव्यः=सर्वदा सततप्रयत्नशीलैर्महामुनिभिरपि ध्यान-धारणादिभिर्यौगिकैरुपायैरन्वेषणीयः लोकनाथः=सर्वेषां लोकानां यः प्रभुः शरण्य=शरणागतवत्सलः, (त्वम्) यत् मां वृषलकम्=शम्बूक=नामानं शूद्रम् अन्विष्यन्=विचिन्वन् योजनानां शतानि=बहूनि योजनानि क्रान्त्वा=अतिक्रम्य, इह =अत्र प्राप्तः समागतोऽसि। इह अस्मिन् विषये, सः तपसां सम्प्रसादः= तपश्चर्याया अनुग्रह एव, अन्यथा तु वः=युष्माकम् अयोध्याया दण्डकायां वने= दण्डकारण्ये क्व पुनः उपगमः=आगमनं सम्भवति ?

यम तपस एव फलमेतद्यत्त्वम् मां अन्वेषयन् स्वयमेवात्र समागतोऽसि। अन्यथा क्वायोध्या ? क्व चात्र दण्डकाख्यं महावनम् ? अत्र भवतामागमनं साधारणतया नैव सम्भाव्यते—इति भावः।

अत्र विषमालङ्कारः, अतिशयोक्तिः काव्यलिङ्गञ्चेत्येते अलङ्काराः। मन्दाक्रान्ता च्छन्दः ॥१३॥

टिप्पणी

(१) युष्मत्प्रसादादेव—यदि श्रीरामचन्द्रजी शम्बूक का वध न करते तो उसे ऐसी सम्पत्ति प्राप्त नहीं हो सकती थी। ऐसा विश्वास था कि राजाओं के द्वारा दण्डित पापीं शुद्ध हो जाते हैं और वे स्वर्ग-प्राप्ति भी कर लेते हैं:—

"राजभिः कृतदण्डास्तु, कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥" (मनु० ८।३१८)

(२) लोकनाथः—पाठा०, "भूतनाथः"। (३) अन्वेष्टव्यः—खोजनीय। "य आत्मा अपहतपाप्मा सोऽन्वेष्टव्यः स विजिग्यासितव्यः।" (बृहदारण्यकोपनिषद्)

अनु+√इष+तव्य कर्म्मणि।

(४) शरण्यः—शरणे साधु इति शरण्यः। "तत्र साधुः" (पा०४।४।९८) इति यत्। शरण+यत्। (५) वृषलकम्—कुत्सितो वृषलः वृशलकः। "कुत्सिते" (पा० ५।३।७४) इति कन्। वृषल+कन्। तात्कालिक धर्मानुसार अपने 'द्विजाति-सेवा-धर्म' के विरुद्ध आचरण करने के कारण शम्बूक धर्मोच्छेक था। इसलिए 'वृषं =धर्मं लुनातीति वृषलः' इस व्युत्पत्ति से उसका यह विशेषण उपयुक्त है, कहा भी है:—

"वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम्।
वृषलं तं विदुर्देवाम्तस्माद्धर्मं न लोपयेन् ॥" (मनुस्मृति)

(६) दण्डकायां वने वः—ये शब्द कथा को आगे बढ़ाने के कारण अत्यन्त

महत्वपूर्ण हैं । इन्हें सुनते ही श्रीराम को वीती याद आती है और वे उस वन को देखते हैं ।

राम:—किं नाम दण्डकेयम् ? (सर्वतोऽवलोक्य ।) हा, कथम्—

स्निग्धश्यामा: क्वचिदपरतो भीषणाभोगरूक्षा:,
स्थाने स्थाने मुखरककुभो झाङ्कृतैर्निर्झराणाम् ।
एते तीर्थाश्रमगिरिसरिद्गर्तकान्तारमिश्रा:,
संदृश्यन्ते परिचितभुवो दण्डकारण्यभागा: ॥१४॥

अन्वय:—क्वचित् स्निग्धश्यामा: अपरत: भीषणाभोगरूक्षा: स्थाने स्थाने निर्झराणां झाङ्कृतै: मुखरककुभ: तीर्थाश्रमगिरिसरिद्गर्तकान्तारमिश्रा: परिचितभुव: एते दण्डकारण्यभागा: संदृश्यन्ते ॥१४॥

हिन्दी—

राम—क्या यह दण्डकारण्य है ? (चारों ओर देखकर) हा ! कैसे ?

[श्लोक १४] कहीं (हरी-हरी घास से) स्निग्ध और श्याम, कहीं भयङ्कर (ऊवड़-खावड़) दृश्यों से रूखे, स्थान-स्थान पर झरनों के कल-कल निनाद से मुखरित दिशाओं वाले, तीर्थ, आश्रम, पर्वत नदी, गड्ढों तथा सघन वनों से मिश्रित ये पूर्व परिचित भूमि वाले दण्डकारण्य के भाग दिखलाई दे रहे हैं ।"

(भाव यह है कि कहीं हरियाली के कारण स्निग्ध तथा श्यामल भूमि-भाग हैं, कहीं रूखे और डरावने दृश्य । थोड़ी-थोड़ी दूर पर झरने झर रहे हैं । उनके प्रपातकालीन निनाद से दिशाएं मुखरित हो रही हैं । कहीं ऋषियों के द्वारा सेवित तीर्थ हैं, कहीं मुनियों से अधिष्ठित आश्रम; कहीं पर्वत हैं तो कहीं नदियां; कहीं गड्ढे हैं तो कहीं सघन वन ।)"

संस्कृत-व्याख्या

शम्बूकमुखात् "दण्डकायां वने व:" इति दण्डकाशब्दमाकर्ण्य सञ्जातस्मृतिर्भगवान् रामो दण्डकां वर्णयति—स्निग्धेति ।

हन्त ! एतस्यां दण्डकायामेतेऽस्माकं पूर्वपरिचिता भूमेर्भागा: कीदृशा: प्रतिभान्ति ? क्वचित्तु स्निग्धश्यामा:=मसृण–कृष्णवर्णा: अतिशयितश्यागा:, अपरत्र च भीषणै:=भयंकरै:, आभोगै:=शरीरै:, रूक्षा:=रूक्षकाया:, स्थाने–स्थाने=प्रतिस्थानम् निर्झराणाम्=झराणां झाङ्कृतै:="झाम्" इति शब्दै: [झामिति शब्दानुकरणम्] मुखरा:=शब्दायमाना: ककुभ:=दिशो येषु ते, तीर्थाश्रमगिरिसरिद्गर्त्तकान्तारमिश्रा: दण्डकारण्यस्य भागा: परिचिता भुवो येषान्ते तथाविधा दृश्यन्ते । तीर्थानि=ऋषिसेवितानि जलानि ("निपानाऽगमयोस्तीर्थमृषिजुष्टजले गुरौ" इत्यमर:)

आश्रमाः=मुनिजनानां निवासस्थानानि, गिरयः=पर्वताः, सरितः=नद्यः, गर्त्ताः=अवटाः, खातस्थानानि । कान्ताराणि=वनानि । एतैः सम्मिश्राः ।

अत्र स्वभावोक्तिरलङ्कारः । मन्दाक्रान्ता च्छन्दः ॥१४॥

टिप्पणी

(१) प्रकृतिवर्णन में भवभूति अत्यन्त कुशल हैं। यहाँ दण्डकारण्य में कोमल और कठोर दोनों प्रकार के दृश्य दिखाकर कवि ने एक और तथ्य की ओर संकेत किया है। यहाँ जिस प्रकार कहीं कठोर भूमि है और कहीं कोमल उसी प्रकार यहाँ किसी स्थल को देखने से मृदु स्मृति आ रही है और किसी स्थल को देखकर भयङ्कर। प्रकृति का वातावरण-निर्माण के रूप में सुन्दर है। (२) स्निग्ध—स्निह्+क्त कर्त्तरि =स्निग्ध। (३) आभोगः=पूर्णता। (४) मुखरककुभः—मुखराः ककुभः (दिशः) येषाम् ते मुखरककुभः। "दिशस्तु ककुभः काष्ठाः" इत्यमरः ॥१४॥

शम्बूकः—दण्डकैवैषा । अत्र किल पूर्वं निवसता देवेन—

> चतुर्दश सहस्राणि चतुर्दश च राक्षसाः ।
> त्रयश्च दूषणखरत्रिमूर्धानो रणे हताः ॥१५॥

येन सिद्धक्षेत्रेऽस्मिन्मादृशामपि जानपदानामकुतोभयः संचारः संवृत्तः ।

रामः—न केवलं दण्डकवनं, जनस्थानमपि ?

शम्बूकः—बाढम् एतानि खलु सर्वभूतरोमहर्षणान्युन्मत्तचण्डश्वापदकुलाक्रान्तविकटगिरिगह्वराणि, जनस्थानपर्यन्तदीर्घारण्यानि दक्षिणां दिशमभिवर्तन्ते । तथाहि—

हिन्दी—

शम्बूक—यह 'दण्डकारण्य' ही है जहां पहले रहते हुए आपने—

[श्लोक १५] चौदह हजार और चौदह निशाचर तथा 'दूषण' 'खर' और "त्रिशिरा"—इन तीनों को मारा था !

राम—यह केवल 'दण्डकारण्य' ही नहीं, 'जनस्थान' भी है ?

शम्बूक—जी हां ! ये (भय के कारण) सब प्राणियों के रोंगटे खड़े कर देने वाले मदोन्मत्त तथा अत्यन्त क्रोधी (व्याघ्र आदि) हिंस्र पशुओं से व्याप्त अथवा विकट गिरि-कन्दराओं से युक्त 'जनस्थान' की सीमाओं में स्थित लम्बे-लम्बे वन दक्षिण दिशा तक फैल रहे हैं। क्योंकि—("निष्कूज" आदि श्लोक आते है।)

संस्कृत-व्याख्या

शम्बूको दण्डकैवेयमिति पूर्ववृत्तान्तस्मरणपूर्वकं स्थिरीकरोति—चतुर्दशेति। अत्र 'अत्र किल पूर्वं निवसता देवेन' इति संस्कृत-गद्यमन्वेति। नाटकेषु गद्यभागस्य "चूर्णक" इति नाम्ना व्यवहारः। अत्र पूर्वं निवसता महाराजेन भवता चतुर्दशसहस्राणि चतुर्दश च राक्षसाः त्रयः प्रधानराक्षसानां नायकाः 'दूषणः' 'खरः' 'त्रिमूर्द्धा' इति नामानो रणे हताः। अतः सैवेयं दण्डकास्ति ॥१५॥

येन इति। भवता राक्षसानां विनाशादेव अस्मिन् सिद्धक्षेत्रे मादृशा अपि जनपदनिवासिनो निर्भयं परिभ्रमन्ति पूर्वन्तु राक्षसानां भयादत्र कस्यापि समागन्तुमुत्साहो नाभूदिति महानुपकारः कृतो भवतेति भावः।

"जनस्थानमपी" ति रामप्रश्नमुत्तरयति शम्बूकः—बाढमिति। आम्! सत्यमेवेदं जनस्थानमस्ति। एतानि सर्वेषां जीवानां हर्षणानि=दर्शनमात्रेण रोमाञ्चकारीणि भयानकानि, उन्मत्ताः=मदोन्मत्ताः चण्डाः=क्रोधयुक्ताः, ये श्वापदाः=हिंसका व्याघ्रादयः, तेषां कुलैः=समुदायैः समाक्रान्तानि विकटानि गिरीणां पर्वतानां गह्वराणि येषु तानि जनस्थानस्य सीम-विभागे दीर्घानि, अरण्यानि=वनानि दक्षिणां दिशं यावत् अभिवर्तमानानि सन्ति।

टिप्पणी

(१) चतुर्दश··हताः—दूषण, खर और त्रिमूर्द्धा (त्रिशिरा) राम के द्वारा मारे गए राक्षसी के नाम हैं। जब शूर्पणखा के लक्ष्मण द्वारा नाक-कान काट लिए गए तब वह अपने भाई खर के पास गई जो कि जनस्थान में राक्षसों का अधिपति था। शूर्पणखा के द्वारा राम-लक्ष्मण से बदला लिए जाने के लिए कहा जाने पर खर ने पहले चौदह राक्षस भेजे। राम के द्वारा उन्हें मार देने पर खर ने अपने सेनापति दूषण को १४,००० राक्षसों के साथ भेजा। ये भी मारे गए। और इसके बाद अकेले बचे त्रिशिरा और खर भी रामजी ने मार दिए। देखिये रामायण, अरण्यकाण्ड १९–३०।

"इति तस्यां ब्रुवाणायां, चतुर्दश महाबलान्।
व्यादिदेश खरः क्रुद्धो, राक्षसानन्तकोपमान् ॥" (अरण्य०, १९/२१)

"अब्रवीद्दूषणं नाम, खरः सेनापतिं तदा।
चतुर्दशसहस्राणि, मम चित्तानुवर्त्तिनाम् ॥
सर्वोद्योगमुदीर्णानां, रक्षसां सौम्य कारय।" (अरण्य०, २२/७–९)

(२) 'चतुर्दश च राक्षसाः'—पाठा०, 'रक्षसां भीमकर्मणाम्'। सम्भवतः इस पाठान्तर पर इसकी छाया पड़ी हो—

"चतुर्दश सहस्राणि, रक्षसां भीमकर्मणाम्।
हतान्येकेन रामेण, मानुषेण पदातिना ॥" (अरण्य०, २६/३५)

(३) 'दूषणखरत्रिमूर्द्धानो'—पाठा०, "· · ·त्रिमूर्धानो" । 'त्रिमूर्धानः' पाठ में 'द्वित्रिभ्यां षः मूर्ध्नः' (पा० ५।४।११५) से 'ष' प्रत्यय नहीं होता, समासान्तविधि के अनित्य होने से ।

'काणे' आदि विद्वान् 'दूषणखरत्रिमूर्धा नः' यह पाठ स्वीकार करते हैं । नः =अस्माकं समरे, भवत्कृतसमरे-इत्यर्थः । "· · ·त्रिमूर्धाः" पाठ में 'द्वित्रिभ्यां षः मूर्ध्नः' (पा० ५।४।११५) से ष प्रत्यय हुआ । त्रि+मूर्धा+षः ।

कुछ विद्वान् "दूषणखरत्रिमूर्धा नो· · ·" में 'नो' को प्रश्नवाचक मानकर यह अर्थ करते हैं—'दूषण' खर और त्रिमूर्ध क्या रण में नहीं मारे ? अपितु मारे ही ।"

कुछ विद्वान् 'दूषणखरत्रिमूर्धानः' पाठ में कथञ्चित् च्युतसंस्कृतिदोष की उद्भावना करके "· · ·त्रिमूर्धाः समरे हताः" यह स्वीकार करते हैं ।

—०—

निष्कूजस्तिमिताः क्वचित्क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्त्वस्वनाः,
स्वेच्छासुप्तगभीरभोगभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयः ।
सीमानः प्रदरोदरेषु विरलस्वल्पाम्भसो यास्वयं,
तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्रवः पीयते ॥१६॥

अन्वयः—क्वचित् निष्कूजस्तिमिताः, क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्वस्वनाः, स्वेच्छासुप्तगभीरभोगभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयः, प्रदरोदरेषु विरलस्वल्पाम्भसः सीमानः (सन्ति) यासु तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैः अयम् अजगरस्वेदद्रवः पीयते ॥१६॥

हिन्दी—

[श्लोक १६]—(इस भयङ्कर वन के सीमान्त-प्रदेशों में) कहीं एक दम निस्तब्धता छायी हुई है और कहीं हिंसक पशुओं का घोर गर्जन सुनाई पड़ रहा है । कहीं स्वेच्छा से सुखपूर्वक सोये हुए मोटे-मोटे सर्पों की फुङ्कारों से आग धधक उठी है । कहीं-कहीं गड्ढों में थोड़ा-सा पानी पड़ा हुआ है (झिलमिला रहा है) और कहीं प्यास से व्याकुल गिरगिट (पानी न मिलने के कारण) अजगर के पसीने को पीकर अपनी प्यास बुझा रहे हैं ॥१६॥

संस्कृत-व्याख्या

रोमहर्षणकारितामेव स्थिरीकर्त्तुं प्राह शम्बूकः—निष्कूज इति ।

अत्र क्वचित्स्थाने कूजनमपि पक्षिणां शब्दोऽपि न श्रूयते, अपर भागे च चण्डानां=भयङ्कराणां सत्त्वानां=जन्तूनां स्वनानि=शब्दाः श्रुतिपथमायान्ति, अन्यत्र च महाकायाः अजगराः सानन्दं शयानाः तीव्रान् श्वासान् परिमुञ्चन्ति, येन सर्वत्राग्नयः प्रदीप्ता भवन्ति । स्वेच्छया सुप्तानां, गभीरोभोगो देहो येषां तेषाम्,

भुजगानां=सर्पाणाम्, श्वासैः प्रदीप्ता अग्नयो यत्र ताः सीमानः=प्रान्त भागाः, प्रदराणाम्=पर्वतगर्तानाम्, उदरेषु=मध्यभागेषु सन्ति; किञ्च–विरलस्वल्पानि= क्वचित् स्थाने स्वल्पानि विरलानि च जलानि यास्वेवंविधाः सीमानः सन्ति, यासु सीमसु (परिपतितैः) तृष्यद्भिः=पिपासाकुलितैः प्रतिसूर्यकैः=सरटैः=कृकलासैः "गिरगिट" इति नाम्ना प्रसिद्धैः ("सरठ कृकलासः स्यात् प्रतिसूर्यशयानकौ" इति हलायुधः।) अयं अजगरस्य स्वेदद्रवः=प्रस्वेदजललवः एव पीयते। जलाभावात् अजगर-शरीरान्निर्गतः स्वेद एव पीयते, इत्यर्थः। एतेन वन प्रान्ते भयंकराणां जीवानां शब्दः कुत्रचिच्च सर्वथा शान्तिः अजगराणां श्वासैरग्नि-प्रज्ज्वलनम्; अजगर स्वेदपातरताः कृकलासाः, इत्यादि-वर्णनेन जनस्थानपर्यन्तवनानां रोमहर्षकत्वमुचितमेवेतिभावः। स्वभावोक्तिरलङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं च्छन्दः ॥१६॥

टिप्पणी

(१) प्रकृति के चतुर चित्रकार "भवभूति" ने अपने नाटकों में प्रकृति का यथार्थ चित्रण किया है। उनके वर्णनों में कृत्रिमता नहीं है; उनमें वास्तविकता एवं विशदता का अनुपम सामञ्जस्य है। वे केवल प्रकृति के कोमल पहलू को ही लेकर नहीं चले हैं, प्रत्युत उन्होंने वहां के घोर एवं भयावह दृश्यों का ही अपेक्षाकृत अधिक वर्णन किया है। उनके तीनों नाटकों में इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं। 'मालती-माधव" के पाँचवे अङ्क का "श्मशान-वर्णन" तथा नवें अङ्क का 'वन-वर्णन' उनके प्रकृति चित्रण के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

प्रस्तुत नाटक में भी प्रकृति का वर्णन बहुत ही सूक्ष्म एवं यथार्थ रूप में हुआ है। गर्मी की कड़कती हुई दोपहरी का सच्चा चित्र हमें "कण्डूलद्विप (२/६) श्लोक में देखने को मिलता है और 'दण्डकारण्य' की भीषणता का इस श्लोक में।

(२) समास और कोष के लिए संस्कृत टीका देखिए। (३) अङ्कार— स्वभावोक्ति। (४) शार्दूलविक्रीडित छन्द।

रामः—

पश्यामि च जनस्थानं, भूतपूर्वखरालयम्।
प्रत्यक्षानिव वृत्तान्तान्, पूर्वाननुभवामि च ॥१७॥

(सर्वतोऽवलोक्य।) प्रियारामा हि वैदेह्यासीत्। एतानि नाम कान्ताराणि। किमतः परं भयानकं स्यात्? (सास्रम्।)

त्वया सह निवत्स्यामि, वनेषु मधुगन्धिषु।
इतीवारमतेहासौ, स्नेहस्तस्याः स तादृशः ॥१८॥

न किञ्चिदपि कुर्वाणः, सौख्यैर्दुःखान्यपोहति ।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं, यो हि यस्य प्रियो जनः ॥१९॥

हिन्दी—

राम—[श्लोक १७] मैं "खर" के भूतपूर्व निवासालय 'जनस्थान' को देख रहा हूं, और (साथ ही साथ) बीते हुए वृत्तान्तों का वर्तमानवत् अनुभव कर रहा हूं।

(चारों ओर देखकर) सीता को उपवन (बहुत) प्रिय थे (परन्तु) ये महावन हैं! इससे अधिक और क्या भयानक बात होगी ? (आंखों में आंसू भरकर)

[श्लोक १८] (अयोध्या से चलते समय—"प्राणनाथ" !—) "मैं आपके साथ मधु के मधुर गन्ध से सुरभित वनों में रहूंगी" इस प्रकार (यह कह-कहकर) उसका मन यहां लगा रहता था ! (मेरे साथ वह मन में भी प्रसन्न थी परन्तु मेरे) वियोग में उसने 'अयोध्या' में भी रहना नहीं (चाहा !) (ओह !) उसका वह कैसा (अनुपम) प्रेम था ?"

[श्लोक १९] जो जिसका प्रिय होता है, वह (उसके लिए) कुछ न करता हुआ भी (सान्निध्य-स्मरण रूप) सुखों से दुःख दूर कर देता है। प्रिय व्यक्ति प्रेमी के लिए कोई अनिर्वचनीय पदार्थ होता है।

संस्कृत-व्याख्या

भगवान् रामोऽपि जनस्थानवृत्तान्तान् स्मृत्वा प्राह—पश्यामेति। यत्र पूर्वं खरस्य स्थानमासीत्, एवंविधं जनस्थानं पश्यामि, पूर्वान् वृत्तान्तानिदानीं प्रत्यक्षानिव अवलोकयामि। अत्र भाविकमलङ्कारः ॥१७॥

रामः सीतां स्मृत्वाऽनुशोचति। वैदेह्या उपवनानि प्रियाण्यासन्, अत्र चेमानि वनानि। विधिविडम्बना कीदृशी विचित्रा भवति ? इति सर्वतोऽवलोक्य सशोकः प्राह—त्वयेति। सीता, अयोध्यातो निर्गमनकाले—"नाथ ! मधुनो गन्धमुक्तेषु त्वया-सह निवासं करिष्यामि, न च तत्र क्लेशो मे भविता," इत्युक्त्वाऽत्र क्रीडारता आसीत् ! हन्त ! तस्याः स स्नेहः कीदृशो मधुर आसीत्। अधुना कीदृशो विपरिणामः ? को नाम काल-कलनां वेत्ति ? ॥१८॥

सत्यमेवेदं कथनमित्याह—न किञ्चिदिति। यो हि यस्य प्रियो जनो भवति, स किमपि कार्यं मा करोतु, परन्तु "अयं मे प्रियः" इति स्मरणमात्रेणापि सुखन्तु ददात्येव। सुख-प्रदानेन दुःखन्तु दूरीकरोत्येव ! अतः प्रियो जनः किमपि अनिर्वचनीयं "द्रव्यं" अस्ति। किन्तदिति विशेषरूपेण वक्तुं यद्यपि न शक्यते, तथापि तस्य महिमाऽवाङ्मनस-गोचरः, अतश्च सीतायाः स्मरणेनापि महत् सुखमनुभवामीति हृदयम्। अथवा—तदानीं मया सीतायाः कोऽप्युपकारो यद्यपि न कृतोऽत्र वने जीवने वा, तथापि सा मया सह वनेऽपि सुखं विन्दते स्म, स्वकीयजनसम्पर्कमात्रतोऽपि सुखानु-भवादिति भावः। स्वेष्टजनस्य दर्शनमात्रेणापि स्वर्गसुखमनुभवन्ति प्रियाः। [अत्र

"द्रव्यम्" इति पददानेऽपि कवेर्वैशिष्ट्यम् । गत्यर्थकाद् 'द्रु" धातोर्द्रव्यं निष्पद्यते । ततश्च प्रियो जनो यदि किमपि विशिष्टं कार्यं न करोति, तथापि साधारणतया तस्यां दिशि किञ्चित् चलनं तु करोत्येव । अपि च—सर्वे गुणाः, क्रियाश्च द्रव्याश्रिता एव भवन्ति, अतः पूर्वं द्रव्यस्यास्तित्वमपेक्षितं भवतीति प्रियो जनो द्रव्यत्वेनैवोच्यते । इति कवेर्दार्शनिकत्वं सूचयति अथवा—"द्रव्य भव्ये" इति नियमात् भव्यपदार्थे] अत्रार्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । अप्रस्तुतप्रशंसा च । अनुष्टुप् च्छन्दः ॥१६॥

टिप्पणी

(१) भूतपूर्वखरालयम्—पूर्वं भूतः, भूतपूर्वः । सुप्सुपा समास, "भूतपूर्वे चरट्" के आधार पर भूत का पूर्व निपात । भूतपूर्वः खरालयो यस्मिन् तम् । जनस्थान में पहले 'खर' राक्षस रहता था । (२) प्रियारामा ·····आरमते यस्मिन्निति आरामः । आ+<रम्+घञ् अधिकरणे । प्रियः आरामः अस्याः इति प्रियारामा । "वा प्रियस्य" (वार्तिकं) के अनुसार प्रिय का विकल्प से पूर्वनिपात । "आरामः स्यादुपवनं कृत्रिमं वनमेव यत्" इत्यमरः ।

कहीं "प्रियारामा" के स्थान पर "प्रियरामा" भी पाठ है किन्तु यह किसी विशेषता को प्रकाशित न करने के कारण स्पृहणीय नहीं है । (३) त्वया सह—,सहयुक्तेऽप्रधाने (पा० २।३।१६) इति तृतीया । (४) मधुगन्धिषु—मधुनः (पुष्परसस्य) गन्धः एषाम् एषु वा इति मधुगन्धिनस्तेषु । मधुगन्ध+इनिः । यह विशेषण इसलिए दिया गया है क्योंकि वनों में भीनी-भीनी गन्ध वाले और पुष्परस से युक्त फूल खिले रहते ते । (५) इतीवारमतेहासौ—इसके कई पाठान्तर तथा छेद मिलते हैं:—

१. इतीहारमतेवासौ (इति इह अरमत एव असौ ।
२. इति वा अरमते ह असौ ।
३. इति च अरमत इव असौ ।
४. इति हा रमते सीता ।
५. इति इव अरमत इह असौ । (इतीव=इसी प्रकार जैसाकि उसने कहा था उसी प्रकार) ।
६. इति इव आरमते हा असौ ।

(६) त्वया सह···तादृशः—तुलना कीजिए:—

(सीता) "सुखं वने निवत्स्यामि, यथैव भवने पितुः ।
अचिन्तयन्ती त्रींल्लोकांश्चिन्तयन्ती पतिव्रतम् ॥
शुश्रूषमाणा ते नित्यं, नियता ब्रह्मचारिणी ।
सह रंस्ये त्वया वीर ! वनेषु मधुगन्धिषु ॥"
(रामा०, अयोध्या०, २७।१२-३)

(७) न किञ्चदऽपि'''—जनः सौख्यं=सुख+ष्यञ् स्वार्थे। चाहे प्रिय व्यक्ति प्रेमी के लिए कुछ भी न करे परन्तु उसके लिये वह अमूल्य निधि होता है। प्रिय के स्मरण-मात्र से प्रेमी का दुःख दूर हो जाता है।

'वह अवर्णनीयता क्या है ?' यद्यपि इसका वर्णन स्पष्ट रूप से नहीं कर सकते तथापि उसकी महिमा अनिर्वचनीय है। उसके स्मरण-मात्र से ही अनुपम सुख मिलता है। यही कारण है कि मै "सीता" के स्मरण से ही किसी अलौकिक सुख का अनुभव कर रहा हूँ। अथवा—यद्यपि मैंने उस समय सीता का कोई विशेष उपकार नहीं किया था तथापि वह मेरे साथ वन में रहकर भी सुख का अनुभव करती थी। इसमें एक मात्र हेतु यही था कि—"प्रिय के साथ रहने में हृदय को कोई अनिर्वाच्य विश्राम मिलता है"। इसलिये सीता मेरे साथ कण्टकाकीर्ण वनों में चली आयी थी। (८) तत्तस्य किमपि द्रव्यम्—यहाँ "द्रव्य" का प्रयोग कर कवि अपनी शब्द-प्रयोग-चातुरी का परिचय दिया है। गत्यर्थक √'द्रु' धातु से यह शब्द निष्पन्न होता है। उसके अनुसार—"चाहे प्रियजन कोई विशेष कार्य न करे तथापि उस दिशा में चलने का प्रयास तो करता ही है।"—यह अर्थ प्रस्फुटित होता है।

दूसरा रहस्य इस शब्द के प्रयोग में यह है कि—'सारे गुण और क्रियाएं "द्रव्य" के ही आश्रित रहती हैं अर्थात् द्रव्य की आवश्यकता सर्वप्रथम होती है, इसलिए प्रियजन के लिए "द्रव्य" शब्द का प्रयोग किया गया है।

अथवा—'द्रव्य भव्ये" के अनुसार "द्रव्य" शब्द का प्रयोग "भव्य" अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

इस श्लोक में कवि ने विशुद्ध प्रेम का प्रभाव बताया है। 'द्रव्य' शब्द के प्रयोग से कवि की सहृदयता तथा दार्शनिकता प्रकट होती है।

शम्बूकः—तदलमेभिर्दुरासदैः। अथैतानि मदकलमयूरकण्ठकोमलच्छविभिरवकीर्णानि पर्यन्तैरविरलनिविष्टनीलबहुलच्छायातरुषण्डमण्डितान्यसंभ्रान्तविविधमृगयूथानि पश्यतु महाभागः प्रशान्तगम्भीराणि श्वापदकुलशरण्यानि महारण्यानि।

इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरमुक्त-
प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति।
फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्ज-
स्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः ॥२०॥

अन्वयः—इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरमुक्तप्रसवसुरभिशीतस्वच्छातोयाः फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्जस्खलनमुखरभूरिस्रोतसः निर्झरिण्यः वहन्ति ॥२०॥

अपि च ।

दधति कुहरभाजामत्र भल्लूकयूना-
मनुरसितगुरूणि स्त्यानमम्बूकृतानि ।
शिशिरकटुकषायः स्त्यायते सल्लकीना-
मिभदलितविकीर्णग्रन्थिनिष्यन्दगन्धः ॥२१॥

नहीं आया

अन्वयः—अत्र कुहरभाजां भल्लूकयूनाम् अनुरसितगुरूणि अम्बूकृतानि स्त्यानं दधति । शल्लकीनां शिशिरकटुकषायः इभदलितविकीर्णग्रन्थिनिष्यन्दगन्धः स्त्यायते ॥२१॥

हिन्दी—

शम्बूक—(बीती हुई बातों की याद दिलाकर दुःख उत्पन्न करने वाले) इन दुर्गम वनों (के वर्णनों) को रहने दीजिये । अब महाप्रभावशाली आप—मद से मधुर कूक करने वाले केकियों (मयूरों के कोमल कण्ठों की कान्ति के समान समीपस्थ प्रदेशों से व्याप्त, सघनता से खड़े हुए नीली-नीली शोभा वाले छायादार वृक्षों के समूहों से सुशोभित निर्भय (विचरण करने वाले) भांति-भांति के हरिणों के झुण्डों वाले शान्त एवं दुर्गम, (व्याघ्र आदि) हिंसक पशुओं के निवास-स्थान—इन महावनों को देखिये । [आशय यह है कि इन महावनों के प्रांतभागों में मयूर के कण्ठ के समान शोभा वाले, सघन और छायादार वृक्ष खड़े हैं । यहां के मृगों को किसी प्रकार का भय नहीं है । इन शांत और गम्भीर प्रदेशों में अनेक हिंस्र पशु सुखपूर्वक रहते हैं । इन महावनों को आप अपने मनोरञ्जन के लिए देखिये ।]

[श्लोक २०] वहां मस्त पक्षियों से आश्रित वेतस से गिरे हुए पुष्पों से सुगन्धित, शीतल और स्वच्छ जल वाली तथा फलसमूह के परिपाक से श्याम वर्ण वाले घने जामुन-कुञ्जों में गिरने से शब्दायमान अनेकों प्रवाहों वाली नदियां बहती हैं ।

(भाव यह है कि यहां मद के कारण किलोल करने वाले पक्षियों के बैठने से हिलने के कारण किनारों पर उगी हुई 'बेंत' की लताओं के पुष्प जल में गिर रहे हैं। जिससे कि स्वभाव से ही मधुर और शीतल नदियों का जल सुगन्धित हो रहा है । उनकी धारायें फलों से लदे हुए काले-काले जामुन के कुञ्जों से टकराने पर (अथवा फल गिरने के कारण) अत्यन्त शब्द करती हुई अनेक धाराओं में बह रही हैं ।"

और भी—

[श्लोक २१] यहां (महावन में) पहाड़ों की गुफाओं में रहने वाले तरुण रीछों के थूकने का शब्द प्रतिध्वनित होकर और अधिक बढ़ रहा है । अर्थात्—यह महावन गिरि-गुहा-निवासी तरुण भालुओं के थूकने के शब्द से प्रतिध्वनित हो रहा है ।) और यहां हाथियों के द्वारा तोड़ी (मसली) तथा इधर-उधर फैलाई हुई 'सल्लकी' लताओं की ग्रन्थियों के रस का शीतल, तीक्ष्ण तथा कषाय (कुछ-कुछ कसैला=सुगन्धित) गन्ध फैल रहा है ।"

संस्कृत-व्याख्या

भगवत्याः सीतादेव्याः स्मृत्या सदुःखं महाराजं विदित्वा महारण्यदर्शनेन रामस्य चित्तानुरञ्जनार्थं प्राह—तदलमिति। तद् तस्मात् कारणाद् यतो दुःखप्रदा न्येतानीति हेतोः, एभिर्दुरासदैः=दुःखेन प्राप्तुं योग्यैः वनैः अलम्। एतेषां वर्णनं दर्शनञ्चेदानीमनावश्यकमिति भावः। अथ अधुना एतानि महारण्यानि पश्यतु महाभागो भवान्। कीदृशान्येतानीति विशेषयति—मदकलेति। मदेन कलाः=अव्यक्त-मधुरारावं कुर्वाणाः मयूरास्तेषां कण्ठानामिव कोमला च्छविः=कान्तिर्येषां तैः पर्यन्त-भागैः, अवकीर्णानि=परिव्याप्तानि, अविरलं=निरन्तरम्, निविष्टाः=स्थिताः नीलवर्णाः बहुलाः=अनेके ये च्छायातरवः=छायाप्रधानास्तरवः (शाकपार्थिवादि-त्वान्मध्यमपदलोपी समासः) तेषां षण्डेन=समुदायेन मण्डितानि=सुशोभितानि, असंभ्रान्ताः=संभ्रम-(भय)-रहिताः विविधाः=अनेके मृगाणां यूथाः=समुदाया येषु तानि, प्रशान्तानि=शान्तियुक्तानि, गम्भीराणि=दुष्प्रवेशानि, श्वापदकुलानां=हिंसक-व्याघ्रादि-कुलानां शरण्यानि शरणे=रक्षणे समर्थानि महारण्यानि पश्यतु महाभागः गद्यभागस्य कठिनत्त्वात् प्रतिपदव्याख्यानं कृतम्।

सरलार्थस्तु—"एतेषु महावनानां प्रान्तभागेषु मयूरकण्ठच्छवियुक्ताः वृक्षाः सन्ति; छायायुक्तास्तरवो बहवो वर्त्तन्ते, अत्रत्यानां मृगाणां भयं नास्ति, एतानि प्रशान्तगम्भीराणि, हिंसक-कुलानि चात्र सुखेन निवसन्ति, एवंविधानि महारण्यानी-मानीति मनसोऽनुरञ्जनं नूनं करिष्यन्तीति।

अपि च—अत्र निर्झरिण्योऽपिमधुरतया वहन्तीत्यपि प्रेक्षणेन चेतसि कौतुकं प्रभवति—इति विलोकयतु महाभागः—इत्याशयेनाह—इह इति।

इह महारण्येषु, समदाः=मदयुक्ता ये शकुन्ताः=पक्षिणस्तैः आक्रान्ता ये वानीराः=वेतसाः, तेभ्यः विमुक्ताः स्खलिताः ये प्रसवाः कुसुमानि तैः सुरभि=सुगन्धसहितम्, शीतलम् स्वच्छञ्च तोयं यासु ताः निर्झरिण्यः, किञ्च फलानां भरस्य यः परिणामः=परिपाकः, तेन श्यामाः ये जम्बूनां निकुञ्जास्तेषु स्खलनेन मुखराणि—शब्दितानि, भूरीणि—बहूनि स्रोतांसि=प्रवाहा यासां तादृश्यो निर्झरिण्यः नद्यो वहन्ति=प्रवन्ति।

सरलार्थस्तु=वेतसानां शाखासूत्प्लुत्य मदसहिताः पक्षिण उपविशन्ति, ततस्तेभ्यः पुष्पाणि निपतन्ति जले, स्वभाव-शीतलं मधुरञ्च पयः पुष्पाणां गन्ध-सम्बन्धात् सुरभितं सम्पद्यते। किञ्च—(फलानां) परिपाकवशात् नीलवर्णानि जम्बू-फलानि जले परिपतन्ति, तेषां पातेन च महान् कलकलो भवति। एवंविधा निर्झरिण्यः निर्झरेभ्यः प्रादुर्भूता नद्यः प्रवहन्ति—इति।

अत्र स्वभावोक्ति। मालिनी च्छन्दः ॥२॥

अन्यदपि विशिष्टं निरीक्षणीयमत्रास्तीति प्राह—दधति इति।

अयमाशयः—पर्वतगुहासु भल्लूकयुवानो निवसन्ति, तेषामनुरसितेन= प्रतिध्वनिना गुरूणि=वृद्धिं गतानि, अम्बूकृतानि सनिष्ठीवनशब्दाः, स्त्यानं= वृद्धिं दधति=धारयन्ति । शल्लकीनां लतानां शिशिरः=शीतलः, कटुः तीक्ष्णः, कषायः=कषायरसोद्गारी सुरभिः, इभैः गजैः, दलिताः=विच्छिन्नाः विकर्णाः= कर्णरहिताः इतस्ततः पर्यस्ता इति यावत् ("विकीर्णाः" इति पाठान्तरे "पर्यस्ता" इत्येवार्थः ।) ग्रन्थयः = पर्वाणि तेषां निष्यन्दस्य = रसस्य गन्धः स्त्यायते=वृद्धिं भजते । "अम्बूकृतं सनिष्ठीवनम्" इत्यमरः । "स्त्यानं स्निग्धे प्रतिध्वाने घनत्वालस्ययोरपि" इति विश्वः । "गन्धिनी गजभक्ष्या तु सुवहा सुरभी रसा । महेरुणा कन्दुरुकी, शल्लकी ह्लादिनीति च" इत्यमरः । "कटुतिक्तकषायास्तु सौरभे च प्रकीर्त्तिताः" इत्यप्यमरः । "इभः स्तम्बेरमः हस्ती" इत्यमरः । "ग्रन्थिर्ना पर्वपरुषी" इत्यमरः । "गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोः" इति विश्वः ।

सरलार्थस्तु—"अत्र महावने पर्वत-गुहासु तिष्ठन्तो युवानो भल्लूकाः=ऋक्षाः उच्चैः स्वरेण निष्ठीवन्ति, तेन च स्वाभाविकोऽपि तेषां शब्दः प्रतिध्वनितः सन् वृद्धिं प्राप्नोति । अपि च—गजानां भक्षणीयाः 'शल्लकी' लता गजैर्भज्यन्ते, ता इतस्ततो निपतिताः, तासां शीतलः कटुः सुरभिश्च गन्धः सर्वत्र वने वर्धते । इति ।"

अत्र स्वभावोक्ति काव्यलिङ्गञ्चालङ्कारौ । मानिनी च्छन्दः । ओजो गुणः । गौडी रीतिः ॥२१॥

टिप्पणी

(१) "समद ··· वानीरमुक्त ···" पाठा०, ··· 'वानीरमुक्त' के स्थान पर ··· 'वानीरवीरुत् ···' । 'लताप्रतानिनी वीरुद्गुल्मिन्युलप इत्यपि' इत्यमरः । विशेष समास आदि संस्कृत टीका में देखिए । यह श्लोक 'महावीरचरित' के पञ्चम अङ्क में ४० वीं संख्या पर है । 'इह समदशकुन्ताक्रान्त ···' आदि की तुलना के लिये देखिये—'उपान्तवानीर-वनोपगूढान्यालक्ष्यपारिप्लवसारसानि' । (कालिदास) । (२) दधति कुहरभाजाम्—यह श्लोक 'मालतीमाधव' के नवम अङ्क में छटी संख्या पर है । (३) कुहरभाजाम्—कुहरं (गह्वरं) भजन्ते इति कुहरभाजस्तेषाम् । कुहर+√भज+ण्वि कर्तरि । (४) अनुरसित—अनु+√रस+क्त भावे । (५) अम्बूकृतानि—अनम्बु अम्बु कृतानि इति अम्बूकृतानि । अम्बु+√च्वि+कृ+क्त कर्मणि (६) महाकवि 'भवभूति' ने केवल प्रकृति के भयावह दृश्यों का ही वर्णन नहीं किया है प्रत्युत उसके सुरम्य रूप का भी उन्होंने चित्रण किया है । २० वें श्लोक में बहते हुए पहाड़ी सोतों का क्या ही सुन्दर वर्णन है ?

जो 'भवभूति'—कूजत्कान्त-कपोत-कुक्कुट-कुलाः कूले कुलायद्रुमाः' लिखकर दोपहरी के प्रचण्ड ताप का वर्णन कर सकते हैं वे ही ऐसी मसृण शब्दावली से पहाड़ी के प्राकृतिक दृश्यों का भी मनोहर चित्रण कर सकते हैं । वास्तव में

'भवभूति' प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षक है ! धन्य हैं ! प्रकृति के सच्चे उपासक भवभूति !

रामः—(सवाष्पस्तम्भम् ।) भद्र ! शिवास्ते पन्थानो देवयानाः । प्रलीयस्व पुण्येभ्यो लोकेभ्यः ।

शम्बूकः—यावत्पुराणब्रह्मर्षिमगस्त्यमभिवाद्य शाश्वतं पदमनुप्रविशामि । (इति निष्क्रान्तः ।)

राम :—

एतत्पुनर्वनमहो कथमद्य दृष्टं ?
यस्मिन्नभूम चिरमेव पुरा वसन्तः ।
आरण्यकाश्च गृहिणश्च रताः स्वधर्मे,
सांसारिकेषु च सुखेषु वयं रसज्ञाः ॥२२॥

अन्वयः—अहो ! अद्य एतत् वन पुनः कथं दृष्टमू हि । यस्मिम् पुरा चिरमेव वसन्तः आरण्यकाः गृहिणश्च वयं स्वधर्मे रताः, सांसारिकेषु सुखेषु रसज्ञाश्च अभूम ॥२२॥

एते त एवगिरयोविरुवन्मयूरा-
स्तान्येव मत्तहरिणानि वनस्थलानि ।
आमञ्जुवञ्जुललतानि च तान्यमूनि,
नीरन्ध्रनीपनिचुलानि सरित्तटानि ॥२३॥

अन्वय—विरुवन्मयूरा एते ते एव गिरयः (सन्ति), मत्तहरिणानि तानि एव वनस्थलानि (सन्ति) आमञ्जुवञ्जुललतानि नीरन्ध्रनीपनिचुलानि अमूनि तानि सरित्तटानि (सन्ति) ॥२३॥

मेघमालेव यश्चायमारादिव विभाव्यते ।
गिरिः प्रस्रवणः सोऽयमत्र गोदावरी नदी ॥२४॥

अन्वयः—मेघमाला इव यश्चायम् आरादिव विभाव्यते, सोऽयं प्रस्रवणः गिरिः (अस्ति) अत्र गोदावरी नदी अस्ति ॥२४॥

हिन्दी—

राम—(उमड़ते हुए आंसुओं को रोककर) सौम्य ! 'देवयान' नामक (देवताओं के) मार्ग तुम्हारे लिए कल्याणकारी हों ! पुण्य-लोकों में जाने के लिये तैयार हो जाओ !

शम्बूक—मैं (पहिले) पुरातन ब्रह्मर्षि 'अगस्त्यजी' को प्रणाम कर (तदनन्तर) चिरन्तन लोकों में प्रवेश करता हूं (करूंगा)। (चला जाता है।)

राजा—[श्लोक २२] ओह ! मैंने आज यह वन पुनः क्यों देख लिया ? जिसमें कि पहिले चिरकाल तक (सीता-लक्ष्मण के साथ) रहते हुए हम लोग 'वानप्रस्थ' तथा 'गृहस्थ' धर्म में एक साथ तत्पर थे तथा सांसारिक सुखों का अनुभव भी किया करते थे। (हमारे जीवन की वे घड़ियां कितनी सुखद थीं ! परन्तु आज सीता के वियोग में यह वन मुझे बीती बातों की याद दिलाकर अत्यन्त दुःखी कर रहा है।)

[श्लोक २३] मयूरों के कूजन से युक्त ये वे ही पर्वत हैं तथा ये मस्त हरिणों के विहार-स्थान वे ही वनस्थल हैं और सर्वाङ्ग-सुन्दर 'बेंत' की लताओं, सघन कदम्ब एवं 'हिज्जल' नामक वृक्षों से सम्पन्न ये सरिताओं के तट (भी) वे ही हैं (जहां कि हम आनन्दपूर्वक दिन बिताया करते थे)।

[श्लोक २४] (उमड़ती हुई) मेघ-मालाओं के समान जो कि बिल्कुल पास में खड़ा हुआ-सा लग रहा है, यह वह 'प्रस्रवण' पर्वत है (तथा) यहीं (वह) गोदावरी नदी (भी) है।

संस्कृत-व्याख्या

यथा कथञ्चिद् भगवान् रामः लोचनजलावरोधं विधाय शम्बूकमाह—भद्रेति। भद्र ! ते=तुभ्यं देवयानाः=देवान् यान्ति यैस्ते देवप्रापकाः पन्थानः=मार्गाः, शिवाः=कल्याणकारिणो भवन्तु। पुण्येभ्यो लोकेभ्यः=पुण्यान् लोकान् प्राप्तुं, प्रलीयस्व=लीनो भव, युक्तो भवेति यावत्। 'लीङ् श्लेषणे' इति धातोर्लोट् लकारः।

देवयानाश्च—"अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः, षण्मासा उत्तरायणम्" इति गीतोक्ताः, वेदितव्याः। एभिर्मार्गैर्गतवतां मोक्षो भवति, इति "अर्चिरादि मार्गेण गत्वा ब्रह्मानन्दानुभूतिस्वरूपमाप्नुहि।" इति भावः। ते च मार्गाः यथा छान्दोग्योपनिषदाख्याताः—तथाहि "मासेभ्यः संवत्सरम्, संवत्सरादादित्यम्, आदित्याच्चन्द्रमसम्, चन्द्रमसो विद्युतम्, तत्पुरुषो मानवः स एनां गमयत्येष देवयानः पन्थाः" इति। एतत्प्राप्तिफलञ्चापि तत्रैवोक्तम्—

"स एतान् ब्रह्म गमयति, एष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते" इति।

'लोकेभ्यः' इत्यस्य च लोकाननुभवितुमित्यर्थः। तत्र 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इति सूत्रेण चतुर्थी विभक्तिर्भवति।

क्वचित् 'देवयानं प्रतिपद्यस्व' इति पाठः। तत्र देवयानम्=विमानं, इत्यर्थो भवति। लोकान्तरं गन्तुं विमानारोहणं कुरु, इति भावः।

महर्षिमगस्त्यं प्रणमितुं शम्बूके निर्गते रामस्तत्रत्यवस्तुजातमवलोक्य सखेदमाह—एतदिति।

सखेदमाह—अद्येदं पूर्वंदृष्टं वनं मया कथं दृष्टम् ? अत्रागत्येदानीं मया किं फलमुपलब्धम् ? एतस्मिन् वने पूर्वं सीतालक्ष्मणाभ्यां सह निवासं कुर्वन्तो वयं गृहस्थ धर्मे वानप्रस्थधर्मे च सहैव निरता आस्म । उभय-धर्मरसास्वादनेन कीदृशं तज्जीवन-मभूदिति कथं निरूप्यते ? सीतामन्तरा दृष्टमिदं वनमधुना परितापमेवं जनयिष्यति, इति भावः । पञ्चयज्ञ-सेवनपरा वयं गृहस्थधर्मानुष्ठाने रताः सञ्जाताः । पञ्च-यज्ञाश्च गृहस्थस्य नित्यमनुष्ठेयत्वेनोक्ताः शास्त्रकृद्भिः । ते च यथा—स्वाध्यायः= वेदपारायणम्, अग्निहोत्रम्=हवनम्, अतिथि-पूजनम्, पितृ तर्पणम्, बलिकर्म= सर्वेभ्यो भूतेभ्यः प्रतिदिनं यथाशक्ति अन्नादिदानम् । एतेषां पालनं यो नियतं करोति, देवास्तस्मै सर्वानपि भोगान् वितरन्ति, यश्चैतान् न पालयति, तस्य जीवनमेव व्यर्थम् । तथाच गीतायाम्—

"इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते तेन एव सः ॥"
"एवं प्रवर्तितं चक्रं, नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ ! स जीवति ॥"

इति तृतीयाध्यायस्य (१२, १६) श्लोकयोः स्पष्टमुक्तं भगवता श्रीकृष्णेन ।

वानप्रस्थ-धर्मश्च—

'भूमौ मूल-फलाशित्वं, स्वाध्यायस्तप एव च ।
संविभागो यथान्यायं, धर्मोऽयं वनवासिनः ॥" इति ।

ततश्च भूमिशयनादि सेवनाद् वानप्रस्थस्यापि रसास्वादोऽस्माकमासीदिति तत्त्वम् ।

अत्र तुल्ययोगिता अलङ्कारः । प्रसादो गुणः । लाटी रीतिः । वसन्ततिलका छन्दः ॥२२॥

पुनरपि दृष्टचराणि वस्तूनि दृष्ट्वा प्राह रामः—एते इति ।

अयमाशयः—एते ते एव गिरयः=पर्वताः, येषु मधुरं कूजन्तो मयूराः सन्ति । तान्येव चेमानि वनस्थलानि यत्र सानन्दं मत्तहरिणाः, सरितां तटान्यपि एतानि तान्येव सन्ति, येषु आ=समन्ताद् मञ्जुलानाम्=मनोहराणाम् वञ्जुलानाम्=वेतसानां लताः, नीरन्ध्राः=छिद्ररहिताः, सघना इत्यर्थः । नीपाः=कदम्बाः, निचुलाः=हिज्ज-लाश्च आसन्, सन्ति चाधुनापीति भावः ।

अत्र तत्पदं पूर्वानुभूतार्थे प्रयुक्तम् । तुल्ययोगिता चालङ्कारः । वसन्ततिलका-च्छन्दः । प्रसादो गुणः । वैदर्भी रीतिः ॥२३॥

पुनः प्रस्रवणपर्वतं दृष्ट्वा कथयति —मेघमालेति ।

यत्रायमारादिव समीपस्थ इव नीलवर्णः मेघ-समुदाय इव प्रस्रवणनामकः पर्वतोऽस्ति, अत्रैव सा प्रसिद्धा 'गोदावरी' नदी वर्त्तते ।

अत्र उपमा उत्प्रेक्षा चालङ्कारौ संसृष्टौ ॥२४॥

टिप्पणी

(१) भद्र ! शिवास्ते पन्थानो देवयानाः। प्रलीयस्व पुण्येभ्यो लोकेभ्यः— पाठा०, 'भद्र ! शिवास्ते पन्थानो देवयानं प्रतिपद्यस्व पुण्येभ्यो लोकेभ्यः।

प्रथम पाठ के अनुसार अर्थ—'देवयान नामक मार्ग तुम्हारे लिये कल्याणकारी हों' ! होगा।

द्वितीय पाठ के अनुसार—'शिवास्ते पन्थानः=तुम्हारी यात्रा मङ्गलमय हो। देवयानं प्रतिपद्यस्व पुण्येभ्यः लोकेभ्यः=देवयान नामक मार्ग पर पुण्य लोकों के लिये चढ़ो' अथवा 'देवयान' का अर्थ 'पुष्पक विमान' भी हो सकता है किन्तु यह कोई अधिक अच्छा अर्थ नहीं है। 'देवयान' का अर्थ 'ब्रह्मप्राप्ति का मार्ग' ही अधिक औपयिक है। इसकी स्पष्टता के लिये यों समझना चाहिये—

उपनिषदों में इन दो मार्गों के विषय में प्रायः चर्चा की गई है—१. देवयान तथा २. पितृयान। 'देवयान' मार्ग साधक ज्ञानी को अनेक स्थानों से पार कराता हुआ 'ब्रह्म' तक ले जाता है जहाँ से पुनरावर्त्तन नहीं होता। 'पितृयान' मार्ग—जिसके लिए दया, तपश्चर्या आदि वाञ्छित हैं—चन्द्रमा की ओर ले जाता है जहाँ कि जीव सुकर्मों के रहने तक निवास करता है; सुकर्मों के नष्ट होने पर पृथ्वी पर लौट आता है—

"तद्यथा इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽह्नरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान्। १. मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति। २. अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान् षड्दक्षिणैति मासांस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति। ३, मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति। ४. तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं निवर्त्तन्ते।" (छान्दोग्य०, ५।१०)

भगवद्गीता के अष्टम अध्याय के २३–२६ श्लोकों में इन्हीं मार्गों की चर्चा है—

"यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं, वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः, षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः, षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते ॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते, जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्त्तते पुनः ॥"

(२) शाश्वतं पदम्—जो 'देवयान' मार्ग से जाता है वह फिर नहीं लौटता; अतः यहाँ शाश्वत पद कहा गया है। तुलना कीजिये—

"स एतान् ब्रह्म गमयति एष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते।" (छान्दोग्य०, ४।१५।६)

"ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं,
यस्मिन् गता न निवर्त्तन्ति भूयः।" (भगवद्गीता, १५।४)

(३) एतत्पुनर्वनमहो ! कथमद्य दृष्टम्—पाठा०, 'एतत्तदेव हि वनं पुनरद्य दृष्टम्। (४) आरण्यकाश्च···—अरण्य+वुञ्। "अरण्यान्मनुष्ये" पा० ४।२।१२९)। उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि कन्दमूल-फल पर आश्रित रहने के कारण श्रीराम जी वानप्रस्थ (आरण्यक) थे और सपत्नीक विवाहित जीवन विताने के कारण गृहस्थ थे। (५) आमञ्जुवञ्जुलतानि—पाठा० "आमञ्जुवञ्जुलरुतानि"। आमञ्जवः वञ्जुललताः येषु तानि। आमञ्जु वञ्जुलेषु रुतं येषु तानि। (६) आरादिव —पाठा० "आरादपि"।

अस्यैवासीन्महति शिखरे गृध्रराजस्य वास-
स्तस्याधस्ताद्वयमपि रतास्तेषु पर्णोटजेषु।
गोदावर्याः पयसि विततानोकहश्यामलश्री-
रन्तः कूजन्मुखरशकुनो यत्र रम्यो वनान्तः ॥२५॥

अन्वयः—अस्य एव महति शिखरे गृध्रराजस्य वास आसीत्, तस्य अधस्तात् वयमपि तेषु पर्णोटजेषु रताः, यत्र गोदावर्याः पयसि विततानोकहश्यामलश्रीः मुखरशकुनः अन्तः कूजन् रम्यः वनान्तः (अस्ति) ॥२५॥

अत्रैव सा पञ्चवटी, यत्र निवासेन विविधविस्रम्भातिप्रसङ्गसाक्षिणः प्रदेशाः, प्रियसखी च वासन्ती नाम वनदेवता। किमिदमापतितमद्य रामस्य ?

हिन्दी—

[श्लोक २५] (प्रस्रवण के) इसी ऊँचे शिखर पर गृध्रराज (जटायु) का निवास-स्थान था। उसी के नीचे हम लोग पर्णकुटी में आनन्द-पूर्वक रहते थे, जहां गोदावरी के जल में वृक्षों की छाया पड़ने से नीली-नीली कान्ति वाला सुन्दर वन प्रान्त है। इसमें अनेक पक्षि-गण चहाचहा रहे हैं, जिससे प्रतीत होता है कि मानों उनके बहाने से यह स्वयं ही शब्द कर रहा हो"।

यहीं वह 'पञ्चवटी' है जहां कि निवास करते समय अनेक प्रदेश (हमारे) विश्वस्त विलासों के साक्षी हैं। और यहीं प्रियतमा (सीता) की 'वासन्ती' नाम वाली वन-देवी प्रिय सखी थी। आज (परम दुःखित) राम पर यह क्या (विपत्ति) आ पड़ी ?

संस्कृत-व्याख्या

अत्रैव जटायोर्वासोऽप्यासीदिति निरूपयति—अस्यैवेति ।

शब्दार्थः—पर्णोटजेषु पर्णशालासु । विततानोकहश्यामलश्रीः=विस्तृतवृक्ष-नीलशोभः । स्पष्टमन्यत् ।

अयं भावः—अस्यैव पर्वतस्य महति शिखरे गृध्रराजोऽपि निवसति स्म । तस्यैवाधोभागे पर्णकुटीरेषु वयमपि सानन्दं रता आस्म । अपि च—गोदावरी-वारिणि विततानां=विस्तृतानाम्, अनोकहानाम्=वृक्षाणाम् ('अनोकहः कुटः सालः पलाशी द्रुद्रुमागमाः' इत्यमरः) श्यामला श्यामवर्णा श्रीः=शोभा यस्य सः, तथा कूजद्भिः पक्षिभिः शब्दायमानः परमरमणीयो वनान्तोऽस्ति ।

अत्र स्वभावोक्तिरलङ्कारः । मन्दाक्रान्ता च्छन्दः । प्रसादो गुणः । लाटी रीतिः ॥२५॥

अपरमपि दृष्ट्वा परितापमनुभवन्नाह—अत्रैव सा इति । अत्रैव सा पञ्चवटी, विद्यते यत्र विविधाः प्रदेशाः प्रियायाः विश्वासपूर्वकमेकान्त-क्रीडाभूमयोऽभवन्; यत्र च सीतादेव्याः प्रियसखी वासन्ती देवी ! हन्त ! अद्य रामस्य (अर्थान्तरसङ्क्रमित-वाच्यो ध्वनिः । तेनातिदुःखितस्य रामस्येत्यर्थः) इदं सर्वमपि किमापतितम् ? किमर्थ-मिदं दृष्टवानस्मि ? एतेषां सर्वेषामपि पदार्थानां दर्शनेन मम मनसि महती पीडाः भवतीति भावः ।

टिप्पणी

(१) गृध्रराजस्य वासः—गृध्राणां पक्षिविशेषाणां राजा गृध्रराजः । "राजाहः सखिभ्यष्टच्" (पा० ५।४।९१) इति टच् समासन्तः ।

उष्यतेऽस्मिन्निति वासः । √वस+घञ् करणे ।

(२) विततश्यामतानोकहश्यामलश्रीः–वि+√तन्+क्त कर्मणि (स्त्री०)= वितता । अनसः=शकटस्य अकं=गतिं हन्तीति अनोकहः । अनस्+अक+√हन्+ डः । श्रि+क्विप्=श्रीः । वितता श्यामलानाम् अनोकहानां (वृक्षाणां) श्रीः यत्र सः ।

संप्रति हि—

चिराद्वेगारम्भी प्रसृत इव तीव्रो विषरसः,
कुतश्चित्संवेगात्प्रचल इव शल्यस्य शकलः ।
व्रणो रूढग्रन्थिः स्फुटित इव हृन्मर्मणि पुनः,
पुराभूतः शोको विकलयति मां नूतन इव ॥२६॥

अन्वयः—तीव्रः चिरात् वेगारम्भी प्रसृतः विषरसः इव, कुतश्चित् संवेगात् प्रचलः शल्यस्य शकलः इव, रूढग्रन्थिः स्फुटितः हृन्मर्मणि व्रण इव पुराभूतः शोको नूतन इव मां पुनः विकलयति ॥२६॥

तथाविधानपि तावत्पूर्वसुहृदो भूमिभागान् पश्यामि। (निरूप्य।) अहो ! अनवस्थितो भूतसन्निवेशः। तथा हि—

हिन्दी—

इस समय—

[श्लोक २६] दुःसह, चिरकाल के बाद (वेदना के) वेग को आरम्भ करने वाला और सर्वत्र फैले हुए विष-रस के समान, कहीं से अत्यन्त वेग से चले हुए बाण के अग्रभाग के समान, उत्पन्न हो गयी है ग्रन्थि जिसमें (अर्थात् जो कुछ सूखने लगा है) ऐसे एवं हृदय के मर्मस्थल में फूटे हुए घाव (फोड़े) के समान प्राचीन शोक भी नया सा होकर मुझे फिर व्याकुल कर रहा है।"

वैसे (शोकोत्पादक) होने पर भी मैं अपने पुराने मित्र इन भू-प्रदेशों को देखता हूं। (यद्यपि इनके देखने से मुझे असह्य दुःख हो रहा है तथापि बहुत काल तक सह-वास करने के कारण मित्रों के समान इन भू-खण्डों को अवश्य देखूंगा।)

(देखकर) (ओह !) पदार्थों की स्थिति बड़ी अस्थिर है ! जैसा कि—

संस्कृत-व्याख्या

प्राचीनोऽपि शोको नवीन इव भूत्वा मां पीडयतीत्याशयेनाह रामभद्रः—चिरादिति। अयं पुराभूतः शोकः पुनरद्य मां नव इव भूत्वा विकलं करोति, चिरात् अतिशयित-वेगेन विसर्पन् विषरस इव मोहं सम्वर्धयति, कुतश्चित्स्थानान्तरात् प्रचलनशीलः शल्यस्य=कीलविशेषस्य शकल इव, यथा वा महता वेगेन प्रक्षिप्तो-बाणखण्ड इव शरीरे प्रविष्टः, अथवा-हृदयमर्मस्थाने भूतपूर्वो व्रणः कथञ्चित् शुष्कोऽपि पुनः प्ररूढग्रन्थिः स्फुटित इवायं शोको मां विकलयति। इत्येव महदाश्चर्यं मम विद्यते-यः शोकः पूर्वं परिसमाप्तः, स इदानीं पुनः कथं प्रादुर्भूतः ?

अत्र शोकस्य विषरसत्त्वेन, शल्यस्य शकलत्त्वेन, व्रणत्त्वेन, पुरातनस्य च नवीनत्त्वेन सम्भावनादुत्प्रेक्षा-माला. परस्परं संसृष्टाः। शिखरिणी च्छन्दः। प्रसादो गुणः। लाटी रीतिः ॥२६॥

शोकोत्पादका अपिपूर्वदृष्टा भूमिभागाः पुनर्द्रष्टव्या एवेति वदति—तथा विधानिति। यद्यपि एतेषामालोकनेन मम हृदये महद्दुःखं प्रादुर्भवति, तथापि पूर्वं सुहृदः=पूर्वपरिचित-मित्राणीव बहुकालं यावत् सेवितान् भूभागानवश्यमवलोकयामि। सर्वतो निरूप्याह—अहो ! अनवस्थितो भूतानां=पदार्थानां सन्निवेशः, निश्चित-मर्यादो नास्ति। यः पदार्थः पूर्वमत्र स्थितो मयाऽवलोकितः,इदानीं सोऽत्र न दृश्यते, यश्च तदानीमत्र नासीत् स इदानीमत्र वर्तते, अतो युक्तमिदं भूतानां स्थितिरन वस्थिता भवति।

["पूर्वसुहृदः" इति कथनेन भगवतो रामस्योदार्यं प्रतीयते। "अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति" इत्यभियुक्तोक्त्या प्राचीनसमये सुहृद्भूतानां कालान्तरसम्पर्कात् शत्रुवत् शोकोत्पादकत्त्वेऽपि सम्मुखे पतितानां परित्यागो नोचितः, तथैव पूर्वपरिचितानां तेषां सम्प्रति दुःखप्रदत्त्वेऽपि दर्शनं नैव परिहार्य मिति भावः।]

टिप्पणी

पूर्वसुहृदः—श्रीरामचन्द्रजी का वृक्षों को "पूर्वसुहृदः" कहना उनकी उदारता का द्योतक है। जिन भूमि-भागों से उनकी पहिले मित्रता थी वे ही आज शोकोत्पादक होकर उनसे शत्रुता का व्यवहार कर रहे हैं। इतने पर भी राम उन्हें अपने 'पूर्वसुहृद' बतलाते हैं। ठीक है—"अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति।"

पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरितां,
विपर्यासं यातो घनविरलभावः क्षितिरुहाम्।
बहोर्दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनमिदं,
निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति ॥२७॥

अन्वयः—यत्र पुरा सरितां स्रोतः, तत्र अधुना पुलिनम् (अस्ति); क्षितिरुहां घनविरलभावो विपर्यासं यातः; बहोः कालात् दृष्टम् इदं वनम् अपरम् इव मन्ये (परं) शैलानां निवेश इदं तदिति बुद्धिं द्रढयति ॥२७॥

हन्त हन्त। परिहरन्तमपि मां पञ्चवटी स्नेहाद् बलादाकर्षतीव (सकरुणम्)

यस्यां ते दिवसास्तया सह मया नीता यथा स्वे गृहे,
यत्सम्बन्धकथाभिरेव सततं दीर्घाभिरास्थीयत।
एकः सम्प्रति नाशितप्रियतमस्तामेव रामः कथं,
पापः पञ्चवटीं विलोकयतु वा गच्छत्वसम्भाव्य वा ॥२८॥

अन्वयः—यस्यां मया तया सह ते दिवसाः स्वे गृहे यथा नीताः, सततं दीर्घाभिः यत्सम्बन्धकथाभिरेव आस्थीयत सम्प्रति नाशितप्रियतमः एकः पापो रामः तामेव पञ्चवटीं कथं विलोकयतु वा असम्भाव्य कथं गच्छतु ! ॥२८॥

हिन्दी—

[श्लोक २७] पहिले जहां नदियों की धारायें बहती थीं, अब वहां रेतीले तट निकल आये हैं। वृक्षों का 'वन-विरल-भाव' भी बदल गया है। (वृक्ष भी जहां सघन थे वहां विरल और जहां विरल थे वहां सघन हो गये हैं।) बहुत समय के अन्तर देखने के कारण यह वन मुझे दूसरा-सा ही लग रहा है। केवल इन शैलमालाओं की

स्थिति ही—"यह (वही) वन है"—इस विचार को दृढ़ कर रही हैं। [और सब दृश्य बदल चुके हैं परन्तु ये पर्वत-श्रेणियां ज्यों की त्यों खड़ी हैं। अतः मैं इनसे ही पहिचान रहा हूं कि यह वही वन है।]"

हाय ! हाय ! (इस स्थान को) छोड़ते हुए भी मुझको यह 'पञ्चवटी' बल-पूर्वक खींच-सी रही है। (यद्यपि मैं इसे छोड़ना नहीं चाहता तो भी ऐसा लगता है कि मानों यह 'पञ्चवटी' मुझे बल-पूर्वक रोक रही हो।)

(शोक-पूर्वक)

[श्लोक २८] जिस 'पञ्चवटी' में मैंने "सीता" के साथ अपने घर की भांति वे (सुखमय) दिवस बिताये थे, और जिसकी बड़ी-बड़ी चर्चाएं करते हुए ही हम लोग ('अयोध्या' में भी) रहते थे, आज प्रियतमा का विनाश करने वाला या "पापी" राम एकाकी इसको ('पञ्चवटी' को) कैसे (कौन-सा मुंह लेकर) देखे ? अथवा (बिना किसी सेवा-सत्कार के) निरादर कर कैसे चला जाय ? (क्या करूं ? कुछ समझ में नहीं आ रहा है।)"

संस्कृत-व्याख्या

उक्तमेवाशयं स्फुटीकर्तुमाह—पुरेति।

श्लोकोऽप्यतीव स्पृहणीयः। अत्र कविः सर्वस्यापि जगतः स्थितिं प्रकटयति व्यञ्जनया वृत्त्या सुकुमारया शैल्या। तथाहि—यत्र पुरा नदीनां स्रोतः=प्रवाह आसीत्, अधुना तत्र पुलिनं=सैकतं=सिकतामयं तटमस्ति। क्षितिरुहाणां=वृक्षाणां घनविरलभावः=सान्द्रत्वविरलत्वं च विपर्यासं=वैपरीत्यं यातः=भजते इति भावः। यत्र पादपाः सघना आसन् तत्रेदानीं विरलता वर्त्तते, यत्र च विरला वृक्षा आसन् तत्र साम्प्रतं सघनता विद्यते। बहोः कालात् = अतिदीर्घसमयानन्तरं दृष्ट-मिदं वनमपरमिव मन्ये=सम्भावयामि। केवलं शैलानां=पर्वतानां निवेशः= स्थितिः "तदेवेदंवन" मिति बुद्धिं स्थिरां करोति। पर्वता यत्र पूर्वं स्थितास्तत्रैवा-द्यापीति भावः।

एतेन ग्रामनगराणि परिवर्तनशीलानि संसारस्य परिवर्त्तनस्वभावत्वं सूचयन्ति। किञ्च—लघुकायाः पदार्थाः स्वल्पेनैव समयाघातेन स्थानभ्रष्टाः भवन्ति, महापुरुषाश्च पर्वता इवाचला भवन्तीति साम्प्रतमपि तृतीयाङ्के तथाविधा वस्तुस्थितिः प्रत्यक्षा भविष्यतीति यत्र मया सावधानेनाचलेनेव स्थेयमिति भावः।

अत्र काव्यलिङ्गोत्प्रेक्षयोः सङ्करः। शिखरिणी च्छन्दः ॥२७॥

अहमिदानीं पञ्चवटीं परित्यक्तुमीहे तथापीयं मां स्नेहात् बलपूर्वकमाकर्षतीवेत्याह यस्यामिति।

शब्दार्थः—आस्थीयत=स्थितम्। असम्भाव्य=अनादृत्य।

अयमाशयः—हन्त ! यस्यां=पञ्चवट्यां मया पूर्वं ते दिवसाः सीतया सह स्वे=स्वकीये गृहे इव व्यतीताः, यस्याः=पञ्चवट्याः सम्बन्धिन्यः कथाः एव

पूर्वं सम्भवन्ति स्म = सर्वदा पञ्चवटी-स्थानादि-निषेवणचर्चा एव भवन्ति स्म, साम्प्रतं स्वयं प्रियतमां विनाश्य एकाकी पापी रामः पञ्चवटीं विलोकयतु, अथवा यथात्म-भवने पापकारिणा रामेण छलं कृत्वा सीतां परित्यज्यान्यत्र = कार्यान्तरे चित्तमायोजितम्, तथैवेमामपि दूरत एवासम्भाव्य = सेवासत्कारादिकं विनैव परित्यज्य वा गच्छतु = किं कार्यमिति नावधारयामीति भावः ।

अत्र विरोधालङ्कारः । उपमा काव्यलिङ्गञ्च । शार्दूलविक्रीडितं च्छन्दः ॥२८॥

टिप्पणी

(१) पुरा यत्र स्रोतः ···द्रढयति—इस श्लोक में कवि ने संसार की अस्थिरता की एक झांकी दिखलायी है समय के प्रभाव से कोई पदार्थ नहीं बच सका है । यदि आज एक स्थान पर शोभा है तो कल दूसरे पर । संसार परिवर्तन-शील है । हाँ, यह बात अवश्य हैं कि इस परिवर्त्तन के प्रवाह में लघुकाय पदार्थ अपनी सत्ता एकदम खो बैठते हैं परन्तु महापुरुष पर्वत की भांति अचल रहकर अपनी कीर्ति-कौमुदी का विस्तार करते रहते हैं ।

इसलिए इससे—'श्रीरामचन्द्रजी को भी अविचलित रहकर ही भावी घटनाओं को धैर्यपूर्वक सहना चाहिए" यह नाटकीय अर्थ अभिव्यक्त होता है । साथ ही पहले-दूसरे अङ्क की घटनाओं के १२ वर्षों के अन्तर को बड़ी सुन्दरता से दिखाया गया है ।

(२) पुरा यत्र · · · ·—आदि श्लोक को कुवलयानन्दकार ने समासोक्ति के उदाहरण के रूप में उद्धृत करते हुए लिखा है:—

"अत्र वनवर्णने प्रस्तुते तत्सारूप्यात्कुटुम्बिषु धनसन्तानादिसमृद्धयसमद्धिविपर्यासं प्राप्तस्य तत्समाश्रयस्य ग्रामनगरादेर्वृत्तान्तः प्रतीयते ।" (कुवलयानन्द, ६१)

इस श्लोक को क्षेमेन्द्र ने अपनी "औचित्यविचारचर्चा" में देशौचित्य का उदाहरण माना है और लिखा है:—

"अत्र बहुभिर्वर्षसहस्रैरतिक्रान्तैः शम्बूकवधप्रसङ्गेन दण्डकारण्यं रामः पूर्वपरिचितं पुनः प्रविष्टः समन्तादवलोक्यैवं ब्रूते, 'पुरा यत्र नदीनां प्रवाहस्तत्रेदानीं तटम् वृक्षाणां घनविरलत्वे विपर्ययश्चिराद्दृष्टं वनमिदमपूर्वमिव मन्ये, पर्वतसन्निवेशस्तु तदेवैतदिति बुद्धिं स्थिरीकरोति ।' इत्युक्ते चिरकालविपर्ययपरिवृत्तसंस्थानकाननवर्णनया हृदयसंवादी देशस्वभावः परमौचित्यमुद्घोषयति ।"

(३) पापः—इस शब्द से रामजी की आत्मग्लानि प्रकट होती है ।(४) आस्थीयत—आ + $\sqrt{}$ष्ठा + लङ् भावे । (५) तया सह मया नीताः—यहां 'मया' को कर्त्ता मानकर कुछ लोग 'विलोकयतु' को अशुद्ध बताते हैं तथा "विलोकयानि" शुद्ध करते हैं । यदि 'तया' को कर्त्ता माना जाय तो यह शङ्का समाप्त हो सकती है ।

(प्रविश्य ।)

शम्बूकः—जयतु देवः । भगवानगस्त्यो मत्तः श्रुतसन्निधानस्त्वा-माहंपरिकल्पितावरणमङ्गला प्रतीक्षते वत्सला लोपामुद्रा, सर्वे च महर्षयः । तदेहि । सम्भावयास्मान् । अथ प्रजविना पुष्पकेण स्वदे-शमुगपत्याश्वमेधसज्जो भव' इति ।

रामः—यथाज्ञापयति भगवान् ।

शम्बूकः—इत इतो देवः ।

रामः—(पुष्पकं प्रवर्तयन् ।) भगवति पञ्चवटि ! गुरुजनादेशो-परोधात्क्षणं क्षम्यतामतिक्रमो रामस्य ।

शम्बूकः—देव ! पश्य ।

हिन्दी—

[प्रवेश कर]

शम्बूक—महाराज की जय हो ! मेरे द्वारा आपके शुभागमन का समाचार सुनकर भगवान् अगस्त्य जी ने आपके लिए कहा है—"पूजा का साज सजाकर वात्स-ल्यमयी 'लोपामुद्रा ।' तथा सब महर्षिगण आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं । अतः आइए और (आतिथ्यस्वीकार कर) हमारा मान बढ़ाइये । तदनन्तर तीव्रगामी पुष्पकविमान से अयोध्या में पहुंचकर अश्वमेध-यज्ञ में सम्मिलित हो जाइये ।

राम—जो भगवान् की आज्ञा !

शम्बूक—महाराज ! इधर से (पधारिए) इधर से ।

राम—(पुष्पक को घुमाते हुए) भगवति ! पञ्चवटि ! गुरुजनों की आज्ञा का पालन करने के कारण थोड़ी देर के लिए राम के इस अतिक्रमण (लांघकर जाने के अपराध) को क्षमा करो ! (गुरुजनों की आज्ञा का पालन करना अत्यावश्यक है; इसलिए मैं शीघ्रता से जा रहा हूं । थोड़ी देर में लौटते समय तुम्हारे पास अवश्य होकर जाऊंगा । अतः तब तक के लिए तुम मुझे क्षमा करो ।)

शम्बूक—देव ! देखिए ।

संस्कृत-व्याख्या

शम्बूकः प्रविश्य महर्षेरगस्त्यस्य सन्देशं निवेदयति —जयतु-इति । विजयतां महाराज । मतः=मत्सकाशात्, श्रुतं सन्निधानं=अतिसमीपावस्थानं येन सः, भगवानगस्त्यएवमाह—"लोपामुद्रा (अगस्त्यस्य धर्मपत्नी) वात्सल्यात् भवन्तं पूजयितुं पूजासम्भारं सञ्चित्य प्रतीक्षमाणा वर्तते, अन्ये च महर्षयोऽपि भवद्दर्शन-लालसाः प्रतीक्षन्ते, ततोऽत्रागत्य सर्वेषामेषामुत्साह-परिपोषणं कार्यम्, अनन्तरञ्च वेगवता पुष्पकविमानेन गत्वाऽश्वमेधयज्ञे सम्मिलितेन भवता भवितव्यमिति भावः ।

रामः पञ्चवटीं प्रार्थयते—भगवति ! इति। भगवति ! पञ्चवटी ! गुरुजनानामगस्त्यादीनामादेशस्यानुरोधादिदानीं स्वल्पकालस्य कृतेऽयं व्यतिक्रमः=प्राप्तस्य क्रमस्योल्लङ्घनम्, क्षम्यताम्। अगस्त्यस्य महर्षे राज्ञायाः प्रथमं पालनमावश्यकम्, अन्यथा, पापसंपर्कः, महर्षि-शाप-कोपयोः सम्भवनापि स्यात्। अतः क्षणानन्तरमायास्यामीति चेतसि कोऽपि दूषितो विचारो न स्वीकार्यः।

अत्र भगवतो रामस्य सभ्यता सहृदयता च स्पष्टीभवति। महाजनोचित एवायं क्रमः।

टिप्पणी

(१) गुरुजनोपरोधात्—गुरुजन+उप+√रुध+घञ् भावे। श्रीराम की मर्यादाप्रियता ध्वनित होती है।

—o—

गुञ्जत्कुञ्जकुटीरकौशिकघटाघुत्कारवत्कीचक-
स्तम्बाडम्बरमूकमौकुलिकुलः क्रौञ्चाभिधोऽयं गिरिः।
एतस्मिन्प्रचलाकिनां प्रचलतामुद्वेजिताः कूजितै-
रुद्वेल्लन्ति पुराणरोहिणतरुस्कन्धेषु कुम्भीनसाः॥२९॥

अन्वयः—गुञ्जत्कुञ्जकुटीरकौशिकघटाघुत्कारवत्कीचकस्तम्बाडम्बरमूकमौकुलिकुलः क्रौञ्चाभिधः अय गिरिः (अस्ति), एतस्मिन् प्रचलतां प्रचलाकिनां कूजितैः उद्वेजिताः कुम्भीनसाः पुराणरोहिणतरुस्कन्धेषु उद्वेल्लन्ति॥२९॥

हिन्दी—

[श्लोक २९] गूंजते हुए कुञ्ज-कुटीरों में उल्लुओं के समूह के 'घू-घू' शब्दों के समान ध्वनि वाले 'कीचकों' (हवा भरने से बजने वाले बांसों) के शब्दों से (भयभीत होने के कारण) मूक कौवों के कुल वाला यह "क्रौञ्च" नामक पवत है। यहां चलते (उड़ते) हुए मोरों के कूजन से भयभीत सर्प चन्दन के वृक्षों की शाखाओं में लिपट रहे हैं।

[सरलार्थ]—यह "क्रौञ्च" पर्वत है। यहां 'कीचकों' के झुण्डों में उल्लू 'घू-घू' करके चिल्ला रहे हैं। उनके इस शब्द को सुनकर कौए भय से बिल्कुल शान्त हो गये हैं। इधर-उधर मोर कूक रहे हैं; जिनके शब्दों से डरकर बेचारे सर्प पुराने चन्दन के वृक्षों से लिपट रहे हैं।]"

संस्कृत-व्याख्या

शम्बूकः क्रौञ्चपर्वतस्य सश्रीकतां दर्शयितुमाह—गुञ्जदिति। देव ! अयं क्रौञ्चनामा पर्वतः, एतस्यावलोकनमप्यावश्यकम्प्रतीयते। श्लोकेऽस्मिन् कठिनत्वात्पूर्वं कतिचित्पदानी सावधानतया ध्येयानि। कौशिकः=उलूकः। घुत्कारः=उलूकानां

ध्वनिः । कीचकाः=वेणवः । मौकुलिकुलम्=काक-कुलम् । प्रचलाकिनः=मयूराः रोहिणतरु=चन्दनवृक्षः । कुम्भीनसाः=सर्पाः ।

गुञ्जन्तः=शब्दायमानाः ये कुञ्जाः=निकुञ्जास्ते एव कुटीराः=स्वल्पा कुट्यः, तेषु कौशिकानाम्=उलूकानां या घटाः=समुदायाः, तासां यो घुत्कारः=ध्वनिविशेषः, तथाविधध्वनियुक्ता ये कीचकाः=वेणवः ("वेणवः कीचकास्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः"—इत्यमरः) तेषां स्तम्बानां=समुदायानां य आडम्बरः=शब्दविशेषस्तेन मूकानि=कृतमौनावलम्बनानि, मौकुलिकुलानि=काकसमूहा यस्मिन् सः क्रौञ्चाभिधः=क्रौञ्चनामाऽयं गिरिः=पर्वतः । किञ्च-एतस्मिन् पर्वते प्रचलताम्=इतस्ततो गमनशीलानाम् प्रचलाकिनां=मयूराणाम् कूजितैः=शब्दैः, उद्वेजिताः=भीतियुक्ताः कुम्भीनसाः=सर्पाः, पुराणाः=प्राचीनाः ये रोहिणतरवः=चन्दनवृक्षाः तेषां स्कन्धेषु, उद्वेल्लन्ति=परितश्चलन्ति ।

सरलार्थस्तु—एतस्मिन् क्रौञ्चपर्वते कीचकानां स्तम्बेषु गुञ्जतां कौशिकानां घुत्कारध्वनिं निशम्य काकाः मौनमालम्ब्य स्थिताः; किञ्च इतस्ततः प्रचलत मयूराणां शब्दमाकर्ण्य सर्पाः प्राचीन-चन्दन-पादपेषु भीताः सन्तः प्रचलन्ति ।

अत्र क्रौञ्चमिषेण संसारस्य स्वरूपमेवोपस्थापितमस्ति । सर्वेऽपि प्राणिनोऽत्र परस्परं भीतभीता इव निवसन्ति ।

अत्र रूपकालङ्कारः, स्वभावोक्तिश्च । द्वयोः साङ्कर्यम् । गौडी रीतिः । शार्दूलविक्रीडितं च्छन्दः ॥२९॥

टिप्पणी

(१) इस श्लोक में कवि ने अपने पाठकों को "क्रौञ्च"—वर्णन के बहाने संसार के सच्चे स्वरूप की एक झलक दिखलाई है । वह यह कि—"संसार में प्रत्येक जीव एक दूसरे से डरा हुआ है ।" (२) वर्णनानुकूल शब्दों का प्रयोग द्रष्टव्य है ॥२९॥

अपि च ।

एते ते कुहरेषु गद्गदनदद्गोदावरीवारयो,
मेघालम्बितमौलिनीलशिखराः क्षोणीभृतो दाक्षिणाः ।
अन्योन्यप्रतिघातसङ्कुलचलत्कल्लोलकोलाहलै-
रुत्तालास्त इमे गभीरपयसः पुण्याः सरित्सङ्गमाः ॥३०॥

अन्वयः—कुहरेषु गद्गदनदद्गोदावरीवारयः मेघालम्बितमौलिनीलशिखराः ते एते दाक्षिणाः क्षोणीभृतः (सन्ति) । अन्योन्यप्रतिघातसङ्कुलचलत्कल्लोलकोलाहलैः उत्तालाः ते इमे गभीरपयसः पुण्याः सरित्सङ्गमाः (सन्ति) ॥३०॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति महाकविश्रीभवभूतिविरचित उत्तररामचरिते पञ्चवटीप्रवेशो नाम द्वितीयोऽङ्कः

हिन्दी—

और भी—

[श्लोक ३०]—गिरि-कन्दराओं में कल-कल-निनादिनी 'गोदावरी के जल से युक्त तथा मेघों के लिपटने से नीले-नीले शिखरों वाले ये दक्षिण दिशा के पर्वत (दिखलाई दे रहे) हैं। और (दूसरी ओर) परस्पर आघात-प्रतिघातों से चञ्चल तरङ्गों के कोलाहल से त्वरित-गति से अथाह जल वाले पवित्र नदियों के सङ्गम हैं।'

[सरलार्थ—शम्बूक कह रहा है—"महाराज ! देखिये ! इस दक्षिण दिशा में बहुत-से पर्वत हैं 'गोदावरी' नदी उनके पास को ही उछल-कूद करती हुई बह रही है। पर्वतों के शिखरों को मेघों ने ढक लिया है। अतः वे नीले-नीले दिखलाई पड़ रहे हैं। दूसरी ओर, ये नदियों के सङ्गम हैं जहां कि परस्पर लहरों की टक्कर के कारण बहुत कोलाहल हो रहा है।"]

महाकवि श्री 'भवभूति' विरचित 'उत्तररामचरित' में
'पञ्चवटी-प्रवेश' नामक द्वितीय अङ्क समाप्त।

संस्कृत-व्याख्या

पुनः शम्बूकः दक्षिणदिशि वर्तमानानां पर्वतानां सरित्संगमानाञ्च वर्णनं करोति—एते इति। देव ! एते दक्षिणदिग्भवाः पर्वता अपि विलोकनीयाः सन्ति। कीदृशा एते सन्तीत्याह—कुहरेषु=गर्त्तेषु नदन्ति=अव्यक्तध्वनिं कुर्वन्ति गोदावर्या नद्या वारीणि येषु ते, किंच मेघैरालम्बिता मौलयः=शिखराणि मेघान्ते, एते दाक्षिणाः=दक्षिणदिग्भवाः क्षोणीभृतः=पर्वताः सन्ति। किञ्च—अन्योन्यप्रतिघातेन सङ्कुलाः=सघना, चलन्तः प्रचलन्तो ये कल्लोलाः=वीचिमालाः, तेषां कोलाहलैः कल-कलध्वनिविशेषैः, उत्तालाः=शीघ्रगमनाः, गभीराणि पयांसि येषु ते, पुण्याः पावनाः, सरितां संगमाः सन्ति।

सरलार्थस्तु—अस्मिन् दक्षिणप्रान्ते बहवः पर्वताः सन्ति, येषां सविधे गोदा-नदी महता वेगेन कल-कल-ध्वनि-सहिता प्रवहति। येषां पर्वतानामुपरिभागे नीलमेघ-माला सर्वदा सन्नद्धा वर्तन्ते। अपिच—नदीनां संगमा अपि मनो हरन्तीव प्रेक्षकाणाम्। अन्योन्याघात-प्रतिघात-परम्पराभिर्नदीनां जले गभीरपयसामुच्चैस्तरां शब्दो भवति। ॥ इति ॥

एतेन चात्र—यथा परस्परं नदीनां संगमो भवति तथैव—

"नासूचितं विशेत् पात्रम्।"

इति। सिद्धान्तानुसारं तृतीयाङ्के नदीनां मुरला-तमसा-गङ्गादीनां संगमो भविष्यति। सीतया सह भवतोऽपि संगमो भाविष्यतीति सूचितं भवति।

अत्र स्वभावोक्तिः अलङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं च्छन्दः। ओजो गुणः। गौडी रीतिः ॥३०॥

अस्मिन्नङ्के पञ्चवट्यां रामस्य प्रवेशोऽभूदिति कृत्वाऽस्य नाम "पञ्चवटी-प्रवेशः" सार्थकः ॥

इति "उत्तररामचरित—नाटके "श्रीप्रियम्वदा"-ख्यटीकायां "पञ्चवटीप्रवेश" नाम द्वितीयोऽङ्कः। शिवमस्तु सर्वेषाम्।

टिप्पणी

(१) वर्णन के अनुरूप शब्दों के प्रयोग में भवभूति बड़े कुशल हैं। उनके शब्दों से वर्णनीय विषय का चित्र-सा सम्मुख उपस्थित हो जाता है। शब्दों में वर्ण्य विषय की झङ्कार उत्पन्न करना उनकी विशेषता है। "उत्तररामचरित" के 'पाँचवे' तथा 'छठें' अङ्क के श्लोकों में रणभूमि का वर्णन करते समय वही शास्त्रों की झन-झनाहट हमारे कर्ण-कुहरों में गूंजने लगती है। "मालती-माधव" के नवें अङ्क में भयङ्कर झंकावात के वर्णन में वही हवा के झझकोरे सुनाई देने लगते हैं। प्रस्तुत पद्य में भी गिरि-गुहाओं में 'गद्-गद्'–नाद से बहने वाली 'गोदावरी' का वर्णन पढ़ते ही हृदय गद्गद हो उठता है।

इसके साथ-साथ इस श्लोक में वर्णित नदियों के सङ्गम से–"नासूचितं विशेत् पात्रम्" इस नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्तानुसार—'तृतीय' अङ्क में होने वाले "तमसा"–"मुरला" आदि नदियों के सङ्गम की सूचना मिलती है।

श्री 'प्रियम्वदा'–टीकालंकृत 'उत्तररामचरित'-नाटक के "पञ्चवटी-प्रवेश" नामक द्वितीय अङ्क का सटिप्पण हिन्दी-अनुवाद समाप्त ॥

तृतीय अंक

(छाया)

"एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्,
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारान्,
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्" ॥

तृतीय अङ्क की कथावस्तु का विश्लेषण—

घटनाओं की दृष्टि से उत्तररामचरित के तृतीय अङ्क को निम्नलिखित दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(क) शुद्ध विष्कम्भक तथा
(ख) अवशिष्ट अंश ।

शुद्ध विष्कम्भक

[स्थान—दण्डकारण्य]

इसमें 'तमसा' एवं 'मुरला' नामक दो नदियाँ परस्पर वार्तालाप करती हैं । उनकी वार्त्ता निम्नलिखित चार बातों की सूचना देती है—

(१) लोपामुद्रा का सन्देश ।
(२) सीता जी का, वन में त्याग कर दिये जाने के उपरान्त का वृत्त ।
(३) लवकुश की वर्षगांठ ।
(४) गङ्गा-प्रभाव से सीता जी की अदृश्यता ।

(१) मुरला को भगवान् अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा ने गोदावरी से अपना सन्देश कहने के लिये भेजा है । उनके सन्देश का सार यह है:—"रामचन्द्रजी सीता-वियोग में अत्यन्त कृश हो गये हैं । वे अगस्त्य-आश्रम से लौटकर पुनः दण्डकारण्य के उन-उन प्रान्तों को देखेंगे, जहाँ उन्होंने वनवास-काल में सीता जी के साथ निवास किया था । ऐसी अवस्था में उनके मूर्छित हो जाने की बहुत कुछ सम्भावना है, अतः उन्हें (गोदावरी को) उनकी (रामचन्द्र जी) की रक्षा करनी चाहिए ।

(२) जब लक्ष्मण सीताजी को वाल्मीकि-ऋषि के तपोवन के पास छोड़कर चले गए थे तब प्रसव-वेदना के कारण वे गङ्गाजी में कूद पड़ी थीं। वहाँ उनके दो पुत्र हुए, जिनको गङ्गा और पृथ्वी ने पाताल में पहुँचा दिया, दुग्धत्याग के अनन्तर गङ्गाजी ने उनको वाल्मीकि के आश्रम पर पहुंचा दिया, जिन्होंने उनका लव एवं कुश नाम रखकर शास्त्राध्ययन कराना आरम्भ कर दिया है।

(३) सीताजी के परित्याग को आज बारह वर्ष हो गए हैं। आज उनके पुत्रों की बारहवीं वर्षगाँठ है। अतः वे भगवान् सूर्य की पूजा के लिए पृथ्वी पर आई हुई हैं। भगवती भागीरथी ने 'तमसा' को सीताजी के साथ ही रहने का आदेश दिया है।

(४) गङ्गाजी के प्रभाव से सीताजी को मनुष्य क्या वनदेवता भी नहीं देख सकते हैं। वे रामचन्द्रजी की मूर्च्छा को दूर करने में उपाय स्वरूप हैं।

(ख) अवशिष्ट अंश

[स्थान—पञ्चवटी]

सीताजी पूजा के लिए पुष्पावचयन करती हुई प्रविष्ट होती हैं। इसी समय बासन्ती नेपथ्य में यह कहती है कि सीता द्वारा पाले पोसे गए हाथी पर किसी ने आक्रमण कर दिया है। इस पर वे रामचन्द्र जी का सम्बोधन कर, पुनः नेपथ्य में रामचन्द्रजी के वचन सुनकर तथा उनके कृश शरीर को देखकर मूर्च्छित हो जाती हैं। इधर रामचन्द्र भी पुरातन वस्तुओं को देखकर सीता की स्मृति में मूर्च्छित होकर गिर पड़ते हैं, जिनको तमसा के आदेशानुसार सीताजी अपने स्पर्श से आश्वस्त कर देती है।

इसी समय पुनः सीताजी को हाथी का वृत्तान्त सुनाई देता है, जिसका प्रतीकार करने के लिये रामचन्द्र जी उठ खड़े होते हैं, किन्तु वासन्ती प्रवेश करके उनको हाथी की विजय की सूचना देती है। इधर रामचन्द्र जी तथा वासन्ती सीता-विषयक वार्त्तालाप करते हुए उनके मयूर को देखने लगते हैं, उधर बीच-बीच में (अदृश्य) सीता तथा तमसा की भी बातचीत होती रहती हैं।

वासन्ती रामचन्द्रजी से लक्ष्मण की कुशलता पूछकर यथावसर सीता के परित्याग का कारण पूछती है तथा रामचन्द्रजी को अनेकानेक प्रश्नों से अनेक बार रुला देती है। राम मूर्च्छित हो जाते हैं। सीता उन्हें पुनः आश्वस्त कर देती हैं। राम पुनः विलाप करते हुए सीता-विषयक वार्त्तालाप कर वासन्ती से विदा लेते हैं। उधर सीता उनके गमन से मूर्छित हो उठती हैं। अन्त में वासन्ती रामचन्द्रजी को तथा तमसा सीताजी को आशीर्वाद देती हैं।

(क) रामचन्द्रजी एवं वासन्ती की बातों से निम्नलिखित सूचनाएं मिलती हैं:—

(१) रामचन्द्रजी ने लोकाराधन के लिये सीताजी का परित्याग किया है। (यहाँ दुर्मुख द्वारा प्रथम अङ्क में लाए गए समाचार का, नाटकीय वैशिष्ट्य बनाये रखने के कारण सङ्केत नहीं किया है।)

(२) रामचन्द्रजी को वन में सीताजी के मरण की पूर्ण सम्भावना है।

(३) रामचन्द्रजी बारह वर्षों से सीता की विरह-वेदना से व्याकुल हैं। इस वेदना को वे लोकाराधन के लिये दबाए हुए हैं। किन्तु वे सीता के सम्मान की रक्षा में निरन्तर लगे हुए हैं। उन्होंने अश्वमेध यज्ञ में सीताजी की हिरण्मयी मूर्ति को ही पत्नी के स्थान पर प्रतिष्ठित किया है।

(ख) सीता एवं तमसा की उक्ति-प्रत्युक्तियों से ये सूचनाएं मिलती हैं:—

(१) सीताजी अपने निर्वासन के कारण से नितान्त अपरिचित हैं।

(२) सीताजी लव एवं कुश की वर्तमान स्थिति से अवगत नहीं हैं।

(३) रामचन्द्रजी को भी सीता जी के पुत्रों के विषय में कोई सूचना नहीं मिली है।

तृतीय अङ्क का नाटकीय महत्व

(१) तृतीय अङ्क की आवश्यकता—

(क) नाटकीय दृष्टि से तृतीय अङ्क का अत्यन्त महत्व है। इस अङ्क में नाटकीयता मनोविज्ञान का सम्पर्क पाकर सजीव एवं सहृदयश्लाघ्य हो उठी है। भवभूति ने अपनी कल्पना का प्रयोग कर सीताजी को रामचन्द्रजी की व्याकुलता का दर्शन कराने का उपयुक्त अवसर निकाला है। इधर प्रजापालक राम का सीताजी की स्मृति में व्याकुल होने का सर्वोत्तम अवसर दण्डकारण्य में ही मिल सकता है। यदि भवभूति रामचन्द्र जी की इस व्याकुलता का प्रदर्शन, राम के शासन-कार्यों के बीच, या उनके निवास गृह में, अथवा उनके लक्ष्मण आदि भाइयों के मध्य कराते तो यह व्याकुलता एकपक्षीय होकर सीताजी की सहानुभूति नहीं प्राप्त कर सकती थी।

(ख) सीता के विचारों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण—

तृतीय अङ्क में रामचन्द्र जी की व्याकुलता का सीताजी के विचारों पर उत्तरोत्तर अधिक प्रभाव पड़ता है। सीताजी रामचन्द्रजी को दो रूपों में देखती है—(१) राजा तथा (२) पति। उनकी धारणा है कि रामचन्द्रजी ने उन्हें निराधार निष्कासित किया है। अतः उनका रामचन्द्रजी के प्रति कुछ आक्रोश होना मनोवैज्ञानिक आधार पर स्वाभाविक ही है। किञ्च, वे रामचन्द्रजी की कठोरता से भी पूर्ण परिचित हैं, इसलिए पहले स्पर्श में तमसा से "भअवदि तमसे ! ओसरह्म दाव्वं। मं पेक्खिअ अणब्भणुण्णादेन संणिहाणेन राआ अपिअं कुप्पिस्सदि।" [भगवति तमसे ! अपसरावस्तावद्। मां प्रेक्ष्यानभ्यनुज्ञातेन सन्निधानेन राजाऽधिकं कोपिष्यति।] कहकर दूर हट जाने की इच्छा प्रकट करती हैं। किन्तु तमसा के

आदेश से रामचन्द्रजी के पास बैठकर उनका स्पर्श करती हुई वे विश्वास करने लगती हैं "अहं एव्व एदस्स हिअअं जाणामि, मह एसो।" [अहमेवैतस्य हृदयं जानामि, ममैषः।] सीताजी के मनोभावों की यह प्रथम सीढ़ी है। उनके इन भावों की दूसरी सीढ़ी तब दिखाई देती है जबकि वासन्ती रामचन्द्रजी को सीता का परित्याग के कारण दारुण एवं कठोर बताती है। सीताजी में नारी–जनोचित भावनाएं [Feminine Instinct] जागृत होकर "सहि वासन्दि ! किं तुमं एव्व-वादिणी होसि ?" (सखि वासन्ती ! किं त्वमेवंवादिनी भवसि ?) "सहि वासन्दि ! विरम विरम !" (सखि वासन्ति ! विरम विरम।) "सहि वासन्दि ! तुमं एव्व दालुणा कठोरा अ, या एव्व पलवन्तं पलावेसि।" सखि वासन्ति। त्वमेव दारुणा कठोरा च, यैवं प्रलपन्तं प्रलापयसि इत्यादि उत्तरोत्तर निषेध-वाक्यों का प्रयोग करती है तथा अपने पति को निर्दोष समझकर "अज्जउत्त ! सो एव्व दाणि सि तुमम्" (आर्यपुत्र ! स एवेदानीमसि त्वम्।) सोचने लगती हैं एवं "हद्दी हद्दी ! अज्जवि अणुबद्धबहुघुम्मन्तवेंअणं ण संठावेमि अत्ताणम्।" (हाधिक् हाधिक् ! अद्याप्यनुबद्धबहुघूर्णमानवेदनं न संस्थापयाम्यात्मानम्। की स्थिति में आ जाती हैं। ये दोनों मनोभावों की स्थितियाँ सीताजी को और भी आगे बढ़ा देती हैं, जबकि वे जान लेती हैं कि उनके पतिदेव द्वितीय विवाह नहीं करेंगे। बस उनका आक्रोश श्रद्धा और विश्वास में परिवर्तित हो जाता है और वे सुकृत-पुण्यजन-दर्शनीय आर्यपुत्र के चरण-कमलों में नमस्कार करती हुई मूर्च्छित हो जाती हैं।

(२) पात्रसृष्टि—

कवि ने काव्यीय न्याय (Poetic gustice) करने के लिये जहाँ एक ओर सीतादेवी को रामचन्द्रजी के दर्शन का अवसर दिया, वहाँ दूसरी ओर उनके प्रस्तुती-करण में कला का प्रयोग भी किया है। भागीरथी के प्रभाव से सीताजी, मनुष्यों की तो चर्चा ही क्या, देवताओं को भी दिखाई नहीं दे सकती। उक्त तथ्य की सूचना अङ्क में दो बार मिलती है। सीता का राम विषयक प्रेमातिरेक उन्हें चञ्चल न बनादे इसलिए कवि ने तमसा पात्र की सृष्टि की है। उधर सीता की सखि वासन्ती के बिना रामचन्द्रजी को इतना अधिक विलाप करने का अवसर नहीं मिल सकता था, और यदि मिलता भी तो वह नाटकीय दृष्टि से उबा देने वाला हो सकता था। अतएव कवि से इस अङ्क में पात्रों को आवश्यकता के आधार पर ही रखा है, उनकी भर्ती नहीं की है। कथन एवं उपकथन भी सर्वथा नाटकीय और मनोवैज्ञानिक हैं। इस अङ्क के पात्र युग्म के रूपों में चित्रित हैं। सीता और तमसा तथा राम और वासन्ती का युग्म रूप में ही चित्रण किया गया है।

(३) चरित्र-चित्रण—

चरित्र–चित्रण की दृष्टि से भी उक्त अङ्क अपूर्व है। दूसरे अङ्क तक अधिकतर रामचन्द्रजी राजा के रूप में ही चित्रित किए गए हैं। दण्डकारण्य में वे प्रजाहित को ही ध्यान में रखकर आते हैं और जब तक शम्बूक का वध नहीं कर देते हैं तब तक सीताजी की स्मृति में एक भी उच्छ्वास नहीं छोड़ते हैं। तीसरे

अङ्क में वे शुद्ध रूप से पतिरूप में ही चित्रित किए गए हैं। दूसरे अङ्क की रामचन्द्र जी की करुणा इस अङ्क में पराकाष्ठा (Climax) पर पहुंच जाती है। दूसरी ओर सीताजी का चरित्र भी पत्नी के रूप में चित्रित किया गया है। यद्यपि माता के रूप में भी वे दिखाई देती हैं, किन्तु प्राधान्य पत्नी-रूप का ही है। वे विरह-वेदना से पूर्ण परिचित हैं। अतएव अपने पाले हुए हाथी को देखकर "अविउत्तो दाणि दीहाऊ इमाए सोह्मदंसणाए होदु" (अवियुक्त इदानीं दीर्घायुरनया सौम्यदर्शनया भवतु) ऐसी प्रार्थना करती हैं और रामचन्द्रजी "कान्तानुवृत्तिचातुर्यमपि शिक्षितं वत्सेन।" कहकर अपने कान्तानुवृत्ति-अचातुर्य की पुष्टि करते प्रतीत होते हैं। संक्षेप में तृतीय अङ्क चरित्र, भावना, काल एवं कारुण्य की दृष्टि से द्वितीय अङ्क का पूरक है।

(४) प्रकृति-चित्रण—

इस अङ्क का प्रकृति-चित्रण पात्रों की मनोभावनाओं के सर्वथा अनुकूल है। प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ का मनोवैज्ञानिक महत्व है। हाथी को हथिनी के एवं मयूर को मयूरी के साथ देखकर रामचन्द्र जी को अपना एकाकी जीवन अवश्य ही खटकता है। पञ्चवटी का लतागृह यदि एक ओर वासन्ती को सीताजी की मुग्धप्रणामाञ्चलि का स्मरण कराता है तो दूसरी ओर रामचन्द्रजी भी ऐसा अनुभव करने लगते हैं कि उनको प्रकृति में इधर-उधर सीताजी दिखाई सी तो दे रही हैं, किन्तु प्रकट होकर उन पर अनुकम्पा नहीं कर रही हैं।

(५) घटनाकाल—

इस अङ्क तथा प्रथम अङ्क की घटना में बारह वर्ष का अन्तर है। इतने समय की सूचना देने के लिए कवि ने लव–कुश की वर्ष गाँठ तथा हाथी आदि चित्रों के वर्णन को उपयुक्त समझा है।

(६) नामकरण—

कवि ने तृतीय अङ्क को 'छाया अङ्क' कहा है। यह नामकरण नाटक की घटनाओं से सम्बन्ध रखता है। इसीलिए यहाँ तमसा सीता जी के साथ, सीताजी रामचन्द्रजी के साथ एवं रामचन्द्रजी वासन्ती के साथ छाया के समान अनन्य रूप से दिखाई दिये गये हैं। दूसरे, रामचन्द्रजी के विचारों में सीताजी छाया के समान निरन्तर घूम रही है। तीसरे, रामचन्द्रजी एवं सीताजी की शारीरिक स्थिति केवल छाया (कान्ति) मात्र रह गई है। चौथे जिस प्रकार सन्तप्त व्यक्तियों को छाया सन्तोष प्रदान किया करती है उसी प्रकार इस अङ्क में शोकक्षोभ के प्रलापों से रामचन्द्रजी को, रामचन्द्रजी के दर्शन से सीताजी को, रामचन्द्रजी की पश्चात्ताप शुद्धि से वासन्ती को तथा दोनों (राम एवं सीता) के पारस्परिक स्पर्श से तमसा को परम सन्तोष मिलता है। पांचवे, रामचन्द्रजी अपने मुख से ही वासन्ती से यज्ञ में सीताजी की स्वर्णमयी मूर्त्ति की चर्चा करते हैं जिससे सीताजी को परम धैर्य एवं सन्तोष मिलता है, क्योंकि वह उनकी ही तो छाया है। छठे, इस अङ्क के अन्तिम श्लोक में रामचन्द्रजी एवं सीताजी को मिलने की भी छाया (आभास) मिलती है। इन सब कारणों से कवि ने इस अङ्क का नाम "छाया अङ्क" रखा है।

तृतीयोऽङ्कः ।

(ततः प्रविशति नदीद्वयम्)

एका—सखि मुरले ! किमसि सम्भ्रान्तेव ?

मुरला—सखि तमसे ! प्रेषितास्मि भगवतोऽगत्स्यस्य पत्न्या लोपामुद्रया सरिद्वरां गोदावरीमभिधातुम् "जानास्येव यथा वधूपरित्यागात्प्रभृति—

अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः ।
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः ॥१॥

अन्वयः—गभीरत्वात्, अनिर्भिन्नः, अन्तर्गूढघनव्यथः, रामस्य, करुणः, रसः, पुटपाकप्रतीकाशः (अस्ति) ॥१॥

तेन च तथाविधेष्टजनकष्टविनिपातजन्मना प्रकृष्टगद्गदेन दीर्घशोकसन्तानेन सम्प्रति परिक्षीणो रामभद्रः । तमवलोक्य कम्पितमिव कुसुमसमबन्धनं मे हृदयम् । अधुना च रामभद्रेण प्रतिनिवर्तमानेन नियतमेव पञ्चवटीवने वधूसहनिवासविस्रम्भसाक्षिणः प्रदेशा द्रष्टव्याः । तत्र च निसर्गधीरस्याप्येवंविधायामवस्थायामतिगम्भीराभोगशोकक्षोभसंवेगात्पदे पदे महाप्रमादानि शोकस्थानानि शङ्कनीयानि । तद्भगवति गोदावरि ! त्वया तत्रभवत्या सावधानया भवितव्यम् ।

वीचीवातैः सीकरक्षोदशीतैराकर्षद्भिः पद्मकिञ्जल्कगन्धान् ।
मोहे मोहे रामभद्रस्य जीवं स्वैरं स्वैरं प्रेरितैस्तर्पयेति ॥२॥

अन्वयः—सीकरक्षोदशीतैः, पद्मकिञ्जल्कगन्धान् आकर्षद्भिः, स्वैरं प्रेरितैः वीचीवातैः, रामभद्रस्य मोहे-मोहे जीवं तर्पय इति ॥२॥

हिन्दी—

[तदनन्तर दो नदियों—'तमसा' और 'मुरला' का प्रवेश होता है ।] एक (तमसा)—सखि मुरले ! घबराई हुई-सी क्यों हो ?

मुरला—सखि तमसे ! मुझे भगवान् अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा ने नदियों

में श्रेष्ठ गोदावरी से यह कहने के लिये भेजा है—कि "तुम जानती ही हो कि वधू (सीता) के परित्याग (के समय) से लेकर—

[श्लोक १] गम्भीरता के कारण (दूसरों के लिये) अव्यक्त राम का 'करुण रस' (उस) 'पुटपाक' के समान है जिसमें अन्दर ही अन्दर तीव्र वेदना छिपी रहती है। [आशय यह है कि राम गम्भीर हैं, इस कारण यद्यपि उनके हृदय में सीता-परित्याग की एक गूढ़ व्यथा सदैव रहती है तथापि वे उसे किसी के सामने प्रकट नहीं होने देते। 'पुटपाक' के समान ही उनके हृदय में एक वेदना सदा खटकती रहती है।]

इस कारण प्रियतमा (सीता) पर टूटने वाली उस घोर विपत्ति से उत्पन्न, अत्यन्त विह्वल बनाने वाले लम्बे शोक से अब रामभद्र बहुत दुर्बल हो गये हैं। उनको देखकर पुष्प के समान (कोमल) बन्ध वाला मेरा हृदय कांप-सा उठा है। इस समय रामभद्र लौटते हुए 'पञ्चवटी' में सीता के साथ अपने स्वच्छन्द विहारों के साक्षी प्रदेशों को अवश्य ही देखेंगे ऐसी दशा में बड़े भारी शोकावेग के कारण पग-पग पर असावधानताजन्य मूर्छा (आदि अनेक) अनर्थ सम्भव हैं। अतः भगवति गोदावरि ! आपको सावधान रहना चाहिये। (राम पञ्चवटी के दृश्यों को देखते हुए कोई अनर्थ न कर बैठें, इसलिए तुम सावधान होकर उनकी देख-भाल करना।)

[श्लोक २] (पूर्व-परिचित प्रदेशों को देखने से) बार-बार मूर्छित रामभद्र को (गोदावरी) जल की छोटी-छोटी बूंदों से शीतल, मन्द-मन्द बहने वाले तथा 'कमल-केशर' का गन्ध लेकर उड़ने से सुरभित अपनी लहरों के समीर से प्रकृतिस्थ रखना (होश में लाना।)"

संस्कृत-व्याख्या

अथ तृतीयाङ्के सीता—रामयोः संगमनार्थं नदीद्वयमवतारयति कविः। तत्रैका नदी द्वितीयामाह—सखि ! मुरले। "किमसि सम्भ्रान्तेव ?" इति। सा प्राह—

अहं भगवतोऽगस्त्यस्य पत्न्या लोपामुद्रया सन्दिष्टं गोदावर्याः समीपे प्रापयितुं गच्छामि, तत्र सन्देशे सीता-परित्यागात्तत्रभवतो रामस्य कीदृशी दशेति विशेषरूपेण वर्णितं, सत्यवसरे सावधानया गोदावर्या भवितव्यमिति निहितमस्ति। अथ रामस्य दशामेवादौ वर्णयति—अनिर्भिन्न इति।

रामस्य करुणो रसः पुटपाकसदृशो विद्यते, गभीरत्वान्निर्भिन्नो न जातोऽपितु—अन्तर्गूढा सघना च व्यथाऽवश्यं वर्तते। रामः स्वभावेनैव गम्भीर इति हेतोः शोको बहिर्न भवति, मध्येहृदयमेव परितापमनुविन्दति, स्वयं सीतायाः परित्यागं कृत्वाऽन्यस्य कस्यचिदग्रे विलपनसमयोऽपि नास्ति इति भावः।

शब्दार्थस्त्वेवम्—गभीरत्वात् गाम्भीर्यात्, पक्षे-सघनप्रलेपयुक्तत्वात्, अनिर्भिन्नः= अव्यक्तः पक्षे—अविदीर्णः, अतएव अन्तर्गूढघनव्यथः अन्तः=अन्तःकरणे, गूढा=

गुप्ता, घना=प्रगाढा, व्यथा=पीडा यस्य सः, पक्षे—अन्तः=मध्यभागे, गूढा घना व्यथा=दाहो यस्य सः, तथाविधो रामस्य करुणो रसः, पक्षान्तरे रसः=पारदादिः, पुटपाक-प्रतीकाशः=मृत्तिकया लिप्ते पात्रविशेषे यः पाकः=औषधादीनां पचनं तत्प्रतीकाशस्तत्तुल्योऽस्ति। मृद्विलपितयोः पात्रयोर्मध्ये स्थितस्य सुवर्णादिकस्याग्नौ सन्तापो यथा बहिर्नोपलक्ष्यते तथैव रामस्यापि शोको बहिर्नायाति। सोऽभ्यन्तरमेव तद्दुःख सहरे इति भावः।

'पुटपाक' इति। वैद्या द्वयोः पात्रयोर्मध्ये किमपि भेषजं सुवर्णादिकं वा धृत्वा बहिर्मृत्तिकया लेपं कृत्वा च वह्नौ परितापयन्ति। अभ्यन्तर एव तस्य परिपाको भवति। 'रस' —संज्ञया च स उच्यते।

करुणो रसः इति। यद्यपि "रसस्योक्तिः स्व शब्देत" इति नियमात् स्वशब्देन शृङ्गारादिशब्देन वाभिधानं दुष्टम् तथापि यत्र विभावादिभिर्व्यञ्जितः सन् स्वशब्देनाभिधीयते 'रस' तत्रैव दोषः। अत्र च वस्तुस्वरूपेणैव स्थितोऽतो न दोषशङ्का-कलङ्क-सम्पर्कोऽपि।

अत्रोमालङ्कार। अनुष्टुप् छन्दः॥ ॥

आगामिनीं विपत्तिमाशङ्क्याह—तेन इति। तेन तादृशपरमप्रेमास्पद-सीता-रूपेष्टजनस्य कष्टस्य यो विनिपातः=पतनं=प्राप्तिरित्यर्थः, तस्माज्जन्म यस्य तेन। प्रकृष्टगद्गदेन=अतिशयितगद्गदेन, औत्सुक्याधिक्यवशाज्जायमानो हृदयस्य विकृति-विशेषः कण्ठस्य ध्वनिविशेषश्च 'गद्गदे' ति व्यपदिश्यते। तेन दीर्घशोकसमूहेन। वध्वा=सीतया सह निवासस्य यो विस्रम्भः=स्वतन्त्रतया विहारः। तस्य साक्षिणः=द्रष्टारः। अतिभम्भीरः आभोगः=शरीरं यस्य एवंविशोकस्तन्यो यः संवेगस्त-स्मात्। रामभद्रः शोक-सन्तप्तः पञ्चवटी-प्रदेशानवलोक्य शोकस्यावेगादनर्थं मा कुर्यादिति भगवत्या गोदावर्या सावधानया भवितव्यमिति सारः।

कथं सावधानता कर्तव्येति निर्दिशति—वीचीवातैरिति।

"यदा पूर्वपरिचितानां पदार्थानां दर्शनेन रामभद्रो विमुग्धो भविष्यति, तदा गोदावरि! भवत्या कमलानां गन्धं जलकणांश्चादाय शनैः-शनैः प्रेरितैः स्वकीयै वीचीनां पवनैः तस्य जीवः सन्तर्पणीयः" इति सन्देशः।

अत्र वातस्य शैत्यम्, सौगन्ध्यम्, मन्दसञ्चारश्च गम्यते। "किञ्जल्कः केसरोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः। स्वभावोक्ति अलङ्कारः। शालिनी च्छन्दः। लक्षणञ्च-"शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः" इति॥२॥

टिप्पणी

(१)अनिर्भिन्नो…रसः—इस श्लोक में पुटपाक की तुलना द्वारा श्रीराम के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। उनकी गम्भीरता और भावुकता दोनों ही स्पष्ट प्रकट हो रही हैं। "पुटपाक"—शब्द की व्याख्या अपेक्षित है। यह आयुर्वेद का पारिभाषिक शब्द है। वैद्य लोग एक मिट्टी के पात्र में औषधि रख

कर दूसरे पात्र से ढक देते हैं। तदन्तर उस मिट्टी का लेप कर आँच में रख देते हैं जिससे अन्दर ही अन्दर औषध खदक-खदक कर पक जाती है। वैद्यक की इस प्रक्रिया को "पुटपाक' कहा जाता है। यही दशा श्रीरामजी की है। सीताजी का वियोग उन्हें भीतर ही भीतर दुःखी कर रहा है। वे और किसी को अपना दुःखड़ा सुना नहीं सकते क्योंकि वे गम्भीर प्रकृति के व्यक्ति हैं। यदि वे और किसी के समक्ष अपनी व्यथा अभिव्यक्त करके हृदय हल्का करना चाहते तो कर सकते थे क्योंकि— "स्निग्धजनसंविभक्तं हि दुःखं सह्य-वेदनं भवति" (अभिज्ञान०) किन्तु गम्भीर होने के कारण वे ऐसा नहीं कर सके। प्रतीकाशः—तुल्यः। "!साधारणः समानश्च स्युरुत्तरपदे त्वमी। निभसंकाश-श्लोकनीकाशप्रतीकारोपमादयः।" इत्यमरः। पाठान्तर—'अनिर्भिन्नगम्भीरत्वात्।' (२) करुणो रसः—यहाँ 'रसस्योक्तिः स्वशदेन' नियमानुसार रस की स्व-शब्द से उक्ति होने के कारण दोष नहीं मानना चाहिए, क्योंकि जहाँ विभावादि से व्यञ्जित रस स्वशब्द से कहा जाता है वहीं दोष होता है। यहाँ पर तो वह वस्तु रूप से ही स्थित है। अतः दोष की शंका नहीं है। वीचीवातै'''तर्पयेति—यहां यह शंका नहीं करनी चाहिए कि सुरभित, शीतल और मृदु पवन विरहियों को कष्ट प्रदान करने वाले होने के कारण तृप्त कैसे कर सकते हैं? चैतन्यदशा में ही इनसे कष्ट मिलता है मूर्च्छावस्था में नहीं। इस विषय में वीरराघव के शब्द द्रष्टव्य हैं:—

"अत्र स्वैरमित्युक्त्वा सुरभिशीतलमृदुवाता अपि विरहिणामनर्थकारिण इति न शङ्कयम्। विरहिणां चैन्यदशायामेव दुःसहा इमे, मूर्च्छितानां तु प्राणप्रतिष्ठापनकरा एव। नातस्त्वयातिशंका कर्त्तव्येति व्यज्यते"

कोषः—'सीकरोऽम्बुकणाः स्मृताः" "किञ्जल्कः केसरोऽस्त्रियाम्" "मन्द-स्वच्छन्दयोः स्वैरम्" इति चामरः।

तमसा—उचितमेव दाक्षिण्यं स्नेहस्य। सञ्जीवनोपायस्तु मूलत एव रामभद्रस्य सन्निहितः।

मुरला—कथमिव।

तमसा—तत्सर्वं श्रूयताम्। पुरा किल वाल्मीकितपोवनोपकण्ठात्परित्यज्य निवृत्ते लक्ष्मणे सीतादेवी प्राप्तप्रसववेदनमतिदुःखसंवेगादात्मानं गङ्गाप्रवाहे निक्षिप्तवती। तदैव तत्र दारकद्वयं च प्रसूता भगवतीभ्यां पृथ्वीभागीरथीभ्यामप्युभाभ्यामभ्युपपन्ना रसातलं च नीता। स्तन्यत्यागात्परेण दारकद्वयं च तस्य प्राचेतसस्य महर्षेर्गङ्गादेव्या समर्पितं स्वयम्।

मुरला—(सविस्मयम् ।)

ईदृशानां विपाकोऽपि, जायते परमाद्भुतः ।
यत्रोपकारिणीभावमायात्येवंविधो जनः ॥३॥

अन्वयः—इदृशानां, विपाकः, अपि, परमाद्भुतः, जायते, यत्र एवंविधः, जनः, उपकरणीभावम्, आयाति ॥३॥

हिन्दी—

तपसा—(लोपामुद्रा का यह उदार) व्यवहार स्नेह के अनुरूप ही है। (किन्तु) राम के सञ्जीवन का (होश में लाने का) मूल उपाय (सीता) तो समीप ही है।

मुरला—कैसे ?

तमसा—वह सब कुछ सुनिये। (कुछ समय) पहले वाल्मीकि-आश्रम के पास से, सीता को छोड़कर लक्ष्मण के लौट जाने पर सीता देवी ने प्रसव-वेदना से अत्यन्त दुःखित होकर अपने को गङ्गा के प्रवाह में फेंक दिया। तभी उन्होंने वहां दो बालकों को जन्म दिया और पृथ्वी तथा भागीरथी इन दोनों ने अनुग्रह करके उनको रसातल पहुंचा दिया। माता का दूध छोड़ देने के बाद, गंगादेवी ने उन दोनों बालकों को स्वयं महर्षि वाल्मीकि को समर्पित कर दिया।

मुरला—(आश्चर्य सहित)—

[श्लोक ३] ऐसे (सीता-राम-सदृश) महानुभावों का विषम परिणाम (विपत्ति भी) बड़ा विचित्र होता है जहां कि ऐसे (अलौकिक गंगा आदि अलौकिक व्यक्ति भी सहायक होते हैं। (आशय यह है कि महानुभावों की विपदवस्था भी बड़ी विचित्र होती है। उनकी सहायता करने के लिए अलौकिक विभूतियां स्वत आ जाती हैं। बेचारी सीता गंगा जी में कूदी थीं डूबने के लिए परन्तु वहां उनके पुत्र उत्पन्न हो गये; और गङ्गा एवं पृथ्वी ने स्वयं उनकी रक्षा भी की। यह विचित्र परिणाम नहीं तो और क्या है ?] ॥३॥

संस्कृत-व्याख्या

शब्दार्थः—दाक्षिण्यम्=औदार्यम् । उपकण्ठात्=समीपात्, दारकद्वयम्=बालकद्वयम् । अभ्युपपन्ना=अनुगृहीता । प्राचेतसस्य महर्षेः=वाल्मीकेः ।

सीतायाः परित्यागे कुश—लवयोरुत्पत्तौ गंगापृथिवीभ्यां सीतायामनुगृहः कृतः, इति श्रुत्वा साश्चर्यमाह मुरला ईदृशानामिति ।

ईदृशानां=सीतारामतुल्यानां महानुभावानां, विपाकोऽपि=विषम-परिणामोऽपि, परमाद्भुतः=परमविचित्रो जायते । यत्र, एवंविधः=गंगापृथिवीसदृशो जन उपकरणीभावम्=सहायकत्वम्, स्वत एवापाति । एतेन प्रतीयते सौभाग्यशालिनां कृते सर्वत्र सुख-साधनसम्पत्तिः सुलभा भवतीति ।

अत्र काव्यलिङ्गालङ्कारः । अनुष्टुप् छन्दः ॥३॥

टिप्पणी

(१) दाक्षिण्यम्=दक्षिणस्य भावो दाक्षिण्यम्। दक्षिण+ष्यञ्। "गुणवचन-ब्रह्मणादिभ्यः कर्मणि च" (पा० ५।१।१२२) इति ष्यञ्। "दक्षिणे सरलोदारौ" इत्यमरः। (२) मूलत एव—पाठा०, "मौलिक एव"। मूलतः=मूल+तसिः "अपादाने चाहीयरुहोः" (पा० ५।२।४५)। मौलिकः=मूल+ठञ्; "तत आगतः" (पा० ४।३।७४)। मूलसम्बन्धीत्यर्थः। मूलं सीतेति वा। "मूलं पत्नी निदानयोः" इति हैमः। "मौलिक" कहने का अभिप्राय यह भी है कि श्रीराम का सञ्जीवनोपाय तो सीता जी ही हैं। अन्य किसी नारी में उन्हें होश में लाने की क्षमता कहाँ। (३) प्रसूता—प्र+√सू+क्त कर्त्तरि "आदिकर्मणि क्तः कर्त्तरि च" (पा० ३।४।७१) (४) रसातलम्—रसायाः पृथिव्यास्तलम्। तल सात हैं:—अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल तथा पाताल। भूर्भूमिरचलाऽनन्ता रसा विश्वम्भरा स्थिरा" "अधः स्वरूपयोरस्त्री तलम्" इति चामरः। (५) स्तन्यत्यागात्—"अन्या-रादितरर्त्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाज्जाहियुक्ते" इति पञ्चमी। (६) परेण—"इत्थम्भूत-लक्षणे" (पा०) २।३।२१) अथवा "अपवर्गे" इति तृतीया। पहले नियम में "परेण-उपलक्षितम्" यह शेष होगा। (७) प्राचेतसस्य—प्रचेतस्+अण्—प्रचेतसः। "कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठयेव" इति वचनाद् सम्प्रदानार्थे षष्ठी। (८) विपाकः=वि+√पच्+घञ्+भावे कर्मणि वा। (९) उपकारीभावः—उपकरण+च्वि+√भू+घञ् भावे।

तमसा—इदानीं तु शम्बूकवृत्तान्तेनानेन सम्भावितजनस्थानं रामभद्रं सरयूमुखादुपश्रुत्य भगवती भागीरथी, यदेव लोपामुद्रया स्नेहादभिशङ्कितं तदेवाभिशङ्क्य सीतासमेता, केनचिदिव गृहाचार-व्यपदेशेन गोदावरीमुपागता।

मुरला—सुष्ठु चिन्तितं भगवत्या भागीरथ्या। "राजधानी-स्थितस्यास्य खलु तैश्च तैश्च जगतामाभ्युदयिकैः कार्यैर्व्यापृतस्य रामभद्रस्य नियताश्चित्तविक्षेपाः। अव्यग्रस्य पुनरस्य शोकमात्रद्वि-तीयस्य पञ्चवटीप्रवेशो महाननर्थः" इति। तद् कथं सीतया रामभ-द्रोऽयमाश्वासनीयः स्यात्?

तमसा—उक्तमत्र भगवत्या भागीरथ्या—"वत्से देवयजनस-म्भवे सीते! अद्य खल्वायुष्मतोः कुशलवयोर्द्वादशस्य जन्मवत्सरस्य

सङ्ख्यामङ्गलग्रन्थिरभिवर्तते। तदात्मनः पुराणश्वशुरमेतावतो मानवस्य राजर्षिवंशस्य प्रसवितारं सवितारमपहतपाप्मानं देवं स्वहस्तापचितैः पुष्परुपतिष्ठस्व। न त्वामवनिपृष्ठवर्तिनीमस्मत्प्रभावाद्वनदेवता अपि द्रक्ष्यन्ति किमुत मर्त्याः" इति। अहमप्याज्ञापिता "तमसे! त्वयि प्रकृष्टप्रेमैव वधूर्जानकी। अतस्त्वमेवास्याः प्रत्यनन्तरीभव" इति। साऽहमधुना यथाऽदिष्टमनुतिष्ठामि।

मुरला—अहमप्येतं वृत्तान्तं भगवत्यै लोपामुद्रायै निवेदयामि। रामभद्रोऽप्यागत एवेति तर्कयामि।

तमसा—तदियं गोदावरीह्रदान्निर्गत्य—

परिपाण्डुदुर्बलकपोलसुन्दरं दधती विलोलकबरीकमाननम्।
करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणीविरहव्यथेव वनमेति जानकी॥४॥

अन्वयः—परिपाण्डुदुर्बलकपोलसुन्दरं, विलोलकबरीकम्, आननम्, दधती, जानकी, करुणस्य मूर्तिः, अथवा, शरीरिणी विरहव्यथा, इव, वनम्, एति॥४॥

हिन्दी—

तमसा—अब शम्बूक के वृत्तान्त से, जनस्थान में रामभद्र के आने की सम्भावना को सरयू के मुख से सुनकर भगवती भागीरथी, जिस बात की लोपामुद्रा ने स्नेह से शङ्का की थी, उसी की शङ्का कर सीता के साथ किसी घरेलू काम के बहाने से गोदावरी के पास आई हैं।

मुरला—भगवती भागीरथी ने वहत ठीक विचारा। 'राजधानी में रहते हुए तो जगत् की उन्नति के कार्यों में व्यस्त रहने के कारण रामभद्र का ध्यान बंटा रहता था, परन्तु आज (किसी कार्य में) व्यग्र न रहने के कारण केवल शोक को ही साथ लेकर राम का (एकाकी ही) पञ्चवटी में प्रवेश करना बड़ा अनर्थकारी है।' तो (बताओ) सीता के द्वारा रामभद्र को आस्वासन कैसे दिया जा सकेगा?

तमसा—भगवती भागीरथी ने (सीता से) कह ही दिया है कि 'यज्ञभूमि से उत्पन्न बेटी सीते! आज चिरायु कुश और लव की बारहवीं वर्ष-गांठ है। अतः (इस शुभ अवसर पर) अपने पुराण श्वसुर, इतने विशाल, मनु से सम्बन्धित राजर्षि वंश के उत्पादक, पाप-विनाशक भगवान् सूर्य की अपने हाथों से चुने हुए पुष्पों से पूजा करो। पृथ्वी पर रहती हुई तुमको मेरे प्रभाव से वन-देवता भी नहीं देख सकती, मनुष्यों की तो बात ही क्या है?" और मुझे (भी) यह आज्ञा दी है कि 'तुमसे! वधू जानकी का तुममें प्रगाढ़ प्रेम है ही। अतः तुम ही इनके साथ रहना।' अब मैं (उनकी) आज्ञानुसार कार्य करती हूं।

मुरला—मैं भी इस समाचार को भगवती लोपामुद्रा से निवेदन करती हूं रामभद्र भी आ ही पहुंचे हैं—मैं ऐसा समझती हूं।

तमसा—लो, यह गोदावरी के अगाध जल से निकलकर –

[श्लोक ४] (विरह से) पीले और कृश कपोलों से सुन्दर तथा (इधर-उधर) बिखरे हुए केशों से युक्त मुख को धारण करती हुई जानकी करुण रस की मूर्ति अथवा शरीरिणी विरह-व्यथा-सी वन में आ रही है।

संस्कृत-व्याख्या

शब्दार्थः–अभ्युदायिकैः=कल्याणकरैः। व्यापृतस्य=संलग्नस्य। नियताः=निश्चिताः। संख्यामङ्गलग्रन्थिः=जन्मदिवसानां वत्सरस्य परिसंख्याया मांगलिको दिवसः। प्रसवितारम्=उत्पादकम्। स्वहस्तापचितैः—स्वयं संचितैः। उपतिष्ठस्व=अर्चय। प्रकृष्टं प्रेम यस्याः सा प्रकृष्टप्रेमा=अतिशयप्रेमवती। प्रत्यनन्तरीभव=समीपस्था भव। यथादिष्टम् आदेशो यथा दत्तस्तथा अनुतिष्ठामि=करोमि।

"इयं जानकी गोदावर्या बहुतरजलमध्यात् (ह्लदात्) निष्क्रम्यागच्छति"—इति तमसा' नदी प्राह—परिपाण्डु इति।

परिपाण्डु-इति। परितः पाण्डुवर्णम्, दुर्बलकपोलमपि सुन्दरम्, चञ्चला कवरी=केशपाशो यस्य तादृशं आननम्=मुखं धारयन्ती, करुणरसस्य मूर्तिरिव, शरीरधारिणी विरहस्य पीडेव, इयं जानकी वनमायाति। विरह–विधुरिता मुक्तशिरोरुहा, भगवती सीता साक्षात् करुणरसस्य प्रतिमूर्तिरिवागच्छतीति भावः।

अत्र उत्प्रेक्षा अलङ्कारः। मञ्जुभाषिणी च्छन्दः। लक्षणं च यथा—'सजसा जगौ भवति मञ्जुभाषिणी' इति ॥४॥

टिप्पणी

(१) शम्बूकवृत्तान्तेन--पाठा०, 'शम्बूकवधवृत्तान्तेन'। शम्बूक के वध के वृत्तान्त से। वार्त्ता प्रवृत्तिवृत्तान्त उदन्तः स्यादि' त्यमरः। (२) सम्भावितजनस्थानम्—पाठा०, १. "सम्भावितजनस्थानगमनम्=सम्भावितं (सम्यक् भावितं निश्चितमित्यर्थः) जनस्थाने आगमनं यस्य तादृशं रामभद्रम्। २. 'सम्भावितजनस्थानगमनम्'=सम्भावितं जनस्थानगमनं यस्य तम्। ३. 'सम्भावितजनस्थानम्' का अर्थ होगा—'सम्भाविपं (आगमनेन सत्कृतम्) जनस्थानं येन तम्' अर्थात् जिन्होंने अपने पावन आगमन से जनस्थान को सम्मानित किया है, ऐसे श्रीरामचन्द्र जी को। सम्भावितम्—सम्+√भू+णिच्+क्त कर्मणि। (३) सरयूमुखात्—'आख्यातोपयोगे' (पा० १।४।२९) इति पञ्चमी। (४) राजधानीस्थितस्य—पाठा०, 'राजनीतिस्थितस्य'=राजनीति में संलग्न के। (५) आभ्युदयिकैः—अभि+उद्+√इ+अच् भावे अभ्युदयः=उन्नतिः। अभ्युदये नियुक्त आभ्युदयिकस्तैः। अभ्युदय+ठक्। 'तत्र नियुक्तः' (पा० ४।४।६९)। 'हेतौ' (पा० २।३।२३) इति तृतीया। (६)

नियताः—नि + √यम् + क्त.कर्मणि । (७) अव्यग्रस्य—न व्यग्रोऽव्यग्रः । नञ् । (८) शोकमात्रद्वितीयस्य—शोक एव शोकमात्रम्, मयूरव्यंसकादित्वात्समासः । शोकमात्रं द्वितीयं यस्य तस्य । (९) द्वादसस्य जन्मवत्सरस्य संख्यामङ्गलग्रन्थिः—पाठा०, १. द्वादश-जन्मसंवत्सरस्य । २. द्वादशसंवत्सरस्य । द्वादशस्य=द्वौ च दश च द्वादश, 'द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः' (पा० ६।३।४७) इत्यात्वम् । द्वादशानां पूरणो द्वादशस्तस्य । 'तस्य पूरणे डट्' (पा० ५।२।४८) इति डट् ।

संख्याबोधकः मङ्गलार्थः ग्रन्थिः संख्यामङ्गलग्रन्थिः । 'ग्रन्थिरुत्सवपर्वणोः—इति नानार्थमञ्जरी । सालगिरह या वर्षगाँठ से तात्पर्य है । किन्हीं विद्वान् के अनुसार वर्षगाँठ के दिन व्यतीत वर्षों की संख्या गाँठ लगाकर सूत्र कलाई में बाध दिया जाता था । उसी का यहां उल्लेख है ।

'वर्षसमयसंख्यकग्रन्थिमद्गुग्गुलुनिम्बश्वेतसर्षपदूर्वागोरोचनारूपमङ्गलवस्तुसहितसूत्रधारणविधिरित्यर्थः ।' (प्रेमचन्द्र तर्कवागीशः)

वीरराघव ने इस प्रकार इसकी व्याख्या की है—

'संख्यापूर्तिकहेतुमङ्गलग्रन्थिः । वत्सरे वत्सरे शिशूनां जन्मनक्षत्रे शान्त्युत्सवं कृत्वा मङ्गलार्थं करे पटसूत्रादिना स्त्रियो ग्रन्थिं कुर्वन्ति, स तु करे वलयरूपेण तिष्ठतीत्युपदेशः ।'

विद्यासागर लिखते हैं—"संख्याबोधको मङ्गलार्थो ग्रन्थिः । अतीतवर्षसमसंख्यकग्रन्थिमत्सूत्रमिति यावत् । जन्मतिथौ हस्ते सूत्रमभिबध्यते तच्च सूत्रं जन्मग्रन्थिरुच्यते. यथा तिथितत्त्वे जन्मतिथिप्रकरणे 'गुडदुग्धतिलानद्यात् जन्मग्रन्थेश्च बन्धनम् ।

घाटे शास्त्री हाथ में डोरे के बन्धन को भ्रममूलक मानते हुए लिखते हैं—'बालजन्मवर्षदिने सूत्रे एको ग्रन्थिर्वर्षगणनाय बध्यत इत्याचारः । बालहस्ते बध्यते इति व्याख्यानं भ्रममूलकमेव ।"

(१०) तदात्मनः पुराणश्वसुरम् अपहतपाप्मानम्—मनोरयम् मानवस्तस्य मानवस्य । 'तस्येदम्' (पा० ४।३।१२०) इति अण् । मनु + अण् ।

मनु आद्य राजा थे जिनसे मानव सृष्टि उत्पन्न हुई । तुल०—

"वैवस्वतो मनुर्नाम, माननीयो मनीषिणाम् ।
आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव ।।" (रघु०, १।११)

ये मनु सूर्य (विवस्वान्) के पुत्र थे । श्रीरामचन्द्रजी इन मनु से ३७ वीं पीढ़ी में हुए । इस प्रकार 'सूर्य' सीता के पुराण श्वसुर होते हैं ।

'प्रसवितारं सवितारम्'—में यमक द्रष्टव्य है ।

'अपहतपाप्मानम्'=जो पाप नष्ट कर दे । 'अस्त्री पङ्कं पुमान्पाप्मा पापं किल्विषकल्मषम्'—इत्यमरः । छान्दोग्य० (१।६।६।७) देखिये—'अथ स एषोत्तरा-

दित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते । तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम, स एष सर्वेभ्य पाप्मभ्य उचितः, उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद ।

(११) उपतिष्ठस्व—'उपाद्देवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वाच्यम्' इत्यात्मनेपदत्त्वम् । (१२) यथादिष्टम्—आदिष्टमनतिक्रम्येति यथादिष्टम् । 'अव्ययं विभक्तिः' (पा० २।१।६) इत्यव्ययीभावसमासः । (१३) प्रत्यन्तरीभव—अप्रत्यन्तरा प्रत्यन्तरा भव—इति प्रत्यन्तरीभव । प्रत्यन्तरा+च्वि+√भू+लोट्, म० पु०, एकवचन । 'अभूततद्भावे च्विः' । (१४) परिपाण्डु ....जानकी—पाठा०, 'करुणस्य मूर्तिरथवा' के स्थान पर 'करुणस्य मूर्तिरिव वा' । 'विरहव्यथेव' के स्थान पर 'विरह-व्यथैव' (इसमें रूपक होगा) ।

इस श्लोक में उपमान विधान द्रष्टव्य है । जानकी को 'साक्षात् करुण (रस) की मूर्ति' कहने से उसकी व्यथा का स्पष्ट अनुभव होता है ।

श्रीशारदारञ्जन रे ने पाठान्तर 'इव वा' मानकर 'यथासंख्य' के आधार पर इस श्लोक का अर्थ लगाया है और लिखा है—"The comparison is thus two-fold—करुणस्य मूर्त्तिरिव through परिपाण्डु etc and शरीरिणी विरहव्यथेव from विलोल etc. It is not that the epithet परिपाण्डु etc. Plays no part in the second comparison. There is the word व्यथा joined to विरह and परिपाण्डु etc. indicates व्यथा. It is the व्यथा, the torment of विरह, that has taken the colour off the cheeks and hollowed them out. The second camparison is an improvement over the first." (p.p. 262)

मुरला—इयं हि सा ?

किसलयमिव मुग्धं बन्धनाद्विप्रलूनं,
हृदयकमलशोषि दारुणो दीर्घशोकः ।
ग्लपयति परिपाण्डु क्षाममस्याः शरीरं,
शरदिज इव घर्मः केतकीगर्भपत्रम् ॥५॥

(इति परिक्रम्य निष्क्रान्ते ।)

इति शुद्ध विष्कम्भकः ।

अन्वयः—हृदय-कमलशोषी दारुणः, दीर्घशोकः, बन्धनात् विप्रलूनं, मुग्धं किसलयमिव, परिपाण्डु, क्षामम्, अस्याः, शरीरं, शरदिजः घर्मः, केतकीगर्भपत्रम्, इव ग्लपयति ॥५॥

हिन्दी—

मुरला—यह वह (सीता) है ?

]श्लोक ५] हृदय-कमल को सुखाने वाला दारुण दीर्घ शोक इसके डाल से टूटे हुए कोमल किसलय के समान दुर्बल तथा पीले शरीर को उसी प्रकार सुखा रहा है जिस प्रकार कि शरद्-ऋतु की कड़ी धूप केवड़े के भीतरी (कोमल) पत्ते को सुखा देती है।

(घूमकर चली जाती हैं।)

शुद्ध विष्कम्भक।

संस्कृत-व्याख्या

तमसा-वाक्यमाकर्ण्य दूरतः सीतामालोक्य मुरला 'इयं हि सा' इति पृच्छन्ती प्राह—किसलयमिति।

अये! दारुणो दीर्घकालव्यापी शोकः अस्या हृदयकमलं शोषयति। बन्धनात् विप्रलूनं=वृन्तात् छिन्नम्, किसलयं यथा स्वभावेनैव क्षामम्=क्षीणं भवति, तथैव शोकसन्तानसन्तापितमिदमस्याः परिपाण्डुवर्णं दुर्बलञ्च शरीरं दीर्घशोको ग्लपयति=क्षीणं सम्पादयति। यथा वा—शरदिजः=शरदृतुसमुद्भूतो धर्मो यथा केतक्याः ('केवड़ा' इति भाषायाम्) मध्यवर्तिपत्रं शोषयति, तथैवायं शोकः एनां शोषयति।

हृदयमेव कमलमित्यत्र रूपकम्। किसलयमिवेत्यत्रोपमा केतकीगर्भपत्रमिव इत्यत्र चोपमैवेति, एतेषामलङ्काराणां साङ्कर्यम्। मालिनीच्छन्दः। लक्षणं यथा—

"न न म य य युतेयं मालिनी भोगिलोकैः।" इति॥

माधुर्यं गुणः। वैदर्भी रीतिः॥५॥

संस्कृतभाषिणोर्द्वयोरपि पात्रयोर्वर्णनात् विष्कम्भकोऽयं शुद्धः। एतल्लक्षणादिकं च विस्तरेण द्वितीयाङ्के विवेचितं, तत एव द्रष्टव्यम्।

इति शुद्ध विष्कम्भकः।

टिप्पणी

(१) इयं हि सा ?—

इस पंक्ति की सङ्गति के विषय में लोगों को कुछ भ्रम हुआ है।

प्रो॰ काणे इसका अर्थ श्लोक की प्रथम पंक्ति से मिलकर करते हैं—"यह वह सीता है जो बन्धन से टूटे हुए किसलय के समान है (Here is she (सीता) like a pretty sprout cut off from its stem)। वे 'शरीर' का विशेषण प्रथम पंक्ति को मानने में 'दूरान्वय' दोष मानते हैं।

परन्तु प्रो॰ काले इस बात से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि कवि का अभिप्राय यहां सीता की मनोज्ञता का वर्णन करना नहीं है। 'किसलयम्....' 'शरीरम्' का ही विशेषण है। 'परिपाण्डु-शरीर' की 'वृन्तच्युत किसलय' से तुलना करना बहुत ही सुन्दर है—

इयं हि सा—This is she, indeed. The sentence ends here. Some connect these words with the first line of the next sl. ...... But this is not a good way. The poet's object is not to describe her lovliness here. सा also has no force. किसलयमिव is in apposition with शरीर in the 3rd line. Gh. distinctly says किशलयमिव स्थितम् । शरीरविशेषणमेतत् The fault of दूरान्वय may be ignored. The परिपाण्डु शरीर is aptly compared to किसलय cut off from the stem which also withers up and gets palish." (उत्तररामचरित Notes, p. p. 58)

इसका समाधान करने के लिये हमने इसे प्रश्नवाचक माना है। 'इयं हि सा' के वाद प्रश्नवाचक चिह्न (?) लगना चाहिये। सीता को देखकर मुरला का आश्चर्यचकित होना स्वाभाविक ही है। प्रश्नवाचक चिह्न लगाते ही सब स्थिति स्पष्ट हो जाती है। प्रो० शारदारञ्जन रे ने अपनी टीका में लिखा है—

'इयं हि सा—इति प्रत्यभिज्ञा।' परन्तु 'प्रत्यभिज्ञा' पूर्वदृष्ट पदार्थ की स्मृति में ही होती है। मुरला ने सीता को पहले देखा नहीं है प्रत्युत सीता-विषयक सूचना देने वाले प्रधान पात्र तमसा के द्वारा ही सीता का दर्शन होने पर मुरला की आश्चर्यमयी जिज्ञासा होनी ही स्वाभाविक है। अतएव यह प्रश्न ही होना उचित है—'इयं हि सा ?'

(२) किसलयमिव ··· पत्रम्—इस श्लोक में विरहिणी सीता का बहुत ही हृदयस्पर्शी चित्र खींचा गया है। (३) हृदयकमलशोषी—श्री शारदानन्दन रे ने इसे १. 'दीर्घलोक' और २. 'धर्म'—दोनों के पक्ष में लगाया है। १. हृदयं कुसुममिव अथवा हृदयमेव कुसुमम् (मयूरव्यंसकादयः' इति रूपकसमासः) तद् शोषयतीति हृदय-कमलशोषी।

२. हृदये कुसुमम् (सुप्सुपा) अथवा हृदयस्थितं कुसुमम् (शाकपार्थिवा-दित्वान्मध्यपदलोपिसमासः) तच्छोषयतीति हृदयकुसुमशोषी (धर्मपक्ष में)।

हृदयकुसुम + √शुष् + णिच् + णिनि कर्त्तरि ताच्छील्ये।

(४) ग्लपयति—√ग्लै + णिच् + लट्, तिप्। 'ग्लास्नावनुवमां' इति विकल्पेन अत्वम्। (५) क्षामम्—√क्षै + क्त 'क्षायो मः' ति क्तस्य मकारत्वम्। (६) शरदिजः—शरदि जात इति शरदिजः। 'सप्तम्यां जनेर्डः' (पा०, ३।२।९७) इति डप्रत्ययः। शरद् + √जन् + ड कर्त्तरि। 'प्रावृट्शरत्कालदिवां जे (पा० ६।३।१५) इत्यलुक्समासः। (७) इति शुद्धविष्कम्भकः—इसके लिये देखिये द्वितीय अङ्क के आदि में टिप्पणी।

[नेपथ्ये]

[जात !!] जात !

(ततः प्रविशति पुष्पावचयव्यग्रा सकरुणौत्सुक्यमाकर्णयन्ती सीता।)

सीता—अम्हहे, जाणामि—"पिअसही वासन्दी व्याहरदि"त्ति। [अहो जानामि "प्रियसखी वासन्ती व्याहरतीति।]

[पुनर्नेपथ्ये।]

सीतादेव्या स्वकरकलितैः सल्लकीपल्लवाग्रै-
रग्रे लोलः करिकलभको यः पुरा वर्धितोऽभूत्।

सीता—किं तस्स ? [किं तस्य ?]

[पुनर्नेपथ्ये]

वध्वा सार्धं पयसि विहरन् सोऽयमन्येन दर्पा-
दुद्दामेन द्विरदपतिना सन्निपत्याभियुक्तः ॥६॥

सीता—(ससंभ्रमं कतिचित्पदानि गत्वा।) अज्जउत्त ! परित्ताहि परित्ताहि मह पुत्तअम्। (विचिन्त्य) हद्धी हद्धी ! ताइं एव्व चिरपरिइदाइं अक्खाइं पञ्चवटीदंसणेण मं मन्दभाइणिं अनुबन्धन्ति। हा अज्जउत्त (इति मूर्च्छति।) [आर्यपुत्र ! परित्रायस्व परित्रायस्व मम पुत्रकम्। हा धिक्। तान्येव चिरपरिचितान्यक्षराणि पञ्चवटीदर्शनेन मां मन्दभागिनीमनुबध्नन्ति। हा आर्यपुत्र !] (इति मूर्छति)

[प्रविश्य]

तमसा—समाश्वसिहि समाश्वसिहि।

अन्वयः—पुरा, अग्रे, लोलः, यः, करिकलभकः, सीतादेव्या, स्वकरकलितैः, सल्लकीपल्लवाग्रैः, वर्धितोऽभूत् (इति पूर्वार्धस्यान्वयः। उत्तरार्धस्य त्वेवम्) सोऽयं वध्वा सार्धं पयसि, विहरन्, अन्येन, उद्दामेन, द्विरदपतिना, दर्पात् सन्निपत्य, अभियुक्तः ॥६॥

हिन्दी—

(नेपथ्य में)

पुत्र ! पुत्र !

[तदनन्तर पुष्प चुनने में व्यग्र करुणा और उत्कण्ठा के साथ सुनती हुई सीता प्रवेश करती हैं।]

सीता—ओह ! मैं समझती हूं कि मेरी प्रिय सखी वासन्ती बोल रही है।

(पुनः नेपथ्य में)

[श्लोक ६] पहिले सीता देवी ने जिस चञ्चल हाथी के बच्चे को अपने हाथ से 'सल्लकी' लता के कोमल पत्ते दे-देकर हृष्ट-पुष्ट किया था—

सीता—उसका क्या (हुआ) ?

(पुनः नेपथ्य में)

(आज) वह अपनी पत्नी के साथ जल में विहार करता हुआ किसी दूसरे गर्वीले गजराज से बलपूर्वक दबाया जा रहा है !

सीता—(घबराई हुई कुछ पग चलकर) आर्यपुत्र ! मेरे पुत्र को बचाओ ! बचाओ ! हाय, हाय ! पञ्चवटी देखने से वही चिरपरिचित ('आर्यपुत्र' ये) अक्षर मुझ मन्दभागिनी का अनुसरण कर रहे हैं (मेरे मुख से निकल रहे हैं ।) हा, आर्यपुत्र !

[मूर्छित हो जाती है ।]

(प्रवेश कर)

तमसा—धैर्य धारण करो ! धैर्य धारण करो !

संस्कृत-व्याख्या

पुनर्नेपथ्ये वासन्ती 'सीता-कर-कमलात्संवर्धितस्य' गजशावकस्याभियोगं वर्णयति—सीतादेव्या—इति ।

यः करि-कलभकः पूर्वं सीतादेव्या स्वहस्तोद्धृतैः सल्लकीनां पल्लवानामग्रभागप्रदानेन परिपोषितः, परमलोलः=चपल आसीत् "लोलश्चञ्चलसतृष्णयोः" इति कोशः इत्यर्थं निशम्यैव—

"किं तस्य ?" इति सीतायाः प्रश्ने, (पुनर्नेपथ्ये) वासन्ती प्राह—

स एवायं श्ववध्वा सह जले विहारं कुर्वन्नेव केनाप्यन्येन, उद्दामेन=सगर्वेण बलवता द्विरदपतिना=गजेन्द्रेण सन्निपत्य=बलादवधर्ष्य, अभियुक्तः=समाक्रान्तः । यस्य पोषणं सीतादेव्या स्वयं सल्लकी-पत्र-प्रदानेन कृतं, स इदानीमन्येन गजेन समाक्रान्तः, इति महान् खेदः । इति भावः । सहोक्ति अलङ्कारः मन्दाक्रान्ता च्छन्दः । तल्लक्षणञ्च । यथा—"मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैम्भौं न तौ तादगुरु चेत् ।" इति । माधुर्य गुणः । वैदर्भीरीतिः । उद्दाम' इति शब्दस्य—उद्गतम्=उन्नीतं—दूरीकृतं, दाम=बन्धन-रज्ज्वादिकं यस्य सः । बन्धनरहितः=उच्छृङ्खल इत्यर्थः । ("उद्दामो बन्धरहिते स्वतन्त्रे च प्रचेतसि" इति मेदिनी कोशः ।)

टिप्पणी

(१) (नेपथ्ये) जात ! जात ! —पाठा०, 'प्रमादः ! प्रमादः ।' (२) पुष्पावचयव्यग्रा—पाठा०, 'पुष्पावचयव्यग्रहस्ता' । (३) करिकलभकः—यद्यपि 'कलभः करिशावकः' (अमर०)—इस कोष के अनुसार 'कलभ' शब्द का अर्थ ही हाथी का बच्चा है और इस प्रकार 'करि' शब्द का प्रयोग 'अधिकपदत्व' दोष की शङ्का करता है तथापि "विशिष्टवाचकपदानां सति विशेषणपदसमभिव्याहारे विशेष्य-

मात्रपरत्वं करिकलभादिशब्दवत्' इस वामनसूत्र के आधार पर यहाँ 'करभ' का अर्थ केवल "शावक (बच्चा)" ही गृहीत होगा। करभ+कन् अनुकम्पायाम्=करभकः। (४) वर्द्धितः—√वृध्+णिच्+क्त। पाठा१, पोषितः। (५) दर्पात्—पाठा०, 'वेगात्'=जवात् (तेजी से) (६) उद्दामेन द्विरदपतिना—"उद्दामो बन्धरहिते स्वतन्त्रे च प्रचेतसि"—इत्यमरः। "चण्ड उद्दाम उद्भटः" इति शब्दार्णवः। द्वौ रदौ (दन्तौ) यस्य सः द्विरदः द्विरदानां पतिर्द्विरदपतिस्तेन द्विरदपतिना (७) सन्निपत्य—सम्+नि+√पत+(क्त्वा) ल्यप्। (८) सीता—(ससमभवम्...)—आदि-पाठान्तर, १. 'गत्वा' के स्थान पर 'दधती'। २. 'विचित्र्य' के स्थान पर 'स्पृतिम-भीनीय सवैक्लव्यम्'। विक्लवस्य भावो वैक्लव्यम्। विक्लवो विह्वलः स्यात्"—इत्यमरः। (९) पुत्रकम्—पुत्र+कन् अनुकम्पायाम्। "पुत्रकः कृत्रिमे पुत्रे"=इति संसारावर्त्तः। (१०) पञ्चवटीदंशणेण—पाठा०, "...णेण पुणोवि मं"। (११) अनुबन्धन्ति—पाठा०, 'अणुरुन्धन्ति'।

(नेपथ्ये)

विमानराज! अत्रैव स्थीयताम्।

सीता—(ससाध्वसोल्लासम्) अम्हहे जलभरभरिअमेहमन्थरत्थणिअगम्भीरमंसलो कुदो णु भारईणिग्घोसो भरन्तकण्णविवरं मं वि मन्दभाइणिं झत्ति उस्सुआवेइ? [अहो, जलभरभरितमेघमन्थरस्तनितगम्भीरमांसलः कुतो नु भारतीनिर्घोषो भ्रियमाणकर्णविवरां मामपि मन्दभागिनीं झटित्युत्सुकयति?]

तमसा—(सस्मितास्रम्।) अयि वत्से!

अपरिस्फुटनिक्वाणे, कुतस्त्येऽपि त्वमीदृशी।
स्तनयित्नोर्मयूरीव, चकितोत्कण्ठितं स्थिता ॥७॥

अन्वयः—स्तनयित्नोः (अपरिस्फुटनिक्वाणे) मयूरी इव, त्वं, कुतस्त्ये, अपरिस्फुटनिक्वाणे अपि, ईदृशी, चकितोत्कण्ठितं, स्थिता ॥७॥

सीता—भअवदि! किं भणासि अपरिप्फुडेत्ति? सरसंजोएण पच्चहिजाणामि, णं अज्जउत्तेण एव्व एदं वाहरिदम्। [भगवति! किं भणस्यपरिस्फुटेति! स्वरसंयोगेन प्रत्यभिजानामि, नन्वार्यपुत्रेणैवैतद्व्याहृतम्।]

तमसा—श्रूयते—"तपस्यतः किल शूद्रस्य दण्डधारणार्थमैक्ष्वाको राजा दण्डकारण्यमागतः" इति।

सीता—दिट्ठिआ अपरिहीणधम्मो सो राआ। [दिष्ट्या अपरिहीनराज धर्मः खलु स राजा।]
हिन्दी—

(नेपथ्य में)

विमानराज ! यहीं रुक जाओ !

सीता—(घबराहट और प्रसन्नता से) आहा ! जल के भार से परिपूर्ण मेघ के मन्द-मन्द गर्जन के समान गम्भीर और प्रभावशाली वाणी की ध्वनि (आवाज) कहां से आकर मेरे कर्ण-कुहरों को भरती हुई मुझ मन्द-भागिनी को सहसा उत्सुक कर रही है ?

तमसा—(मुस्कराहट और आंसुओं के साथ) आर्य वत्से !

[श्लोक ७] जैसे मेघ की गड़गड़ाहट में मयूरी चकित और उत्कण्ठित हो जाती है, वैसे ही कहीं से आते हुए इस अस्पष्ट शब्द को सुनकर तुम चकित और उत्कंठित हो रही हो।

सीता—भगवति ! क्या कहती हो कि 'अस्पष्ट शब्द है' ? कण्ठ-स्वर से मैं पहचानती हूं कि यह निश्चय ही आर्यपुत्र ने कहा है। (आर्यपुत्र की ही आवाज है।)

तमसा—सुना जाता है कि तपस्या करते हुए शूद्र तापस को दण्ड देने के लिए वे इक्ष्वाकुवंशीय 'राजा' दण्डकारण्य में आये हैं।

सीता—सौभाग्य से वे 'राजा' धर्महीन नहीं हैं। (अब भी उन्हें अपने धर्म का ज्ञान है, यह बड़े हर्ष का विषय है !)

संस्कृत-व्याख्या

भगवतो रामस्य शब्दं निशम्य चकित-चकिता सीता देवी प्राह—अह्यओ— इति। अहो ! जलाधिक्याद् भरितो यो मेघः, तस्य यत् मन्थरं=मन्दमन्दम्, यत् स्तनितम्=गर्जितम्, तद्वद् गम्भीरः, मांसलो=बलवान् भारत्याः=बाचः निर्घोषः= ध्वनिः, तया भ्रियमाणौ=परिपूर्णौ कर्णौ यस्यास्तां मां मन्दभागिनीं झटिति=शीघ्रम्, उत्सुकापयति=उत्कण्ठितां करोति। अकस्मात् मेघध्वनिरिव रामस्य शब्दो मम कर्ण-विवरे प्रविष्टो मामुत्सुकां करोति। इत्याशयः। अत्र भगवतो रामस्य शब्दः कुतः सम्भाव्यते ? इति भावः।

तमसा सस्मितं (पतिदर्शनेनेयं प्रसीदति, इति सस्मिता) (स्नेहपारवश्यादेवं भवतीति स्रासता) सास्रञ्चाह—अपरिस्फुटेति।

कुतश्चिदागते स्तनयित्नोः=मेघस्य, अपरिस्फुटेनिक्वाणे=शब्दे, मयूरी यथा प्रसन्ना भवति, तथैव न जाने कस्यायं शब्दः ? त्वमपि चैवमेव प्रसन्ना सञ्जातासीति नोचितमेतदिति भावः। अत्रोपमालङ्कारः ॥७॥

शूद्रमुनिं शासितुमद्यागमिष्यति रामः इति तमसा-वचनमाकर्ण्याह—दिट्ठिआ

इति। सौभाग्यस्येयं वार्ता, यद् स राजा (रामः) अपरिहीनो धर्मो यस्येदृशः, अस्तीति। धर्माघातं न सहते। शूद्रस्य तपस्याचरणं सर्वथाऽसहनीयमेव तस्येति तत्त्वम्।

टिप्पणी

(१) ससाध्वसोल्लासम्=पाठा१, 'ससाध्वसोल्लासोत्कम्पम्"। साध्वस=भय=घबराहट। (२) जलभर'''—जलस्य भरेण भरितस्य मेघस्य मन्थरं स्तनितम्, तद्वत् गम्भीरः मांसलश्च जलभरभरितमेघमन्थरस्तनितगम्भीरमांसलः। 'मन्थरस्तु मनोज्ञः' इत्यमरकोषः। 'स्तनितं गर्ज्जितं मेघनिर्घोषे रसितादि च' इत्यमरः। 'करि-कलभ' के समान ही 'मेघस्तनित' का भी प्रयोग अदुष्ट है। (३) जलभरभरित—जलभर+भर+इतच्। (४) सस्मितास्रम्—पाठा०, "सस्नेहास्रम्"। (५) अपरि-स्फुटनिक्वाणे—पाठा०, "किमव्यक्तेऽपि निनदे"। (६) चकितोत्कण्ठितं स्थिता—पाठा०, "कुतस्ते प्रीतिरीदृशी ?" (७) ऐक्ष्वाकः—इक्ष्वाकोः गोत्रापत्यं पुमान् ऐक्ष्वाकः। "दाण्डिनायन'''" (पा०, ६।४।१७४) इति टिलोपः। (८) अपरिहीन-राजधर्मः—अपरिहीनो राजधर्मो यस्य सः।

(नेपथ्ये)

यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि बन्धवो मे,
यानि प्रियासहचरश्चिरमध्यवात्सम्।
एतानि तानि बहुकन्दरनिर्झराणि,
गोदावरीपरिसरस्य गिरेस्तटानि ॥८॥

अन्वयः—यत्र, द्रुमाः अपि, मृगाः अपि मे बन्धवः, प्रियासहचरः, यानि चिरम्, अध्यवात्सम्, एतानि, बहुकन्दरनिर्झराणि, गोदावरीपरिसरस्य, गिरेः, तानि, तटानि (सन्ति) ॥८॥

हिन्दी—

(नेपथ्य में)

[श्लोक ८] जहां वृक्ष और मृग भी मेरे बन्धु थे और जिनमें मने प्रियतमा के साथ बहुत दिनों तक निवास किया था, ये बहुत-सी गुफाओं और झरनों से युक्त गोदावरी के निकटवर्ती वे ही ('प्रस्रवण' पर्वत के प्रदेश हैं। (इन रमणीय प्रदेशों को देखकर मेरा मन उत्कण्ठित हो उठा है।)

संस्कृत-व्याख्या

अगस्त्याश्रमान्निवर्तमानो भगवान् रामः पञ्चवटीमवलोक्य नेपथ्ये ब्रूते—यत्रेति।

यत्र वृक्षा अपि मृगाश्चापि मम वन्धवो बभूवुः, यत्र च प्रियया सह सुचिरं मया निवासः कृतः, एतानि बहुकन्दराभिः, निर्झरैश्च सहितानि गोदावर्याः परिसरस्य=समीपवर्तिनः, पर्वतस्य (प्रस्रवणस्य) तानि तटानि सन्ति। यत्र सानन्दं सीतया सह समयमतिवाहितवानस्मि, यत्र च मृगैर्वृक्षैश्च सह बन्धुतुल्यास्माकं प्रीतिरासीत्, अनुभूतपूर्वाणि गोदावर्यास्तटानि निरीक्ष्य मम चित्तस्यैतादृशी एव दशा वर्तते —इति भावः।

'अध्यवात्सम्' इत्यत्र 'उपान्वध्याङ्वसः'[१] इत्यनेन सूत्रेण आधारस्य 'कर्मत्वम्'। 'परिसरः' इत्यस्य पर्यन्तभूरित्यर्थः (पर्यन्तभूः परिसरः' इत्यमरः।)

यत्र द्रुमा अपि वन्धवस्तत्रान्येषां का कथा, इत्यर्थापत्तिरलङ्कारः। तल्लक्षणञ्च यथा—

'दण्डापूपिकयाऽन्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते।' इति। माधुर्यं गुणः। वैदर्भ लाटी च रीत्यौ। वसन्ततिलकः च्छन्दः ॥८॥

टिप्पणी

(१) यानि अध्यवात्सम्—यहाँ अधिपूर्वक √वस् धातु के आधार 'यानि तटानि' की कर्मसंज्ञा हो गयी है—'उपान्वध्याङ्वसः' (पा० १।४।४८) नियम के अनुसार। (२) बहुकन्दरनिर्झराणि—पाठा०, 'बहुनिर्झरकन्दराणि' बहवः निर्झराः कन्दराश्च येषु तानि'। 'उत्सः प्रस्रवणं वारि प्रवाहो निर्झरो झरः'' इति ''दरी तु कन्दरो वा स्त्री देवखातविले गुहा'' इति चामरः। (३) गदोवरीपरिसरस्य—गोगावरी परिसरे यस्य तस्य। परि+√सृ+घ संज्ञायाम्=परिसरः। (४) तटानि—घनश्यामपण्डित ने इसे प्रामादिक मानते हुए लिखा है—''तटानीति प्रमादः, 'तटो भृगुः' इत्यमरसिंहेनाभिधानात्। अत एव 'तीरे तटोऽस्त्री पुंस्येव भृगौ' इति शब्दमाला।''

यदि यहाँ झरनों के अर्थ में ही 'तटानि' लिया जाय तब तो निश्चय ही दोष है किन्तु टीकाकारों ने इसका 'प्रदेश' (लाक्षणिक) अर्थ भी किया है। इस अर्थ में दोष नहीं आता क्योंकि इस अर्थ में 'तटम्' भी प्रयुक्त हो सकता है। ''तटः तटी तटम्'' ये तीनों ही रूप तट के मिलते हैं।

सीता—दिट्ठिआ कहं पहादचन्दमण्डलापण्डरपरिक्खामदुब्बलेन आआरेण णिअसोम्हगम्भीराणुभावमेत्तपच्चहिजेज्जो अज्जउत्तो एव्व होदि ? भअवदि तमसे ! धारेहि मम्। (इति तमसामाश्लिष्य मूर्च्छति।) [दिष्ट्या कथं प्रभातचन्द्रमण्डलापाण्डुरपरिक्षामदुर्बलेनाकारेण निजसौम्यगम्भीरानुभावमात्रप्रत्यभिज्ञेय आर्यपुत्र एव भवति ? भगवति तमसे ! धारय माम्।]

तमसा—वत्से ! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि ।

(नेपथ्ये)

अनेन पञ्चवटीदर्शनेन—

अन्तर्लीनस्य दुःखाग्नेरद्योद्दामं ज्वलिष्यतः ।
उत्पीड इव धूमस्य, मोहः प्रागावृणोति माम् ॥९॥

अन्वयः—अन्तर्लीनस्य, अद्य, उद्दामं ज्वलिष्यतः, दुःखाग्नेः, धूमस्य, उत्पीड इव, मोहः, मां, प्राक्, आवृणोति ॥९॥

हा प्रिये जानकि !

तमसा—(स्वगतम्) इदं तावदाशङ्कितं गुरुजनेन ।

सीता—(समाश्वस्य ।) हा, कहं एदम् ? [हा, कथमेतत् ?]

(पुनर्नेपथ्ये)

हा देवि दण्डकारण्यवासप्रियसखि विदेहराजपुत्रि ! (इति मूर्च्छति ।)

सीता—हद्धी हद्धी ! मं मन्दभाइणिं वाहरिअ आमालिदणेत्तणीलुप्पलो मुच्छिदो एव्व ! हा, कहं धरणिपिट्ठे णिरुद्धणिस्सासणीसहं विपल्हथो ? भअवदि तमसे ! परित्ताएहि परित्ताएहि । जीवावेहि अज्जउत्तम् । (इति पादयोः पतति ।) [हा धिक् । मां मन्दभागिनीं व्याहृत्यामीलितनेत्रनीलोत्पलो मूर्च्छित एव । हा, कथं धरणीपृष्ठे निरुद्धनिःश्वासनिःसहं विपर्यस्तः ! भगवति तमसे ! परित्रायस्व, परित्रायस्व । जीवयार्यपुत्रम् ।]

तमसा—

त्वमेव ननु कल्याणि ! सञ्जीवय जगत्पतिम् ।
प्रियस्पर्शो हि पाणिस्ते, तत्रैष निरतो जनः ॥१०॥

सीता—जं होदु तं होदु । जइ भअवई आणवेई । (इति ससंभ्रमं निष्क्रान्ता ।) [यद्भवतु तद्भवतु । यथा भगवत्याज्ञापयति ।]

हिन्दी—

सीता क्या, सौभाग्य से, प्रातःकालीन चन्द्र-मण्डल के समान श्वेत (कान्तिहीन), क्षीण, दुर्बल आकृति वाले तथा अपने शान्त और गम्भीर प्रभाव-मात्र से ही पहचानने योग्य आर्यपुत्र ही हैं ? (आशय यह है कि दुर्बलता आदि अनेक कारणों से

बिल्कुल बदले हुए आकार से इनको नहीं पहचाना जा सकता; केवल अपने स्वाभाविक गम्भीर प्रभाव से ही ये पहचान में आते हैं।)

भगवति तमसे ! मुझे संभालो !

[तमसा से लिपटकर मूर्छित हो जाती हैं।]

तमसा—वत्से ! धैर्य धारण करो ! धैर्य धारण करो !

(नेपथ्य में)

इस पञ्चवटी को देखने से—

[श्लोक ९]—अन्दर ही अन्दर छिपी हुई तथा आज भड़ककर जलने वाली दुःखाग्नि के धूम-पिण्ड की भांति मोह (मूर्छा) पहले (ही) मुझे घेर रहा है। (अर्थात् जैसे आंच जलने से पहले धुंआ बड़े वेग से उठता है वैसे ही दुःख फैलने से पहले ही मूर्छा मुझे घेर रही है—में मूर्छित हुआ जा रहा हूं।)

हा ! प्रिये, जानकि !

तमसा—(स्वयं ही) गुरुजनों ने इसी बात की शङ्का की थी।

सीता—(प्रकृतिस्थ होकर) हा ! यह क्या है ?

(पुनः नेपथ्य में)

हा ! देवि ! दण्डकारण्य के निवास-काल की प्रियसखि ! जनकनन्दिनि !

[मूर्छित हो जाते हैं।]

सीता—हाय ! हाय ! मुझ मन्दभागिनी का नाम लेकर नीलकमलसदृश नेत्र बन्दकर आर्यपुत्र मूर्छित ही हो गये ? हाय, श्वास रुकने से शक्ति-हीन होकर पृथ्वी पर कैसे गिर पड़े हैं ! भगवति तमसे ! रक्षा करो ! रक्षा करो ! आर्यपुत्र को जिला दो !

तमसा—[श्लोक १०]—कल्याणि ! तुम ही (अपने कर-स्पर्श से) जगत्पति (राम) को जिलाओ ! (होश में लाओ !) क्योंकि तुम्हारे हाथ का स्पर्श बड़ा प्रिय है और ये उसी के अभ्यस्त हैं।

सीता—चाहे जो हो ! (अब तो) जो भगवती की आज्ञा है (उसका पालन करती हूं।)

[घबराई हुई चली जाती है।]

संस्कृत-व्याख्या

रामं निरीक्ष्य सीतादेवी प्राह—दिट्ठिआ इति। सौभाग्येन प्रभातचन्द्रस्य यन्मण्डलम्, तद्वदापाण्डुरः=किञ्चित् श्वेतः—धूसर इति यावत्। परिक्षामः=दुर्बलो य आकारः=आकृतिस्तेन (उपलक्षितः) निजो यः सौम्यः=रमणीयः गम्भीरश्चानुभावः=महिमा, तेन प्रत्यभिज्ञेयः। यद्यप्याकृतिमवलोक्य "स एवायमिति" सहसा परिचेतुं न शक्यते, तथापि स्वभाव-गम्भीर-प्रभावमात्रेणैव परिज्ञातुं शक्यते स एवायमार्यपुत्र इति भावः। भगवति तमसे मां पतन्तीमिव धारय।

पुनर्नेपथ्ये भगवान् रामः स्वदशां प्रकटयितुमाह—अन्तरिति ।

अनेन पञ्चवटी–दर्शनेन ममान्तर्लीनस्य=गुप्त–रूपेणान्तर्वर्तमानस्य दुःखाग्नेः अद्यातीवोद्दाम=वेगेन यथा स्यात्तथा ज्वलिष्यतः=देदीपिष्यतः, धूमस्य उत्पीडः= समूह इव मोहः मूर्छा मां प्राक् आवृणोति । यथा वह्नेः प्रज्वलनात् पूर्वं वेगेन धूम उद्गच्छति तथैव दुःखात् पूर्वं मोहो मामावृणोति । अहं मोहमनुभवामिति भावः । अत्रोपमालङ्कार । अनुष्टुप् छन्दः ॥९॥

सीतां स्मृत्वा मूर्च्छितं राममालोक्य शोकविधुरा सीता कथयति—हद्धी-इति । हा ! मम नाम गृहीत्त्वा मुद्रित-लोचन-कमलो महाराजो मूर्च्छित एव ! कथं सहसा पृथिव्याः पृष्ठे, निरूद्धनिःश्वासो निःसहः=दुर्बलश्च यथा स्यात्तथा, विपर्यस्तः= विपरीततया=मुखं नीचैः कृत्वा निपतितः ! भगवति तमसे ! आर्यपुत्रमुज्जीवयतु भवती । तथाविधः कोऽप्युपायः क्रियतामिति भावः ।

राममुज्जीवयितुं तमसा सीतां प्रेरयति—त्वमेति । कल्याणि सीते ! त्वमेव स्वकर-स्पर्शेन जगत्पतिं सञ्जीवय, यतः प्रियस्पर्शोऽयं तव करः, अत्रैव चायं भगवान् अभ्यस्तोऽस्ति ।

['जगत्पति''—शब्देन रामे जीवति एव जगतः समुज्जीवनं भवितुमर्हतीति बुद्धया कल्याणवत्या भवत्या सञ्जीवनप्रदानेन विश्व-कल्याणं विधेयमिति । "कल्याणी" —पदस्य स्वारस्यं च स्वपतिबुध्या यदि नोज्जीवयसि, मा उज्जीवय, जगत्पतिधिया तु अवश्यमेव समुज्जीवनं कर्तव्यमिति भावः ।

अपि च—अन्या स्त्री कथं स्पर्शं कर्तुं शक्नुयात् ? तवैव पाणि-स्पर्शे सुचिर-मभ्यासवानयमिति त्वयैवात्र स्वकर्तव्य-पालनं कार्यमिति तत्त्वम् ।]

अर्थान्तरन्यासः अलङ्कारः काव्यलिगञ्च ॥१०॥

टिप्पणी

(१) दिट्ठीआ ···धारेहि माम्—पाठान्तर—

१. "दिट्ठिआ" (दिष्ट्या) के स्थान पर "हा !"

२. "····· मण्डलापा····· कारेण" के स्थान पर—'—मण्डलावपाण्डुर-परिक्षामधूमधूसरेण "।

३. "····· प्रत्यभिज्ञेय ···· माम्" के स्थान पर " ··प्रत्यभिज्ञाम आर्य–

(२) प्रभातचन्द्रमण्डलापाण्डुरपरिक्षामदुर्बलेनाकारेण—प्रभाते यच्चन्द्रमण्डलं तदिव आपाण्डुरः (विवर्णः) परिक्षामः (कृशः) च आकारः (देहः) तेन परिलक्षितः । यहाँ 'आकारेण' के बाद 'उपलक्षितः' परिशेषलभ्य है । इस प्रकार "इत्थम्भूतलक्षणे" (पाठ० २।३।२१) से तृतीया हुई । अथवा सार्थ में तृतीया ।

(३) निजसौम्यगम्भीरानुभावमात्रप्रत्यभिज्ञेयः—निजः सौम्यः गम्भीरश्च अनुभाव एव अनुभावमात्रम् तेन प्रत्यभिज्ञेयः । (४) अन्तर्लीनस्य दुःखाग्ने ···— भवभूति भावों की अभिव्यक्ति करने में अत्यन्त निपुण हैं । इस श्लोक में किंकर्तव्य-

विमूढ़ चित्त की पीड़ा का क्या ही मनोज्ञ चित्रण किया गया है। "दु:खाग्ने" में "दु:खमग्निरिव" यह उपमितसमास होने के कारण 'लुप्तोपमा' माननी चाहिये, 'निरङ्गरूपक' नहीं। इस विषय में जीवानन्द विद्यासागर के ये शब्द द्रष्टव्य हैं— "अत्र पूर्व्वार्द्धे 'दु:खाग्ने:' इत्यत्र 'दु:खमग्निरिव' इत्युपमितिसमात् लुप्तोपमा, परार्द्धे चासौ श्रौतीत्युभयोः परस्परमङ्गाङ्गिभावेन शङ्करः। केचित्तु 'दु:खाग्नेः' इत्यत्र भविष्यज्ज्वलनसम्पर्कात् निरङ्गरूपकमाहुस्तदसमीचीनतया नास्मभ्यं रोचते, परार्द्धगतोपमयैकवाक्यताया एव युक्तत्वादित्यवधेयम्।" (५) इदं तावदाशङ्कितं गुरुजनेन— पाठा०,– · · · "जनेनापि"। लोपामुद्रा और भागीरथी से अभिप्राय है। लोपामुद्रा ने मुरला के द्वारा गोदावरी के पास भिजवाए संदेश में इस प्रकार की शङ्का अभिव्यक्त की थी—"तेषु (पञ्चवटी प्रदेशेषु) च निसर्गधीरस्याप्येवंविधायामवस्थायामतिगम्भीराभोगशोकक्षोभसंवेगात्पदे पदे महान्ति प्रमादस्थानानि शङ्कनीयानि रामभद्रस्य।" (३।१) (६) हाधिक् · · · · पुत्रम्—पाठान्तर—१. "व्याहृत्य" के स्थान पर "उद्दीश्य"। २. "आमीलित · · ··" के स्थान पर "आमीलन्···"। ३. निरुद्धनिःश्वासनिःसह" के स्थान पर "निरुत्साहनिःसहम्"। (७) त्वमेव ननु ··· जन.—पाठा०, "तत्रैष निरतो जनः" के स्थान पर १. 'यत्रैष/यत्रैव/तत्रैव निरतो भरः/भवः।" २. "तत्रैव नियतो भव", ३. "नियता भव।

(ततः प्रविशति भूम्यां निपतितः सास्रया सीतया स्पृश्यमानः साह्लादोच्छ्वासो रामः)

सीता—(किञ्चित्सहर्षम्।) आणे उण पच्चाअदं विअ जीविअं तेल्लोकस्स। [जाने पुनः प्रत्यागतमिव जीवितं त्रैलोक्यस्य।]

रामः—हन्त भोः, किमेतत् ?

आश्च्योतनं नु हरिचन्दनपल्लवानां ?
निष्पीडितेन्दुकरकन्दलजो नु सेकः !
आतप्तजीवितमनःपरितर्पणोऽयं,
सञ्जीवनौषधिरसो हृदि नु प्रसिक्तः ? ॥११॥

अन्वयः—हृदि, हरिचन्दनपल्लवानाम्, आश्च्योतनं नु ? निष्पीडितेन्दुकरकन्दलजः सेकः, नु ? आतप्तजीवितमनःपरितर्पणः, अयम्, सञ्जीवनौषधिरसः प्रसक्तः नु ? ॥११॥

अपि च—

स्पर्शः पुरा परिचितो नियतं स एव,
सञ्जीवनश्च मनसः परितोषणश्च।

सन्तापजां सपदि यः परिहृत्य मूर्च्छा-
मानन्दनेन जडतां पुनरातनोति ॥१२॥

अन्वयः—पुरा परिचितः, सञ्जीनः, मनसः, परितोषणश्च, नियतं, स एव स्पर्शः, यः, सन्तापजां, मूर्च्छां, परिहृत्य, सपदि, आनन्दनेन, पुनः जडताम्, आतनोति ॥१२॥

सीता—(ससाध्वसकरुणमुपसृत्य) एत्तिअं एव्व दाणिं मह बहुदरम् । [एतावदेवेदानीं मम बहुतरम् ।]

हिन्दी—

[तदनन्तर भूमि पर पड़े, रोती हुई सीता से स्पर्श किये जाते तथा आह्लाद-पूर्वक श्वास लेते हुए रामचन्द्रजी का प्रवेश होता है ।]

सीता—(कुछ हर्ष के साथ) मैं समझती हूं कि तीनों लोकों का जीवन फिर से लौट आया है। (जगत्पति राम के जीवित होने पर संसार ही जी गया !)

राम—आश्चर्य ! यह क्या है ?

[श्लोक ११]—क्या मेरे हृदय पर यह हरिचन्दन के नवपल्लवों का रस (बह रहा) है ? अथवा चन्द्रमा के किरणरूपी अङ्कुरों को निचोड़ कर उनके रस से किया गया सेक है ? अथवा मेरे सन्तप्त मन और प्राण को तृप्त करने वाला यह 'सञ्जीवन'—औषधि का रस ही (किसी ने) विशेषरूप से सींच दिया है ? (यह क्या है, मैं निश्चय नहीं कर पा रहा हूं ।)

और भी—

[श्लोक १२]—सञ्जीवन का हेतु और मन तृप्त करने वाला यह पूर्व-परिचित स्पर्श, निश्चय ही, वही है, जो कि सन्ताप से उत्पन्न मूर्च्छा को दूर कर आनन्द प्रदान करने से पुनः (किसी अनिवर्चनीय) 'जड़ता' को फैला रहा है ।

सीता—(घबराहट और करुणा के साथ पास जाकर) इस समय मेरे लिये इतना ही बहुत है। (अर्थात्, मुझ निर्वासिता को तो इनके दर्शन में भी सन्देह था, स्पर्श की तो बात ही क्या ? परन्तु इस समय मैंने इनका स्पर्श भी कर लिया ! यही मुझे पर्याप्त है ।)

संस्कृत-व्याख्या

सीतादेवी स्वकरस्पर्शतः प्रत्याश्वसन्तं महाराजं निरीक्ष्याह—जाणे—इति । त्रैलोक्यस्य जीवनं पुनरप्यागतमिति मन्ये । रामे जीवति सर्वेषां लोकानां जीवनं सम्भवति, नान्यथेति भावः ।

साश्चर्यं इव रामः प्राह—आश्च्योतनमिति ।

अये ! मम हृदये केनचित् हरिचन्दनस्य पल्लवानामाश्च्योतनं=रसक्षरणं

कृतम् ? आहोस्वित् निष्पीडिताः=निष्पिष्टाः, ये इन्दुकरकन्दलाः=चन्द्र-किरणाङ्कु-रास्तेभ्यो जातः=निष्पीडितेन्दुकरकन्दलजः—चन्द्रमसः किरण-जालरूप-कन्दलस्य निष्पीडनेन सेक एव कृतः ? अथवा, आतप्तयोर्मम जीवितमनसोः प्रसादकरः केनचित्-सञ्जीवनौषधिरस एव प्रकर्षेण सिक्तः ? किमेतदिति नावधारयामि ? ईदृशी शान्तिः सहसा पदार्थान्तरसम्पर्कात् प्रायो नैव सम्भवति । अतः किमिदमिति सम्यङ् न निर्णेतुं समर्थोऽस्मीति भावः ।

अत्र सन्देहालङ्कारः तल्लक्षणञ्च यथा—

"सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य, संशयः प्रतिभोत्थितः ।
शुद्धो, निश्चयगर्भोऽसौ, निश्चयान्त इतित्रिधा" ।।इति ।

माधुर्यमत्र गुणः । वैदर्भी रीतिः । वसन्ततिलका च्छन्दः ।।११।।

अपिच—

पुनरपि रामस्वानुभवमाह—स्पर्श इति ।

अयं पूर्वपरिचित एवास्ति स्पर्शः । अनेन मम सञ्जीवनं सञ्जातम्, मनसस्तृप्तिश्च सञ्जाता । मोहात्पूर्वं मम जडताऽऽसीत्, सा च जडताऽनेन स्पर्शेण दूरीकृता यद्यपि, तथापि पुनरानन्दप्रदानेन नवीना काचिदनिर्वचनीया जडता प्रकटिता । जाड्यं द्विविधम्, मोहावस्थायाम्, आनन्दावस्थायाञ्चेति । मया चोभय-विधमप्यनुभूतमिति भावः । इदानीमहं परमानन्दमनुभवामीति हृदयम् ।

अत्र विरोधालंकारः । वसन्ततिलका च्छन्दः १२।।

कदाचिन्मम करस्पर्शान्महाराजः प्रकुपितो भवेदिति भीतायाः रामस्य दयनीयां दशामालोक्य सदयायाः सीतायाः, वचनम्—एत्तिअमिति । एतावदेव मम निर्वासितायाः प्रियकरस्पर्शनमेव वरम् । निर्वासितायास्तु दर्शनेऽपि महान् सन्देह आसीत्, स्पर्शस्य तु कथैव का ? स च स्पर्शो मयेदानीमनुभूतः, इत्यतो ब्रवीमि, एतावदेव मम बहुतरमिति ।

टिप्पणी

साह्लादोच्छ्वासः—आह्लादेन सहितः साह्लादः उच्छ्वासो यस्य स । (२) जीवितं त्रैलोक्यस्य—कहने का तात्पर्य यह है कि श्रीराम पर ही तीनों लोकों का जीवन आधारित है ।

वीरराघव इस पर लिखते हैं—

"त्रयाणामपि लोकानां राममयं जीवितत्त्वाद्रामजीवने तज्जीवनमिति भावः ।

तदुक्तम्—

"रामो रामो राम इति प्रजानामभवद् कथाः ।
रामभूतं जगदभूद्रामे राज्यं प्रशासति ।।' इति ।।"

घनश्याम पण्डित ने श्रीराम और त्रैलोक्य का अद्वैत सिद्ध करते हुए लिखा है—"एतेन रामस्य त्रैलोक्यस्य च एकार्थवर्णनादद्वैतमेव प्रामाणिकमिति कविना

सिद्धान्तमार्गो दर्शित इति बोध्यम् । अतएव 'हरिरेव जगज्जगदेव हरिः' इति, 'सर्वं विष्णुमयं जगत्' इति, 'भूतानि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः' इति प्राञ्चः' ।

सीता ने अन्यत्र भी इसी प्रकार की बात कही है:—

१. "सकललोकमङ्गलाधारस्य····" (उत्त० ३।३८ श्लोक के बाद) ।

२. "धन्या खलु सा यैवमार्यपुत्रेण बहुमन्यते या चार्यपुत्रं विनोदयन्त्याशानिबन्धनं जाता जीवलोकस्य ।" (उत्त० ३।४५ श्लो० के अनन्तर) ।

(३) आश्च्योतनम—पाठा०, 'प्रश्च्योतनम्' । आ समन्तात् श्च्योतनं गलनम् इति आश्च्योतनम् ?

"रसाविर्भूतये यत्स्यादङ्गुलीभिः प्रपीडनम् ।
तदाश्च्योतनमाश्च्योतश्चोतनं"—इति च द्विरूपः ।।

(४) हरिचन्दनपल्लवानाम्—हरिचन्दन पांच देवतरुओं में से अन्यतम है अथवा 'गोशीर्ष नामक चन्दनवृक्ष ।

"पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः ।
सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम् ।।"
"तैलपर्णिकगोशीर्षे हरिचन्दनमस्त्रियाम् ।।"—इति चामरः ।

(५) ···· करकन्दलः—किरणसमष्टिः । "कन्दे गोले समष्टौ च कन्दलः" इति संसारावर्त्तः । (६) आतप्तजीवितमनःपरितर्पणोऽयम्—पाठा०, १. 'आतप्तजीवन/जीवित-मनः । पुनः । तरोः परितर्पणो मे । (७) परितोषनश्च—पाठा०, 'परिमोहनश्च' । (८) विरोधात्मक—भाषा का चमत्कार दर्शनीय है ।

रामः—(उपविश्य) न खलु वत्सलया देव्याभ्युपपन्नोऽस्मि ?

सीता—हद्धी हद्धी ! किंति अज्जउत्तो मं मग्गिस्सदि ? [हा धिक् हा धिक् ! किमित्यार्यपुत्रो मां मार्गिष्यति ?]

रामः—भवतु, पश्यामि ।

सीता—भअवदि तमस ! ओसरह्म दाव । मं पेक्खिअ अणब्भणुण्णादेण संणिहाणेण राआ अहिअं कुपिस्सदि । [भगवति तमसे ! अपसरावस्तावत् । मां प्रेक्ष्यानभ्यनुज्ञातेन सन्निधानेन राजाऽधिकं कोपिष्यति ।]

तमसा—अयि वत्से ! भागीरथीप्रसादाद्वनदेवतानामप्यदृश्यासि संवृत्ता ।

सीता—अत्थि क्खु एदम् ? (अस्ति खल्वेतत् ?)

रामः—हा प्रिये जानकि !

सीता—(समन्युगद्गदम् ।) अज्जउत्त ! असरिसं क्खु एदं इमस्स वुत्तन्दस्स । (सास्रम्) भअवदि । किंति वज्जमई जम्मन्तरेसु वि पुणो वि असंभाविअदुल्लहदंसणस्स मं एव्व मन्दभाइणि उद्दिसिअ एव्व वच्छलस्स एव्वंवादिणो अज्जउत्तस्स उवरि णिरणुक्कोसा भविस्सम् ? अहं एव्व एदस्स हिअअं जाणामि, मह वि एसो । (आर्यपुत्र ! असदृशं खल्वेतदस्य वृत्तान्तस्य । भगवति ! किमिति वज्रमयी जन्मान्तरेष्वपि पुनरप्यसम्भावितदुर्लभदर्शनस्य मामेव मन्दभागिनीमुद्दिश्यैवं वत्सलस्यैवंवादिन आर्यपुत्रस्योपरि निरनुक्रोशा भविष्यामि ? अहमेवैतस्य हृदयं जानामि, ममाप्येषः ।

रामः—(सर्वतोऽवलोक्य सनिर्वेदम् ।) हा, न किंचिदत्र ।

सीता—भअवदि ! णिक्कारणपरिच्चाइणा वि एदस्स दंसणेण एव्वंविधेण कीलिसी मे हिअआवत्था ? त्ति ण आणामि, ण आणामि । [भगवति ! निष्कारणपरित्यागिनोऽप्येतस्य दर्शनेनैवंविधेन कीदृशी मे हृदयावस्था ! इति न जानामि, न जानामि।]

तमसा—जानामि वत्से ! जानामि ।

तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवशा-
द्वियोगे दीर्घेऽस्मिञ्झटिति घटनात्स्तम्भितमिव ।
प्रसन्नं सौजन्याद्दयितकरुणैर्गाढकरुणं,
द्रवीभूतं प्रेम्णा तवहृदयमस्मिन् क्षण इव ॥१३॥

अन्वयः—तव हृदयम्, अस्मिन् क्षणे, नैराश्यात्, तटस्थम् इव, अपि च, विप्रियवशात्, कलुषम् (इव), दीर्घे, अस्मिन्, वियोगे, झटिति घटनात्, स्तम्भितम्, (इव), सौजन्यात् प्रसन्नम् (इव), दयितकरुणैः गाढकरुणम्, प्रेम्णा द्रवीभूतम् इव (अस्ति) ॥१३॥

हिन्दी—

राम—(बैठकर) कहीं मैं स्नेहमयी देवी सीता) के द्वारा अनुगृहीत नहीं किया गया हूं ? (कहीं सीता ने ही तो मेरा स्पर्श नहीं कर लिया है ?)

सीता—हाय ! हाय ! क्या आर्यपुत्र मुझे ढूंढेंगे ?

राम—अस्तु, देखता हूं ।

सीता—भगवति, तमसे ! तब तक हम (यहां से) हट जायें। (अन्यथा) मुझको बिना आज्ञा के यहां उपस्थित देखकर 'राजा' अधिक क्रोध करेंगे।

तमसा—वत्से ! तुम तो गङ्गा जी के प्रसाद से वन-देवताओं के लिए भी अदर्शनीय हो गयी हो। (तुम्हें गङ्गा जी के प्रसाद से देवता भी नहीं देख सकते, मनुष्यों की तो बात ही क्या है ? अतः निश्चिन्त रहो, तुमको रामचन्द्रजी नहीं देख पायेंगे।)

सीता—क्या, ऐसा ही है ?

राम—हा ! प्रिये ! जानकि !

सीता—(प्रणय-कोप से गद्गद् स्वर में) आर्यपुत्र ! यह इस वृत्तान्त के अनुरूप नहीं है। (मुझे त्यागकर अब 'प्रिये !' सम्बोधन करना उचित नहीं है।) (रोती हुई) भगवति ! दूसरे जन्म में भी मुझे जिनके दर्शनों की सम्भावना नहीं थी जिनका दर्शन मेरे लिए सर्वथा दुर्लभ था, आज मुझ मन्दभागिनी को याद कर स्नेह से ऐसा कहने वाले आर्यपुत्र पर वज्रमयी में कैसे कठोर हो सकूंगी ? मैं ही इनका हृदय जानती हूं और ये मेरा !

राम—(चारों ओर देखकर, खेदसहित) हा ! यहां कुछ भी नहीं है !

सीता—भगवति ! अकारण ही (मेरा) परित्याग करने वाले इन को भी इस अवस्था में देखकर, न जाने मेरा हृदय कैसा हो रहा है। यह मैं नहीं जानती।

तमसा—जानती हूं बेटी ! (मैं) जानती हूँ।

[श्लोक १३] (बेटी !) इस समय तुम्हारा हृदय (पुनः राम से मिलने की) निराशा से उदासीन, अकारण परित्याग करने (के क्रोध) से कलुषित, इस दीर्घ वियोग में अकस्मात् मिलन हो जाने के कारण स्तब्ध, (राम के) सौजन्य से प्रसन्न, प्रिय के करुणामय विलापों से अत्यन्त शोकाकुल तथा प्रेम के कारण द्रवित (पिंघला हुआ) सा हो रहा है।

संस्कृत-व्याख्या

रामं स्वान्वेषणे तत्परं विज्ञाय सीता ततोऽपसर्तुमिच्छन्ती तमसामाह—भगवदि इति। भगवती तमसे ! आवामितोऽपसरावः। अन्यथा आज्ञां विनैव करस्पर्शेन महाराजोऽधिकं कुपितो भविष्यति।

[अत्र 'राजा' इति पदं रहस्यमयं कविना प्रयुक्तम्। अवसरप्रेक्षणीया हि राजानो भवन्ति। आज्ञामन्तरा च राज्ञां समीपे समुपसर्पणं सर्वथा हानिकरमिति भावः। "अधिकम्" इति पदेन च पूर्वं-कोपस्य फलमिदं मयानुभूयते एव, स च कोपः सामान्य एव, इदानीन्ते समधिकोपस्य न जाने किं फलं स्यादिति अत्र स्थाने नैव स्थेयम्। दूरे यदि कोपः सम्भविष्यति, तदा कथंचित् सोढ़व्योऽपि भवेत्। इति भावः।

"अनभ्यनुज्ञातेन"=अननुमतेन। निर्वासिताया मम समीपसमागमनमनुमतिं विना नोचितमिति भावः।

सीताया आशङ्कामपहर्तुं तमसा प्राह—अयि-इति। अयि वत्से सीते! त्वयेत्थं नाशङ्कनीयम् तत्रभवत्या भागीरथ्या अनुग्रहेण वनदेव्योऽपि त्वामवलोकयितुं समर्था न सन्ति, रामस्य तु कथनमेव किम् ?

[रामोऽधुना नरदेहे समवतीर्णः, अतोऽखिललोकस्य स्वामी सर्व-काल-दर्शी सन्नपि न प्रेक्षते, वनदेवीनां वा ततोऽधिकं सामर्थ्यमुक्तमिदमनुचितमिति ना शङ्कोद्भूलनीया।]

"हा प्रिये जानकि।" इति रामस्य वचनं श्रुत्वा प्रणय कुपिता सगद्गदं प्राह सीता—अज्जउत्त इति। आर्यपुत्र! इदं तव सम्बोधन-पदं सर्वथाऽनुचित-मिदानीं मन्ये। स्वयमेव मां परित्यज्य "हा प्रिये!" इति कथन कथमुचितमिति विचार्यम्! पुनः सास्रम्)=रुदतीं सती तमसामाह—देवि! जन्मान्तरेऽपि मभेद-मार्यपुत्रस्य दर्शनं दुर्लभमासीत्। ततो वज्रमयी भूत्वा कथं स्नेहवत आर्यपुत्रस्योपरि निर्दया भविष्यामि ?

"अहमेवास्य रामस्य हृदयं जानामि, मम चायम्' आवयोर्हृदयविज्ञाने साधा-रणपामरस्य नरस्य सामर्थ्यं कुतः ? ततश्च् मूढजनकथनात् प्रजापालक-धर्मं पालयितु-मेवायं माम्परित्यक्तवान्, न तु हृदयेन। इदं च स्फुटीकृतमेव स्वर्णमय्याः सीतायाः यज्ञे धर्मपत्नीस्वीकरणाद्भगवतेति मार्मिकं वचनं सीतादेव्याः परम प्रेमास्पदत्वमभिव्य-नक्ति इति महन्नैपुण्यं कवेः।

मम हृदयस्य कीदृशी दशेति कथयन्तीं सीताम्प्रति तमसा प्राह—तटस्थमिति।

[वत्से! त्वं तु न वेत्सि स्वहृदयस्य दशां, परमहं सम्यग् जानामि इत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनिना "अहमेव जाने, नान्यः कश्चित्, न वा त्वमिति देवतायाः सामर्थ्यातिरेकः सूचितः।] कीदृशं तव हृदयमिति प्रदर्शयति। नैराश्यात्= पुनरपि कदाचित् समागमो भविष्यति न वा ? इत्याशाया अभावात् तटस्थम्= उदासीनवदासीनम्। विप्रियस्य=वियोगस्य वशात् कलुषमिव=सञ्जातकोपकालुष्य-मिव। कथमहमनेन परित्यक्तेति भवत्याः कोपोदयात् कलुषमिवेति यावत्। अस्मिन् दीर्घे वियोगे सहसा संघटनात्=सम्मेलनात्, स्तम्भितमिव=स्पन्दनशून्य-मिव। सौजन्यात्=स्वाभाविकसौजन्यकारणात्, प्रसन्नम्=प्रसादयुक्तम्=सहर्ष-मिति। यावत्। दयितस्य=प्रियतमस्य करुणैः=करुणामयैर्विलापैरित्यर्थः। गाढकरुणम्=अतिशयकारुण्योपेतम्, प्रेम्णा चास्मिन् क्षणे द्रवीभूतम् इव= द्रवितमिव तव हृदयमस्ति।

एवञ्च—तव हृदये नैराश्य-कालुष्य-स्तम्भत्व-प्रसन्नता-गाढकारुण्य द्रवी-भावादि-विविधभावानां सम्मिश्रणं वर्तते, इति परमहृदयसाक्षितया मया सम्यग् ज्ञातम्। अहमतो न साधारणतया त्वयाऽवमन्तव्येति भावः।

अत्रोक्तानां भावानां वर्णनात् 'भावशवलता'। उत्प्रेक्षालङ्कारः। एकस्मिन् हृदये विरुद्धानां भावानां वर्णनाद् विरोधश्च। शिखरिणी च्छन्दः। तल्लक्षणं च यथा—

"रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी" इति। माधुर्यं गुणः। वैदर्भी रीतिः।

[अत्र किमपि परम रहस्यं तमसया प्रकटितम्। तथाहि—

"आकारैरिङ्गितैर्गत्या, चेष्टया भाषणेन च।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च, लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः॥"

इत्यभियुक्तोक्त्या मया तवाकारेण वचनेन च तव हृदयं विज्ञातम्। हृदयमेव मुखे समायातीति युक्तमेव! ननु कानि तानि मम वचनानि यैर्भवत्या मम हृदयं विशेष रूपेण ज्ञातम्? इति चेत् श्रूयताम्—"ताइं एव्व चिरपरिइदाइं अक्खराइं पञ्चवटी-दंसणेण मं मन्दभाइणिं अणुवन्धन्ति।" इति वाक्येन "ताटस्थ्यम्" "अज्जउत्त! असरिसं क्खु एदं इमस्स वुत्तन्तस्स" इति कथनेन "कालुष्यम्", "दिट्ठिआ, कहं पहाद-चन्दमण्डलापाण्डरपरिक्खामदुव्वलेण आआरेण णिअ-सोम्ह-गम्भीराणुभावमेत्तपच्च-हिजेज्जो अज्जउत्तो एव्व होदि ?' इति वचनेन "स्तम्भः", "किंति वज्जमंई जम्म न्तरेसु वि पुणोवि असंभाविअदुल्लहदंसणस्स मं एव्व मन्दभाइणीं उद्दिसिअ एव्वं-वच्छलस्स एव्वं-वादिणो अज्जउत्तस्स उवरि णिरणुक्कोसा भविस्सम् ?" इति वाक्येन सौजन्यात् 'प्रसन्नता' 'आश्च्योतनम्'· · ·"स्पर्शः पुरा परिचितः"· · ·इत्यादि राकोक्त्या —"एत्तिअं एव्व दाणिं मह वहुदरम्" इति वचनेन 'मं मन्दभाइणीं वाहरिअ· · · विपल्हत्थो' इति वाक्येन वा 'कारुण्यम्' प्रकटितं मया (तमसवा परिज्ञातमिति भावः।) श्लोकोऽयं हृदय-विज्ञान-पाण्डित्यं कवेरस्य सूचयति॥१३॥

टिप्पणी

(१) न खलु वत्सलया देव्या—पाठा०, "· · ·वत्सलया सीतादेव्या· · ·"। "वत्सलस्तु प्रसन्नः' इति हारावली। (२) क्मिमित्यार्यपुत्रो मां मार्गिष्यति—पाठा०, · · ·'मां निन्दिष्यति' (णिन्दिस्सदि) तथा 'मंस्यते' (मन्तिस्सदि)। (३) राजाधिकं कोपिष्यति—यहाँ 'राजा' शब्द का प्रयोग साभिप्राय है। राजा के पास बिना आज्ञा के पहुंचना राजा को कोप दिलाने वाला होता ही है। यहाँ 'राजा' शब्द में यह व्यञ्जना है कि ये श्रीराम जी सीता के पति होते हुए भी राजा पहले हैं। तभी तो प्रजापालन के लिए निर्दोष सीता को भी उन्होंने निकाल दिया था। उनका कथन था :—

"स्नेहं दयां च सौख्यञ्च, यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य, मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥" (उत्त०, १/१२)

इसोलिए सीताजी यहाँ उनके 'राजात्व' को अक्षुण्ण वनाए रखना चाहती हैं। (४) सीता—अत्थिक्खु एदम्?—पाठा०, १. "हुम्, अत्थि एदं।" (हुम्,

अस्त्येतत्) २. 'आम्, अत्थि क्खु एदं' (आम्, अस्ति खल्वेतत्), ३. "आम्, अत्थि एदं (आम्, अस्त्येतत्)। (५) (समन्युगद्गदम्)—पाठा०, १. 'ससाध्वसदगदम्'; २. 'ससाध्वसम्'। गद्गदं स्खलिताक्षरम्' इत्यमरमाला। (६) असरिसं क्खु एद इमस्स वुत्तन्दस्स—पाठान्तर, "असरिसं क्खु एदं वअणं इमस्स वुत्तन्दस्स" (असदृशं खलु एतद् वचनम् अस्य वृत्तान्तस्य)। इस वाक्य का अर्थ टीकाकारों ने विविध प्रकार से किया है। वीरराघव ने वृत्तान्त' का 'परित्याग रूप' वृत्तान्त अर्थ लिया है—"एतत् प्रियेत्यामन्त्रणम्। अस्य वृत्तान्तस्य। परित्यागरूपस्येत्यर्थः।" अर्थात् उपर्युक्त 'हा प्रिये जानकि !' यह वचन परित्यक्त सीता के लिए ठीक नहीं है। इसी आधार पर शारदारञ्जन रे ने 'मितभाषिणी' में लिखा है—'एतत् वचनं··· असदृशम् अननुरूपम्। न हि प्रिया केनचित् त्यज्यते इत्यर्थः।'

घनश्याम ने इस वाक्य को यों खोला है—"आर्यपुत्र आर्यपुत्र असदृशं खल्वेतस्य वृत्तान्तस्य। 'वृत्तान्तस्तु प्रयोगे च व्यवहारे च, इति पद्ममाला। तथा वृत्तान्तस्य—प्रिये-जानकि प्रयोगस्य व्यवहारस्य वा। एतत् निरूपणम् अभिनयं वेति शेषः। असदृशम् अनुचितं खल्वित्यर्थः।

(७) तटस्थं '''क्षण इव—१. पाठा०, ''''घटनात्स्तम्भितमिव' के स्थान पर 'घटनोत्तम्भितमिव' २. उत्प्रेक्षा और विरोध अलङ्कार। ३. शिखरिणी छन्द ४ माधुर्य गुण। (५) वैदर्भी रीति।

राम:—देवि !

प्रसाद इव मूर्तस्ते, स्पर्शः स्नेहार्द्रशीतलः।
अद्याप्यानन्दयति मां, त्वं पुनः क्वासि नन्दिनि ? ॥१४॥

हिन्दी—

राम—देवि !

[श्लोक १४] स्नेह से आर्द्र तथा शीतल तुम्हारा स्पर्श मूर्तिमान् प्रसाद की भांति मुझे अब भी आनन्दित कर रहा है। (परन्तु) आनन्ददायिनि ! तुम कहां हो ?

संस्कृत-व्याख्या

सीतामनवलोक्य रामः प्राह—प्रसाद इति।

देवि सीते ! स्नेहेनार्द्रः शीतलश्च मूर्तिमान् प्रसाद इवायन्तव स्पर्शः मामद्यापि आनन्दयति, नन्दिनि ! आनन्दप्रचुरे ! त्वं पुनः क्वासि ! तवापेक्षया तु तवायं "स्पर्शः" एव ममातिशयोपकारं कृतवान् ?

"अत्र मूर्तः प्रसाद इव" इत्यत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः। अनुष्टुप् छन्दः ॥१४॥

टिप्पणी

(१) अद्याप्यानन्दयति—पाठा०, "अद्याप्येवार्द्रयति"।

सीता—एदे क्खु अगाधमाणसदंसिदसिणेहसंभारा आणन्दणिस्सन्दिणो सुहामआ अज्जउत्तस्स उल्लावा। जाणे पच्चएण णिक्कालणपरिच्चाअसल्लिदोवि बहुमदो मह जम्मलाहो। [एते खल्वगाधमानसदर्शितस्नेहसम्भारा आनन्दनिष्यन्दिनः सुधामया आर्यपुत्रस्योल्लापाः। जाने, प्रत्यनेन निष्कारणपरित्यागशल्यितोऽपि बहुमतो मम जन्मलाभः।]

रामः—अथवा कुतः प्रियतमा ? नूनं सङ्कल्पाभ्यासपाटवोपादान एष भ्रमो रामभद्रस्य।

(नेपथ्ये)

अहो, महान् प्रमादः प्रमादः ! ['सीतादेव्याः स्वकरकलितैः, इत्यर्धं पठ्यते।]

रामः—(सकरुणौत्सुक्यम्) किं तस्य ?

(पुनर्नेपथ्ये) ('वध्वा सार्धम्' इत्युत्तरार्धं पठ्यते।)

सीता—को दाणिं अभिजुज्जइ ? [क इदानीमभियुज्यते ?]

रामः—क्वासौ दुरात्मा ? यः प्रियायाः पुत्रं वधूद्वितीयमभिभवति। (इत्युत्तिष्ठति।)

(प्रविश्य)

वासन्ती—(सम्भ्रान्ता।) देव ! त्वर्यताम्।

सीता—हा कह मे पिअसही वासन्ती ? [हा, कथं मे प्रियसखी वासन्ती ?]

रामः—कथं देव्याः प्रियसखी वासन्ती ?

वासन्ती—देव ! त्वर्यतां त्वर्यताम्। इतो जटायुशिखरस्य दक्षिणेन सीतातीर्थेन गोदावरीमवतीर्य सम्भावयतु देव्याः पुत्रकं देवः।

सीता—हा ताद जडाओ ? सुण्णं तुए विणा इदं जणट्ठाणम्। [हा तात जटायो ! शून्यं त्वया विनेदं जनस्थानम्।]

रामः—अहह ! हृदयमर्मच्छिदः खल्वमी कथोद्धाताः।

वासन्ती—इत इतो देवः।

शीता—भअवदि ! सच्चं एव्व वणदेवदावि मं ण पेक्खदि । [भगवति ! सत्यमेव वनदेवतापि मां न पश्यति ।]

तमसा—अयि वत्से ! सर्वदेवताभ्यः प्रकृष्टतममैश्वर्यं मन्दाकिन्याः । तत्किमिति विशङ्कसे ?

शीता—तदो अणुसरह्म । (इति परिक्रामति ।) [ततोऽनुसरावः ।)

रामः—(परिक्रम्य) भगवति गोदावरि ! नमस्ते ।

वासन्ती—(निरूप्य) देव ! मोदस्व विजयिना वधूद्वितीयेन देव्याः पुत्रकेण ।

रामः—विजयतामायुष्मान् ।

सीता—अह्महे ! ईदिसो मे पुत्तओ संवुत्तो ! [अहो ! ईदृशो मे पुत्रकः संवृत्तः ?]

हिन्दी—

सीता—आर्यपुत्र के ये गम्भीर हृदय से प्रेम प्रदर्शित करने वाले तथा आनन्द बरसाने वाले सुधामय प्रलाप हैं । मैं तो (इन वचनों के) विश्वास से यह समझती हूं कि अकारण परित्याग के शल्य से विद्ध होने पर भी मेरा जन्म सफल है ।

राम—अथवा (यहां) प्रियतमा कहां से आई ? निश्चय ही निरन्तर सीता-विषयक चिन्तन के अभ्यास से जन्य यह राम का (मेरा) भ्रम है ।

(नेपथ्य में)

ओह ! महान् प्रमाद ! महान् प्रमाद ! ("सीता देव्या" इत्यादि (३।६) श्लोक का पूर्वार्ध (वासन्ती के द्वारा) पढ़ा जाता है ।)

राम—(करुणा और उत्कण्ठा के साथ) उसका क्या ?

(पुनः नेपथ्य में)

("वध्वा सार्धम्—इत्यादि उत्तरार्ध पढ़ा जाता है ।)

सीता—उससे इस समय कौन लड़ रहा है ?

राम—वह दुरात्मा कहां है जो कि प्रिया (सीता) के सपत्नीक पुत्र पर आक्रमण कर रहा है ? [उठ जाते हैं ?]

[प्रवेशकर]

वासन्ती—(घबराई हुई) महाराज शीघ्रता कीजिये ।

सीता—हा, क्या, मेरी प्रियसखी वासन्ती है ?

वासन्ती—महाराज ! शीघ्रता कीजिये, शीघ्रता कीजिये । यहां से 'जटायु-

शिखर' के दायीं ओर 'सीता-तीर्थ' से गोदावरी में उतर कर आप देवी (सीता) के पुत्र को बचाइये।

सीता—हा ! तात जटायु ! तुम्हारे बिना यह जनस्थान शून्य है।

राम—अहह ! ये बीती हुई बातें हृदय-विदारक हैं।

वासन्ती—महाराज ! इधर से, इधर से।

सीता—भगवति ! सचमुच वनदेवी भी मुझे नहीं देख रही हैं।

तमसा—बेटी ! गंगा जी का प्रभाव सब देवताओं से बढ़ा हुआ है। फिर किस लिए शङ्का कर रही हो ?

सीता—तब हम इनका अनुसरण करें। [घूमती है।]

राम—(घूमकर) भगवति ! गोदावरी ! नमस्ते।

वासन्ती—(देखकर) महाराज ! देवी (सीता) के विजयी, सपत्नीक पुत्र (के दर्शन) से आप प्रसन्न हो !

राम—चिरञ्जीव विजयी हो।

सीता—ओह ! मेरा पुत्र ऐसा (इतना बड़ा) हो गया है !

संस्कृत-व्याख्या

भगवतो रामस्य स्नेहमयं वचनं श्रुत्वा विकला सती सीता प्राह—एदेक्खु-इति। आर्यपुत्रस्यामी उल्लापाः=वियोगभरिता विलापाः, अगाधमानसेन दर्शितः=प्रदर्शितः स्नेहस्य सम्भारः=समूहो यैस्तथाविधाः आनन्दरसस्यन्दिनः, सुधा मया इव सन्ति। एतेषां वचनानां श्रवणेन आर्यपुत्रस्य मानसिक-स्नेहः, आनन्दातिरेकश्च प्रतीयते, इति भावः।

अहन्तु सम्प्रति प्रत्ययेन=आर्यपुत्रवचनानां विश्वासेन एवं जानामि यत् निष्कारण-परित्यागेन मम जन्म-लाभः शल्य-युक्तः समभवत् इदानीञ्च साधुजन्मास्मीति विश्वसिमि।

पुनरपि सीतामपश्यन् रामः प्राह—अथवेति। रथवा, अत्र प्रियतमा कुतः सम्भवति ? यद्यभविष्यत्तदा कथन्नाद्रक्ष्यत् ? तर्हि किमेतदित्याह-नूनं सर्वदा सीता-विषयक—स्वच्छन्द-कल्पना-वशादय रामस्य भ्रम एव। संकल्पानाम् तद्गतचिन्ता-सन्तानानामभ्यासः=भूयो भूयोऽनुसन्धानम्, तस्य पाटवं=पटुतैवोपादानं=कारणं यस्मिन् सः, इति। मुहुर्मुहुः सीतायाश्चिन्तनेन सीतामयी भावना तदाकारेणैव परिणतेति तत्वम्।

"जटायु-शिखरस्य दक्षिणदिशि वर्तमाकन सीता-तीर्थेन गोदावरीमवतीर्य देव्याः पुत्रकं सम्भावयतु देवः" इति वासन्ती-वचनं श्रुत्वा, सीता-रामौ पृथक्-पृथक् परिखिन्नौ। तत्र सीता प्राह—

हा ताद-इति। त्वां विना जनस्थान शून्यमिवाभिभाति। मन्ये, जनस्थानस्य परा सम्पत्तिस्त्वमेवासीः, इति भावः।

रामोऽप्याह—अहह—इति । अमी=एते कथोद्घाताः=सीता, जटायु-प्रभृतीनां पूर्वतनकथानामुद्घाताः कथनानि, हृदयस्य मर्म=कोमलस्थानं, छिन्दति । एतेषां शब्दानां श्रवणेनैव हृदये महती वेदना प्रादुर्भवतीति हृदयम् ।

सत्यमेव वनदेवतापि मां न पश्यति ? सीता वचनं निशम्य तमसा गंगादेव्या माहात्म्यं प्रकाशयितुमाह—अयि वत्से ! इति । वत्से ! सर्वाभ्योऽपि देवीभ्यो गङ्गाया ऐश्वर्यं प्रकृष्टतममस्ति त्वं किमिति तद्वचसि मुधा ? शङ्कां करोषीति भावः ।

टिप्पणी

(१) अगाधमानसदर्शितस्नेहसम्भाराः =अगाधः मानसे दर्शितः स्नेहसम्भारः येषु ते । पाठा०, "अगाधदर्शितस्नेहसम्भाराः" (अगाधदंसितसिणेहसम्भारा) अगाधश्च दर्शितश्च स्नेहसम्भारः येषु ते । सम्भारः=सम्+√भृ+घञ् भावे ।

(२) सुधमायाः—पाठा०, "श्रुता मया" (सुदा मए) । (३) निष्कारणपरित्यागशल्यितः—शल्य+इतच्=शल्यितः 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्' (पा०, ५।२।३६) ।

पाठा०,…"शल्यतः" । घनश्याम पण्डित ने यही पाठ मानकर टीका की है—"शल्यतः शल्यादपि । तथा च ईदृशशल्यनिवारणाय शरीरपातोऽस्तु, एतादृशप्रियं-वदनाथोपभोगाय पुनर्जन्मलाभोऽस्त्विति सीतायै । भाव इति बोध्यम् ।"

(४) सङ्कल्पाभ्यासपाटवोपादानः–संकल्पस्य अभ्यासः, तस्मिन् पाटवं (कौशलं) उपायनं (करणं) यस्य सः । पाठा०, १. "सङ्कल्पावभासपाटवोपादानः" । घनश्याम ने यही पाठ स्वीकार किया है । "सङ्कल्पस्यावभासे (भासने यत् पाटवं (सामर्थ्यं) तदेवोपादानं (साधकतमं) यस्य । करणं साधकतमोपादाने' इति विक्रमार्कः ।" पाठा०, २. 'सङ्कल्पाभ्यासपाटवोत्पादितः' ३. "पाटवोत्पादः" । (५) जटायुशिखरस्य-दक्षिणेन पाठा०, १. जटायुशिखरदक्षिणेन, २. जटायुगिरिशिखरस्य दक्षिणेन । 'जटायु' और "जटायुस्"–दोनों रूप बनते हैं—"जटायुस्तु जटायुवत्" इति लिङ्ग-निर्णय । (६) पुत्रकम्—अनुकम्पितः पुत्रः पुत्रकस्तम् । "अनुकम्पायाम्" (पा० ५।३।७६) इति पुत्रशब्दात् कन् । (७) कथोद्घताः—"उद्घात आरम्भः" इत्यमरः । उद्+√हन्+घञ् भावे उद्घातः । (८) हृदयमर्मच्छिद–पाठा०, "हृदयमर्माविधः" हृदयमर्माणि विध्यतीति—मर्माविध् । मर्म+क्विप् । नहि वृति-वृषि-व्यधि रुचि सहि तनुषु क्वौ' [पा० ६।३।४६१] इति दीर्घत्वम् । (९) विजयतामायुष्मान्—"विपराभ्यां जे" इत्यात्मनेपदत्त्वम् ।

रामः—हा देवि ! दिष्टचा वर्धसे ।

येनोद्गच्छद्बिसकिसलयस्निग्धदन्ताङ्कुरेण,
व्याकृष्टस्ते सुतनु ! लवलीपल्लवः कर्णमूलात् ।

सोऽयं पुत्रस्तव मदमुचां वारणानां विजेता,
यत्कल्याणं वयसि तरुणे भाजनं तस्य जातः ॥१५॥

अन्वयः—हे सुतनु ! उद्गच्छद्बिसकिलयस्निग्धदन्ताङ्कुरेण, येन, ते कर्णमूलात्; लवलीपल्लवः, व्याकृष्टः, सोऽयम्, तव पुत्रः, मदमुचां वारणानां, विजेता (सन्), तरुणे वयसि, यत् कल्याणं, तस्य भाजनं जातः ॥१५॥

सीता—अविउत्तो दाणि दीहाऊ इमाए सोह्मदंसणाए होदु ।
[अवियुक्त इदानीं दीर्घायुरनया सौम्यदर्शनया भवतु ।]

हिन्दी—

राम—हा देवि ! सौभाग्य से बढ़ रही हो !

[श्लोक १५] सुन्दरि ! जो (पहले) अपने उगते हुए मृणाल-किसलय के समान स्निग्ध दांत से तुम्हारे कर्णमूल से 'लवली'—लता का पत्ता खींच लिया करता था; वही तुम्हारा पुत्र अब मद-मत्त-मतङ्गों का विजेता होकर, युवावस्था का जो सुख होता है, उसका भाजन बन रहा है ।

सीता—अब यह दीर्घायु अपनी इस प्रियदर्शना पत्नी से वियुक्त न हो ! (इसी के साथ रहे !)

संस्कृत-व्याख्या

तत्रभवाम् रामो गजपुत्रं वधूसहितमवलोक्य सीतांवर्धापयन्नाह—एनोद्गच्छ-दिति ।

हा देवि ! दिण्ट्या—सोभाग्येन, वर्धसे । यतोऽयं करि-कलभस्त्वया पोषितो-ऽप्येदृशः संजातः इति । उद्गच्छत्=उद्भवन्—उत्पद्यमानः इति यावत् यो विस-किसलयः—कमलनाल-पत्रम्, तद्वत् स्निग्धः=चिक्कणः दन्तस्याङ्कुरो यस्य तेन, येन तव पुत्रेण सुतनु ! =सुन्दरि ! तव कर्णमूलात् लवली-लतायाः पल्लवः पूर्व-माकृष्टः, स एवायं तव पुत्रः (समदानां वारणानां=गजानां विजेता, तरुणे वयसि=युवावस्थायां यत् कल्याणं=सुखं भवति, तस्य भाजनं जातः । यौवने प्रबला-शक्तिः, वधू साहाय्यञ्च अपेक्षितं भवति, अयमपि तथा संजातः, इति भावः ।

अत्रोपमाऽलङ्कारः । मन्दाक्रान्ता च्छन्दः ॥१५॥

टिप्पणी

(१) हा देवि ! दिष्ट्या वर्धसे—पाठा०, "देवि ! दिष्ट्या—" । 'दिष्टि' का प्रयोग हर्ष अथवा सौभान्य के अर्थ में होता है—"दिष्टिरानन्दे माने च"—इति हैमः । "दिष्ट्या हर्षे मङ्गले च" इति मेदिनो । दिष्टि शब्द का तृतीयान्त रूप 'दिष्ट्या' मानने पर "हेतौ"—नियमानुसार हेतु में तृतीया होगी वैसे 'दिष्ट्या' भाग्य अथवा हर्ष-सूचक अव्यय भी है जैसाकि ऊपर मेदिनी कोष से स्पष्ट है ।

श्रीरामजी के इस कथन का अभिप्राय यह है कि मैं तो तुम्हें कुछ सुख न दे सका (मैंने तो तुम्हारे सौख्य में कुछ वृद्धि नहीं की) किन्तु भाग्य तुम पर फिर भी अनुकूल है जो तुम्हें पुत्र-सुख दिया है।

इस हाथी के बच्चे की कथा को अवतरित करने में कवि का उद्देश्म लव-कुश की ओर संकेत करना है जैसा कि आगे होगा—यादृशोऽयं तादृशौ तावपि।"

(२) उद्गच्छद्विसकिसलयस्निग्धदन्ताङ्कुरेण—उद्गच्छत् विसकिसलयवत् स्निग्धः दन्ताङ्कुरो यस्य तेन। अथवा "उद्गच्छत् उदयच्च तत् विसं तदेव किसलयं तद्वत् स्निग्धो मसृणः दन्ताङ्कुरः यस्य तेन। (३) कर्णमूलात्—पाठ०, "कर्णपूरात्" (४) व्याकृष्टः—वि+आ+√कृष्+क्त। (५) भाजनम्—"भाजनं" शब्द नित्य-नपुंसक है। (६) अवियुक्त—भवतु—सीता के इस कथन में उसकी वियोगानुभूति, परदुःखकातरता आदि स्पष्ट झलकती है। वह देख चुकी है कि प्रिय से वियुक्त होने में कितना कष्ट होता है, इसलिए उसकी इच्छा है कि उसका पुत्र उसके साथ ही रहे। वियोगजन्य वह कष्ट जो उसे अथवा श्रीराम को उठाना पड़ रहा है, बच्चे को न उठाना पड़े।

रामः—सखि वासन्ती! पश्य पश्य। कान्तानुवृत्तिचातुर्यमपि शिक्षितं वत्सेन।

लीलोत्खातमृणालकाण्डकवलच्छेदेषु संपादिताः,
पुष्यत्पुष्करवासितस्य पयसो गण्डूषसंक्रान्तयः।
सेकः शीकरिणा करेण विहितः कामं विरामे पुन-
र्यत्स्नेहादनरालनालनलिनीपत्रातपत्रं धृतम् ॥१६॥

अन्वयः—यत्, स्नेहात्, लीलोत्खातमृणालकाण्डकवलच्छेदेषु, पुष्यत्पुष्कर-वासितस्य पयसः, गण्डूषसंक्रान्तयः सम्पादिताः, शीकरिणा करेण, कामं, सेकः, विहितः, पुनः, विरामे, अनरालनालनलिनीपत्रातपत्रम्, धृतम् ॥१६॥

हिन्दी—

राम—सखि! वासन्ति! देखो, देखो,! प्रियतमा को प्रसन्न करने की कला भी वत्स ने सीख ली है।

[श्लोक १६] (पहले तो इसने) लीलापूर्वक उखाड़े गये मृणादण्ड के ग्रासों की समाप्ति पर, विकसित कमलों से सुवासित जल को (अपने) मुख में भर कर (अपनी प्रियतमा के मुख में) छोड़ा पिलाया। तदनन्तर जलपूर्ण सूंड से उसे पर्याप्त सिक्त भी किया—नहलाया और अन्त में, बड़े स्नेह से एक सीधी नाल वाले कमल के पत्ते के छत्र को उसके ऊपर तान दिया।

[भावार्थ—देखो, पहले तो इसने खेल ही खेल में (अनायास) मृणालों को उखाड़ कर उनके छोटे-छोटे ग्रास बनाकर अपनी प्रियतमा को खिलाये। फिर विकसित कमलों से सुवासित सरोवर के जल को अपने सूंड में भरकर उसे पिलाया। तदन्तर अपने सूंड से जल की फुहारें छोड़कर उसे खूब स्नान कराया और अन्त में बड़े स्नेह से एक सीधी नाल वाले कमल-पत्र के छाल को उसके ऊपर तान दिया।]

संस्कृत-व्याख्या

गज-कलभस्य स्वकान्तानुवृत्ति-चातुर्यमाख्यातुं रामो वासन्तीं प्रत्याह—लीलोत्खातेति।

गज-कलभस्य स्वकान्तानुवृत्ति-चातुर्यमाख्यातुं रामो वासन्तीम्प्रत्याह—लीलोत्खातेति। अयं करिवरपोतः स्वसहचरी-समाराधन-निपुणो जातः, तथाहि—यत्=यतः स्नेहात् लीलया=क्रीडयैव, क्लेशं विनैवेति यावत्, उत्खाताः=उत्पाटिताः ये मृणालानां काण्डाः विस-स्तम्बाः तेषां कवलानां=ग्राशानां छेदेषु=शकलेषु, पुष्यन्ति=विकासं भजमानानि यानि पुष्कराणि=कमलानि, तैः वासितं=सुगन्धितं, तस्य पयसः=जलस्य गण्डूषाणां=सुखजलानां, संक्रान्तयः=प्रदानानि, सम्पादिताः=कृताः, तथा शीकरिणा—जलकण-युक्तेन करेण—शुण्डादण्डेन कामं=पर्याप्तं यथा स्यात्तथा सेकः=जलेन सेकः, विहितः=कृतः विरामे=अन्ते च पुनः अनरालम्=वक्रतारहितं, नालम्=दण्डो यस्य तत् एवंविधम् यत् नलिन्याः=कमलिन्याः पत्रं=कमल-दलम्, तदेवातपत्रम्=आतपनिवारणार्थं छत्रं धृतम्।

अयंमाशयः—यथा पुरुषा युवावस्थायां स्वपत्नीभिः सह-भोजन-पानादि-सुखमनुभवन्ति, तथैवायमपि सुखमनुभवितुं तथा यतते। तथाहि—स्वशुण्डादण्डेन सहसा मृणालमुत्पाटयति, तेषां खण्डानि करोति, भोक्तुं तेषामुपरि स्वकरेण जलमादाय परिक्षिपति, येन सुवासितानि शीतलानि च तानि कमलनालशकलानि भोजने परममानन्दं जनयन्ति। ततश्च तस्याः=स्वपत्न्या उपरि पर्याप्तं जलं स्वहस्तेनैव निपातयति, अस्य व्यापारस्यान्ते च नलिनी-पत्रेणातप-निवारणं करोति। एवंविधेन मधुरेण व्यापारेण परस्परं मनसः सन्तर्पणं जायते। इति सरलोऽर्थः।

अत्र सम्भोग-शृङ्गारस्य तिर्यग्गतत्वेन रसाभासता। गजानां स्वभाव-वर्णनात् स्वभावोक्तिरलङ्कारः। नलिनी-पत्रे चातपत्रारोपणात् रूपकालङ्कारः। शार्दूलविक्रिडितं च्छन्दः॥१६।

टिप्पणी

(१) कान्तानुवृत्तिचातुर्यम्—सम्भवतः श्रीरामजी को यह दृश्य देखने से अपना भी स्मरण हो आया था। देखिये सीता का यह कथन—"पश्यामि तावदार्यपुत्रस्वहस्तधृततालवृन्तातपत्रम् आत्मनः दक्षिणारण्यपथिकत्वम्।" (उत्त०, १।२४ श्लोकान्तर) (२) लीलोत्खात···—लीलया उत्खातानि मृणालकाण्डनि तेषां

कवलाः, तेषां छेदेषु (समाप्तिषु) । विद्यासागर ने छेद का अर्थ 'खण्ड, (अंश) लिया है—

"कवलच्छेदेषु ग्रासांशेषु" "छेदो विभजने भङ्गव्यययोः"—इति मुकुटः ।

(३) सम्पादिताः—पाठा०, 'सम्पातिताः' । (४) पुष्यत्पुष्करवासितस्य—पाठा०, "पुष्प्यत् · · ·" । पुष्यत् पुष्करं (पद्मं) तेन वासितस्य । अथवा पुष्यत् पुष्करं (करिहस्ताग्रं) तस्मिन् वासितस्य । (५) अनराललनाल · · ·— अनरालं (अवक्रं) नालं (कमलदण्डः) यस्य तत् नलिनीपत्रम्; तदेवातपत्रम् (छत्रं) तत् । (६) यह पद्य मालतीमाधव के ९ वें अङ्क में ३४ संख्या पर भी आया है । वहाँ 'यत्' के स्थान पर 'न' है । (७) स्वाभाविक वर्णन दर्शनीय है ।

सीता—भअवदि तमसे ! अयं दाव ईरिसो जादो । दे उण ण आणामि, एत्तिएण कालेण कुसलवा कीरिसा संवुत्तेत्ति ! [भगवति तमसे ! अयं तावदीदृशो जातः । तौ पुनर्न जानाम्येतावता कालेन कुशलवौ कीदृशौ संवृत्ताविति ?]

तमसा—यादृशोऽयं, तादृशौ तावपि ।

सीता—ईरिसंह्मि मन्दभाइणी, जाए ण केवलं अज्जउत्तविरहो पुत्तविरहो वि । [ईदृश्यस्मि मन्दभागिनी, यस्याः न केवलमार्यपुत्रविरहः, पुत्रविरहोऽपि ।]

तमसा—भवितव्यतेयमीदृशी ।

सीता—किंवा मए पसूदाए ? जेग एआरिसं मह पुत्तआणं ईसिविरलधवलदसणकुड्मलुज्जलं, अणुबद्धमुद्धकाअलीविहसिदं, णिच्चुज्जलं, मुहपुण्डरीअजुअलं ण परिचुम्बिअं अज्जउत्तेण । (किंवा मया प्रसूतया ? येनैतादृशं मम पुत्रकयोरीषद्विरलधवलदशनकुड्मलोज्ज्वलमनुबद्धमुग्धकाकलीविहतं नित्योज्ज्वलं मुखपुण्डरीकयुगलं न परिचुम्बितमार्यपुत्रेण ।)

तमसा—अस्तु देवताप्रसादात् ।

सीता—भअवदि तमसे ! एदिणा अवच्चसंसुमरणेण उस्ससिदपण्हुदत्थणी दाणिं वच्चाणं पिदुणो संणिहाणेन खणमेत्तं संसारिणी संवुत्तह्मि । (भगवति तमसे ! एतेनापत्यसंस्मरणेनोच्छ्वसित-

प्रस्नुतस्तनी इदानीं वत्सयोः पितुः सन्निधानेन क्षणमात्रं संसारिणीं संवृत्तास्मि ।)

तमसा—किमत्रोच्यते ? प्रसवः खलु प्रकृष्टपर्यन्तः स्नेहस्य । परं चैतदन्योन्यसंश्लेषणं पित्रोः ।

अन्तःकरणतत्त्वस्य, दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात् ।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति पठ्यते ॥१७॥

अन्वयः—दम्पत्योः, अन्तःकरणतत्त्वस्य स्नेहसंश्रयात्, अयमेव, एकः आनन्दग्रन्थिः, 'अपत्यम्' इति पठ्यते ॥१७॥

हिन्दी—

सीता—भगवति तमसे ! यह तो ऐसा (इतना बड़ा) हो गया है; और न जाने, इतने दिनों में वे कुश और लव (कितने बड़े) हो गये होंगे !

तमसा—जैसा यह है, वैसे ही वे भी (होंगे) ।

सीता—'मैं ऐसी मन्दभागिनी हूं जिसे न केवल पति का ही विरह है अपितु पुत्रों का भी विरह है !

तमसा—यह होनहार ही ऐसी है ।

सीता—मेरे पुत्र उत्पन्न करने से क्या लाभ है ? जिससे मेरे पुत्रों के छोटे-छोटे, श्वेत कलिकाओं के सदृश दांतों से उज्ज्वल निरन्तर, मनोहर और कल हास्य से युक्त मुख-कमल को आर्यपुत्र ने नहीं चूमा !

तमसा—देवताओं की कृपा से ऐसी ही हो !

सीता—भगवति तमसे ! इस सन्तान-स्मरण से मेरे फड़कते हुए स्तनों से दूध बहने लगा है और इस समय बालकों के पिता (राम) के सान्निध्यसे क्षण भर के लिए मैं संसारिणी हो गई हूं !

तमसा—इस विषय में क्या कहना है ? सन्तान 'स्नेह की चरम सीमा' है । और माता-पिता के हृदय की संयोजन-ग्रन्थि है ।

[श्लोक १७] स्नेह का आश्रय ग्रहण करने से दम्पति के अन्तःकरण में रहने वाले 'आनन्द' (नामक तत्व) की एक मात्र 'ग्रन्थि' को (ही) 'सन्तान' कहते हैं । [अर्थात्, पति-पत्नी के स्नेह-युक्त हृदयों को एक बन्धन में बांधने वाली ग्रन्थि तथा हृदय में बिखरे हुए प्रेम कणों के मूर्त रूप को ही 'सन्तान' कहते हैं ।]

संस्कृत-व्याख्या

"पुत्रयोर्मुखमार्यपुत्रेण न परिचुम्बित" मिति खिन्ना सीतां देवी तमसां प्रत्याह—'—किं वा इति । मम पुत्रोत्पत्त्याः को लाभः ? ययोः मुखकमलमपि

किञ्चिद्विरलश्वेतदन्तकुड्मलोपेतम्, निरन्तरकाकलीयुक्तम्, अतिमधुरम्, सततोज्ज्वलम्, आर्यपुत्रेण न परिचुम्बितम् ! पत्या पुत्र-मुख-परिचुम्बनमेव पत्नी-प्रसादकमिति भावः।

तथा परिसन्तप्तां सीतामश्वासयितुमाह तमसा—अस्तु इति। देवतानां गङ्गा-पृथिव्यादीनां प्रसादात् एवमस्त्विति ममाशीर्वादः। नियति-नियोग एतादृश एवासीद्, यद्वशात्त्वया पति-पुत्र-विरहः समनुभूतः। नतु तत्र रामभद्रस्यान्यस्य वा कस्यचिद-पराधः। स्वकर्मणः फलन्तु सर्वैरपि भोक्तव्यमेव, परं शीघ्रमेव वियोगः संयोगे परिणतो भविष्यत्येवेति शुभाशीर्वादरूपेण प्रतिपादितमिति सारः।

अहमिदानीमात्मनः पुत्रयोः स्मरणेनार्यपुत्रस्य सामीप्याच्च क्षणं संसारिणी संवृत्तेति प्राह सीता-भअवदि इति। अपत्यस्य=पुत्रयोः, उच्छ्वसितो=परिकम्पितौ, प्रस्नुतौ=क्षरत्क्षीरौ स्तनौ यस्याः सा। दुर्दैव—वशात् पति-पुत्र-सुखं मया नानुभूतम्, क्षणमात्रमद्यैवासौ समयः समायातः, इति भावः।

सन्तानस्य स्मरणेनेदं समुचितमेव सञ्जातमिति 'अपत्यस्य' महात्म्यं प्रकट-यितुमुपक्रमते तमसा—किमत्रेति। अत्र विषये किमु वक्तव्यम् ? प्रसवः=अपत्यं हि नाम, स्नेहस्य-वात्सल्यस्य, प्रकृष्टपर्यन्तः=पराकाष्ठा। परञ्च=अपि च, 'अपत्यं' माता पित्रोः अन्योन्य-संश्लेषणम्=परस्परचित्तबन्धनम्। सन्ततिं विलोक्य जाननी जनकश्चातितमामनुरज्येते। ततश्च कुश-लवयोः स्मरणेन "संसारिणी" संजातेति युक्तमेवोक्तं भवत्येति भावः। परमप्रेमसम्पन्नयोरपि दम्पत्योः सन्तानाभावे मनसि विरक्तिः संजायते सांसारिकसुखेषु, तयोश्चित्तावरोधकमपत्यमेव भवतीति परम तत्त्वम्।

एतदेव समर्थयते—अन्तः इति।

स्नेहस्य समाश्रयणादेव, दम्पत्योः=पति-पत्न्योः जाया च पतिश्च, तौ दम्पती, "जायाया दम्भावो जम्भावश्च वा निपात्यते" इति नियमाद् 'जाया' शब्दस्य 'दम' देशो निपातनात्।) हृदये वर्तमानस्य तत्वस्य आनन्दस्यैको ग्रन्थिरेव 'अपत्यम्' इति पठ्यते।

[अत्रेदं परमरहस्यम्—"स्नेहो" हि 'चूर्णादिपिण्डीभाव-हेतुर्गुणः स्नेहः, इति लक्षण-लक्षितो भवति ततश्च दम्पत्योर्हृदये विकीर्ण इवानन्द, एकत्र "ग्रन्थि"—रूपतामादधदपत्यमेव कथ्यते। "अपत्य" मिति हि-न पतति वंशो येन तत्, इति व्युत्पत्त्या सिध्यति।

अन्तः करणानि च—मनः, बुद्धिः, अहङ्कारः, इति त्रिविधानि सांख्यसिद्धान्ते। "चित्त" सहितानि चत्वार्येतानि वेदान्त-सिद्धान्ते निरुच्यन्ते। इति।] आनन्दग्रन्थेः अपत्यरूपे परिणमनात् परिणामाऽलङ्कार। तल्लक्षणञ्च यथा—

"विषयात्मतयारोप्ये, प्रकृतार्थोपयोगिनि।
परिणामो भवेत्तुल्यातुल्याधिकरणो द्विधा॥" इति।

अनुष्टुप् छन्दः॥१७॥

टिप्पणी

(१) कीदृशौ संवृत्ताविति— (कीरिसा संवुत्तेत्ति)—पाठा०, 'कीदृशाविव भवत: (कीदिसा विम्र होन्ति) ।' सुतनिर्विशेष करिकलभ के दर्शन से अपने बच्चों का ध्यान हो आना स्वाभाविक ही है । (२) ईदृश्यस्मि''' विरहोऽपि—सीता के इस कथन में कितनी मार्मिकता है ! ऐसे संवाद भी कवि की उन विशेषताओं में से अन्यतम हैं जिनके आधार पर 'उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते' कहा गया है। (३) भवितव्यता—√भू+तव्य कर्तरि बाहुलकार=भवितव्यम् । तस्य भावः भवितव्यता । भवितव्य+तल् । (४) ईषद्विरलधवलदशनकुड्मलोज्ज्वलम्—पाठा०, 'ईषद्विरलकोमलधवलदशनोज्ज्वलकपोलम् ।' ईषद् विरलैः धवलैः दशनैरेव कुड्मलै-रुज्ज्वलम् । पाठा०—"ईषद्विरलाः कोमलाः धवलाश्च दशनास्तैः उज्ज्वलौ कपोलौ यस्य ।" घाटे शास्त्री इस प्रकार विग्रह करते हैं—"····दशनाश्च उज्ज्वलौ कपोलौ च यस्मिन् तत् । (५) अनुबद्धमुग्धकाकलीविहसितम्—अनुबद्धे मुग्धे काकलीविह-सिते यस्मिन् तत् । अथवा अनुबद्धं काकलीविहसितं यस्मिन् । "काकली तु कले सूक्ष्मे ध्वनौ"—इत्यमरः । (६) नित्योज्ज्वलम्—पाठा०, 'निबद्धकाकशिखण्डकम्' । निबद्धः काकशिखण्डकः यस्मिन् । (७) भावसाम्य के लिये देखिये—

"आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासै-
व्यक्तवर्णरमणीयवचः प्रवृत्तीन् ।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान् वहन्तो,
धन्यास्तदङ्करजसा मलिनीभवन्ति ।। (अभिज्ञान०)

(८) [श्लोक १७] अन्तःकरण+आदि सन्तान की क्या ही भव्य परिभाषा दी गई है ।

वासन्ती—इतोऽपि देवः पश्यतु ।

अनुदिवसमवर्धयत्प्रिया ते, यमचिरनिर्गतमुग्धलोलबर्हम् ।
मणिमुकुट इवोच्छिखः कदम्बे, नदति स एष वधूसखः शिखण्डी ।।१८।।

अन्वयः—अचिरनिर्गतमुग्धलोलबर्हम्, यं, ते प्रिया, अनुदिवसम्, अवर्धयत्, स एष, शिखण्डी, वधूसखः (सन्) कदम्बे, उच्छिखः, मणिमुकुटः, इव नदति ।।१८।।

सीता—(सकौतुकस्नेहास्रम्) एसो सो। (एषः सः ?)

रामः—मोदस्व वत्स ! वयमद्य वर्धामहे ।

सीता—एव्वं होदु । (एवं भवतु ।)

हिन्दी—

वासन्ती—महाराज ! इधर भी देखें—

[श्लोक १८] नये निकले हुए सुन्दर और चञ्चल पंखों वाले जिस मयूर को आपकी प्रिया (सीता) ने प्रतिदिन पाला था, वह अब कदम्ब के वृक्ष पर अपनी पत्नी के साथ ऊंची कलंगी से मुक्त (अथवा—ऊपर को फैलने वाली किरणों से युक्त। 'मणिमुकुट' का विशेषण) होकर कूक रहा है।

संस्कृत-व्याख्या

वासन्ती रामं मयूरं निरीक्षितुं प्रेरयति—अनुदिवसमिति।

वासन्ती रामं मयूरं निरीक्षितुं प्रेरयति—अनुदिवलमिति। अयं स पर्वतीयो ममूरः, यम् अचिरम्=सद्यः विनिर्गतं मुग्धं=मनोहरम् लोलं=चञ्चलम्, बर्हं=पुच्छं यस्य तम्, यस्य पुच्छं नवीनमेवोद्गतमिति यावत्। तव प्रिया सीता प्रतिदिवसं परिपोषितवती। अधुना सोऽपि शिखण्डी=मयूरः, उत्कृष्टा शिखा यस्य स मणिजटितमुकुट इव स्ववधूसहितः कदम्बवृक्षस्योपरि नदति=अव्यक्तस्वरेण केकारवं तनोति। यस्य परिपालनं सीतादेव्या कृतम्, सोऽपि वधूसखः सम्प्रति संसारसुखमनुभवति। नारीं विना संसारयात्रा निष्फला भवतीति सर्वेऽपि प्राणिनः सपत्नीका अत्र वनेऽपि, विद्यन्ते केवलं राम एवं सीतया रहितः। इति सर्वोऽपि वृत्तान्तसार्थः सन्तप्तयोः सीतारामयोः सन्तापकः एवेति प्रदर्शयितुमेव कवेरयं प्रयासः। सन्तापानन्तरमेव च संयोगस्यानन्दप्रदत्वं भविष्यतीति हृदयम्।

अत्र उपमा अलङ्कारः। पुष्पिताग्रा च्छन्दः। तल्लक्षणञ्च यथा—

"अयुजि न युगरेफतो यकारो,
युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा॥" इति।

माधुर्यमत्र गुणः। वैदर्भी रीतिः॥८॥

टिप्पणी

(१) अनुदिवसम्—दिवसे दिवसे-इति अनुदिवसम्। 'अव्ययं विभक्ति' इति अव्ययीभावः। प्रथम तथा द्वितीय पंक्ति का पाठान्तर यह भी मिलता है—

"अतरुणमदताण्डवोत्सवान्तेष्वयमचिरोद्गतमुग्धलोलबर्हः।"

किन्तु यह पाठ हृद्य नहीं है। यहाँ 'अतरुण' शब्द कोई विशिष्ट अभिप्राय नहीं रखता जब तक कि उसकी इस प्रकार व्याख्या न की जाय—'नास्ति तरुणो यस्मात्स तथा गुरुरित्यर्थः मदः, तेन ताण्डवं, तस्य उत्सव, तस्य अन्तः, तेषु एष सः।

(२) अचिरनिर्गतलोलमुग्धबर्हम्—अचिरं निर्गतं मुग्धं (मनोहरं) लोलं (चंचलं) बर्हं यस्य तम्। 'पिच्छबर्हे नपुंसके'—इत्यमरः। (३) उच्छिखः—उद्गता शिखा यस्य सः। (४) वधूसखः—वध्वाः सखा वधूसखः। 'राजाहःसखिभ्यष्टच् (पा० ५। ४।६१) इति टच्।

राम:—

भ्रमिषु कृतपुटान्तर्मण्डलावृत्ति चक्षुः,
प्रचलितचटुलभ्रूताण्डवैर्मण्डयन्त्या ।
करकिसलयतालैर्मुग्धया नर्त्यमानं,
सुतमिव मनसा त्वां वत्सलेन स्मरामि ॥१९॥

हन्त, तिर्यञ्चोऽपि परिचयमनुरुन्धन्ते ।

कतिपयकुसुमोद्गमः कदम्बः,
प्रियतमया परिवर्धितोऽयमासीत् ।

सीता—(सास्रम्) सुट्ठु पच्चहिजाणिदं अज्जउत्तेण । (सुष्ठु प्रत्यभिज्ञातमार्यपुत्रेण ।)

राम:—

स्मरति गिरिमयूर एष देव्याः,
स्वजन इवात्र यतः प्रमोदमेति ॥२०॥

वासन्ती—अत्र तावदासनपरिग्रहं करोतु देवः ।

(राम उपविशति ।)

अन्वयः—भ्रमिषु, कृतपुटान्तर्मण्डलावृत्तिचक्षुः, प्रचलितचटुलभ्रूताण्डवैः, मण्डयन्त्या, मुग्धया, करकिसलयतालैः, नर्त्यमानं, त्वां, सुतमिव, वत्सलेन मनसा, स्मरामि ॥१९॥

हिन्दी—

राम—[श्लोक १९] (मयूर ! तुम्हारे) चक्कर लगा-लगा कर घूमने पर, (अपाङ्ग-देश के) अन्दर ही अन्दर घूमने वाले नेत्रों को चञ्चल एवं सविलास भौंहों के नृत्यों से ही विभूषित करती हुई उस मुग्धा के द्वारा कर-पल्लवों की तालियों से नचाये जाते हुए तुम्हारा पुत्र की भांति, मैं स्नेहपूर्ण मन से स्मरण करता हूं ।

[भावार्थ—मयूर ! जब प्रियतमा कर-किसलयों द्वारा ताल देकर तुम्हें नचाया करती थी तब तुम जैसे-जैसे चारों ओर गोलाकार घूमते थे, वैसे ही वैसे उसके नेत्र भी अन्दर ही अन्दर घूमते थे । भौंहों के इस निपुण नृत्य से उनकी बड़ी शोभा होती थी । आज उन बातों को याद कर प्रेमपूर्ण मन से पुत्र की भांति मैं तुम्हारा स्मरण करता हूं ।]

वाह ! पशु-पक्षी भी परिचय (का ध्यान) रखते हैं !

[श्लोक २०] "प्रिततमा ने कुछ कलियों से युक्त जिस कदम्ब को (जलदाना-दि से) बड़ा किया था···।"

सीता—(आंखों में आंसू भर कर) आर्यपुत्र ने बहुत ठीक पहचाना ।

राम—"'''(उस पर बैठकर) यह पहाड़ी मोर देवी को याद कर रहा है, क्योंकि इस पर यह स्वजन की भांति आनन्द प्राप्त कर रहा है।"

वासन्ती—महाराज ! तब तक यहां आसन ग्रहण कीजिये।

[राम बैठ जाते हैं।]

संस्कृत-व्याख्या

वधूसखं नृत्यन्तं मयूरमालोक्य सानन्दमाह रामः—:भ्रमिषु इति।

अयमाशयः—सीता करतालं वादयन्ती सती मयूरं नर्तयति स्म। यथा यथा च मयूरः परितो भ्रमणं करोति स्म तथैव सापि स्वकीयं नेत्रं नेत्रपुटयोरन्तश्चालयति स्म। एवञ्चाधुनापि सुतमिमं मत्वा प्रीतियुक्तेन मनसा प्राक्तनीं दशां च स्मृत्वा हर्ष-विषादयोः प्रवाहे सन्तरणं करोमीति रामस्य भावः।

कठिनपदानां व्याख्या चाधो दीयते, श्लोकाशयस्तूपरि दत्त एव।

भ्रमिषु—भ्रमणेषु, कृता=सम्पादिता, पुटयोः=लोचनावरणयोः, अन्तः= मध्यभागे, मण्डलावृत्ति=मण्डलाकारेण आवर्तते=भ्रमतीति तथा चक्षुः=नेत्रम्, प्रचलिते=प्रकर्षेण चलिते अतिचञ्चले इति यावत्, चटुले=स्वभावेनैव चपले ये भ्रुवौ, तयोस्ताण्डवैः=नर्तनैः, मण्डयन्त्या=अलंकुर्वन्त्या, मुग्धया=मनोहरया, सीतया, कर-किसलययोस्तालैः नर्त्यमानं=नर्तनपरायणं क्रियमाणम्, त्वाम्=मयूरं, सुतमिव = पुत्रमिव, वत्सलेन = प्रीतिसहितेन, मनसा=चित्तेन, स्मरामि= ध्यायामि।

अत्र उपमा अलङ्कारः। मालिनीच्छन्दः ॥१९॥

रामः सहर्षं मयूर-वृत्तान्तं निरीक्ष्य प्राह—कतिपयेति।

हन्त ! पशु-पक्षिणोऽपि स्वकीयं परकीयं वेति परिचयं प्राप्नुवन्ति; तथाहि— एष पुरो दृश्यमानः कदम्बपादपः कतिपयकुसुमैरुपेतो यदासीत्, अयञ्च सीतादेव्या स्वयमेव जलदानादिना पोषितः, [रामवचनमाकर्ण्य सीता प्राह—सुष्ठु प्रत्यभिज्ञातं= परिज्ञातम्, आर्यपुत्रेण, इति] पुनरपि रामः प्राह—एष गिरिमयूर-तामेव सीतां संस्मरति, यतोऽस्मिन् स्वजने इव प्रमोदम्=आनन्दम् एति=प्राप्नोति। सर्वेऽपि प्राणिनः स्वजनं परिचिन्वन्त्येवेति भावः।

अत्र उपमा अलङ्कारः। पुष्पिताग्रा च्छन्दः। प्रसादो गुणः। लाटी रीतिः ॥२०॥

टिप्पणी

(१) पाठान्तर—'मण्डलावृत्तिचक्षुः' के स्थान पर 'मण्डलावृत्तचक्षुः' तथा 'मण्डलावृत्ति चक्षुः'। (२) कृतपुटान्त'''''—घनश्याम पण्डित ने 'कृत'''ताण्डवैः' को पद माना है। इसका विग्रह इस प्रकार होगा—'भ्रमिषु (भ्रमणेषु) कृताः पुटस्य अन्ते (नेत्रकोशान्तरे) याः मण्डलानाम् (मण्डलाकारेङ्गितानां) आवृत्तयः यास्याम्

ते चक्षुषी, प्रचलिते चटुले (चतुरे इति पाठा०) ये भ्रुवौ, तयोः ताण्डवानि च तैः ।
'('.....वृत्तिचक्षुषी च ..... ताण्डवानि च तैः ।)'

विद्यासागर ने इसके तीन खण्ड किये हैं—१. 'कृत...वृत्ति', २. 'चक्षुः' एवं ३. 'प्रचलति ताण्डवैः' । यह सरल पाठ है । पहला पद 'चक्षुः' का विशेषण है जो कि 'मण्डयन्त्या' का कर्म है । कृता पुटान्ते मण्डलाकाराः आवृत्तयः (मण्डलावृत्तिः) येन तत् चक्षुः । पाठा०, '' 'वृत्त' । कृतं पुटस्यान्तः मण्डलावृत्तम् येन तत् कृतपुटान्त-र्मण्डलावृत्तचक्षुः । ऐसी दशा में दो खण्ड होंगे—पहला चक्षुपर्यन्त और दूसरा 'मण्डलैः'-पर्यन्त ।

(३) करकिसलयतालैः—करौ किसलये इव तयोः तालाः तैः । 'तालः कालक्रियामानम्' इत्यमरः ।

'तालः करतलेऽङ्गुष्ठमध्यमाभ्यां च संमिते ।
गीताकालक्रियामाने करास्फाले द्रुमान्तरे ॥' इति विश्वः ।

(४) देव्याः स्मरति—[श्लोक २०] 'अधीगर्थदयेषां कर्मणि' (पा० २।३।५२) इति षष्ठी ।

वासन्ती—

नीरन्ध्रबालकदलीवनमध्यवर्ति,
कान्तासखस्य शयनीयशिलातलं ते ।
अत्र स्थिता तृणमदाद्वनगोचरेभ्यः,
सीता ततो हरिणकैर्न विमुच्यते स्म ॥२१॥

अन्वयः—कान्तासखस्य ते नीरन्ध्रबालकदलीवनमध्यवर्ति, शिलातलम् (अस्ति); अत्र स्थिता, सीताः, वनगोचरेभ्यः, तृणम्, अदात्, ततः, हरिणकैः, न विमुच्यते स्म ॥२१॥

रामः—इदमशक्यं द्रष्टुम् । (इत्यन्यतो रुदन्नुपविशति ।)

हिन्दी—

वासन्ती—[श्लोक २१) सघन और छोटे-छोटे केलों के वन में बीच में यह सहित आपके विश्राम करने के लिए शिला-तल था । इस पर बैठी हुई सीता वन में विचरण करने वाले मृगों को (कोमल-कोमल) तिनके दिया करती थी, इसी से उसे मृग नहीं छोड़ते थे ।

राम—इसे (तो) देखना (ही) असम्भव है ! (क्योंकि यह उन सुखद घड़ियों का स्मरण करा कर मेरे हृदय में वेदना उत्पन्न कर रहा है ।)

[रोते हुए दूसरी ओर बैठ जाते हैं ।]

संस्कृत-व्याख्या

वासन्ती भूतपूर्वं शयनीयशिलातलं दर्शयितुं रामं प्राह—नीरन्ध्रेति। श्रीमन्! सघन-बालकदलीनां वने तव सीता-सहितस्य शिलातलमासीत्। अत्र स्थिता च सीता देवी वनचरेभ्यो मृगेभ्यस्तृणान्यर्पितवती, अत एव ते तां न मुञ्चन्ति स्म। तृणप्रदानादेव मृगाः सीतां परितः प्रतितिष्ठन्ति स्मेति भावः। वसन्ततिलकः छन्दः। प्रसादो गुणः। लाटी रीतिः ॥२१॥

टिप्पणी

(१) नीरन्ध्र···र्वर्त्ति—पाठा०, एतत्तदेव कदलीवनमध्यवर्त्ति।' नीरन्ध्राः (निर्गतं रन्ध्रं याभ्यस्ताः) बालकदल्यः तासां वनं तस्य मध्ये वर्त्तते इति। (२) विमुच्यते स्म—'लट् स्म' (पा०, ३।२।११८) इति लट्।

सीता—सहि वासन्ति! किं तुए किदं अज्जउत्तस्स मह अ एदं दंसअन्तीए? हद्धी हद्धी, सो एव्व अज्जउत्तो, तं एव्व पञ्चवडीवणम्! सा एव्व पिअसही वासन्दी, दे एव्व विविहविस्सम्भसक्खिणो गोदावरीकाणणुद्देसा, दे एव्व जादणिव्विसेसा मिअपक्खिणो पाअवा अ। मह उण मन्दभाइणीए दीसन्तं वि सव्वं एव्वए दं णत्थि। ईदिसो जीवलोअस्स परिणामो संवुत्तो! [सखि वासन्ति! किं त्वया कृतमार्यपुत्रस्य मम चैतद्दर्शयन्त्या? हा धिक्! हा धिक्! स एवार्यपुत्रः, तदेव पञ्चवटीवनम्, सैव प्रियसखी वासन्ती, त एव विविधविस्रम्भसाक्षिणो गोदावरीकाननोद्देशाः, त एव जातनिर्विशेषा मृगपक्षिणः पादपाश्च। मम पुनर्मन्दभाग्याया दृश्यमानमपि सर्वमेवैतन्नास्ति। ईदृशो जीवलोकस्य परिणामः संवृत्तः!]

वासन्ती—सखि सीते! कथं न पश्यसि रामभद्रस्यावस्थाम्?

नवकुवलयस्निग्धैरंगैर्ददन्नयनोत्सवं,
सततमपि नः स्वेच्छादृश्यो नवो नव एव सः।
विकलकरणः पाण्डुच्छायः, शुचा परिदुर्बलः,
कथमपि स, इत्युन्नेतव्यस्तथापि दृशोः प्रियः ॥२२॥

सीता—सहि ! पेक्खामि । (सखि ! पश्यामि ।)

तमसा—पश्यन्ती प्रियं भूयाः ।

अन्वयः—नवकुवलयस्निग्धैः, अङ्गैः, नयनोत्सवं ददत्, सततम्, अपि, नः, स्वेच्छाहृदयः, स, नवः-नवः, एव (आसीत् परं सम्प्रति तु) शुचा विकलकरणः, पाण्डुच्छायः, परिदुर्बलः, "स, इति," कथमपि, उन्नेतव्यः, तथापि, दृशोः प्रियः ॥२२॥

हिन्दी—

सीता—सखि वासन्ती ! आर्यपुत्र को और मुझे यह (स्थान) दिखाकर तुमने यह क्या कर डाला ? हाय ! हाय ! यह वही आर्यपुत्र हैं, वही पञ्चवटी-वन है, वही प्रियसखी वासन्ती है, वही (हमारे) विश्वस्त विहारों के साक्षी गोदावरी के वन-प्रदेश हैं और ये वही सुत-निर्विशेष पशु (मृग) पक्षी तथा वृक्ष भी हैं; परन्तु मुझ मन्दभागिनी के लिए तो यह सब दिखलाई देता हुआ भी कुछ नहीं है। (मेरे लिए) संसार का ऐसा (दयनीय) परिणाम हो गया !

वासन्ती—सखि सीते ! रामभद्र की अवस्था क्यों नहीं देखती ?

[श्लोक २२]—जो राम (पहले) नये नीले कमल के समान स्निग्ध अङ्गों से हमारे नेत्रों को उत्सव देते हुए सदैव, अपनी रुचि के अनुरूप हमको नवीन ही नवीन प्रतीत होते थे, वे ही आज शोक से दुर्बल, विकलेन्द्रिय तथा पीले पड़ गये हैं, और बड़ी कठिनता से—"ये वे ही हैं" इस प्रकार पहिचाने जाते हैं, फिर भी (ये) लोचनरमणीय हैं।

सीता—सखि ! देख रही हूं।

वासन्ती—चिरकाल तक प्रिय को (यों ही) देखती रहो !

संस्कृत-व्याख्या

रामभद्रस्य चिन्ता-चुम्बितामिव दशां विलोकयितुं प्रत्यक्षेऽनुपस्थितामपि सीतां प्रीत्यतिशयवशाद् वासन्ती प्रार्थयते—नवकुवलयेति ।

नवकुवलयेति सखि ! सीते ! रामस्य कीदृशी दशा वर्तते ? इति त्वं न पश्यसि किमु ? यो रामः पूर्वं नवीननील-कमल-सन्निभैः स्निग्धतरैः शरीरावयवैः नेत्रयोरुत्सवं ददानः सततं स्वरुच्यनुसारं दर्शनीयः प्रतिक्षणं नव इवासीत्, स एवाधुना शुष्ककलेवरः, पाण्डुवर्णः, अतितमां दुर्बलेन्द्रिय-प्राणः 'स एवाऽयं' मिति कथमपि समुन्नेतव्यः, परिचेतव्योऽस्ति । तथापि लोचनरमणीयोऽस्ति । किमु, एवंविधां दशामनुप्रपन्नोऽपि रामस्तुभ्यं न रोचते ? अवश्यमेवानुकम्पनीयोऽयमिति भावः । स्वकीय प्रियं वस्तु सर्वदा प्रियमेव भवति । तथा चोक्तं माघेन—

> "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति,
> तदेवं रूपं रमणीयतायाः ॥" इति ।

रामस्य माधुर्यातिशयोऽनेनाभिव्यज्यते, इति तत्त्वम् । अत्रोपमालङ्कारः । हरिणी च्छन्दः ॥२२॥

टिप्पणी

(१) ईदृशो जीवलोकस्य परिणामः संवृत्तः—पाठाः, "ईदृशो जीवलोकस्य परिवर्त्तनः" (ईदिसो जीवलोग्रस्स परिवत्तो)। (२) [श्लोक २२] १. "नवकुवलयस्निग्धैः"—पाठा०, "कुवलयदलस्निग्धैः"।

२. पाण्डुच्छायः—पाठा० "पाण्डुः सोऽयम्।"

३. दृशोः प्रियः—पाठा०, "दृशां प्रियः।"

(३) नवो नव एव सः—पाठा०, "... एव यः।"

नवीनता लोचनों को प्रिय होती ही है क्योंकि यही तो सुन्दरता है और सुन्दरता उन्हें चाहिए ही—

"क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति,
तदेव रूपं रमणीयतायाः॥" (माघ)

(४) पश्यन्ती प्रियं भूयाः—पाठा०, 'यस्य प्रियं भूयः।'

सीता—हा! देव्व एसो! मए विणा अहंवि एदेण विणेत्ति केण संभाविदं आसि? ता मुहुत्तमेत्तं जन्मन्तरादोवि दुल्लहलद्धदंसणं बाहसलिलन्तरेसु पेक्खामि दाव वच्छलं अज्जउत्तम्। (इति पश्यन्ती स्थिता।) [हा दैव! एष मया विना अहमप्येतेन विनेति केन सम्भावितमासीत्? तन्मुहूर्तमात्रं जन्मान्तरादपि दुर्लभलब्धदर्शनं वाष्पसलिलान्तरेषु पश्यामि तावद्वत्सलमार्यपुत्रम्।]

तमसा—(परिष्वज्य सास्रम्।)

विलुलितमतिपूरैर्वाष्पमानन्दशोक-
प्रभवमवसृजन्ती पक्ष्मलोत्तानदीर्घा।
स्नपयति हृदयेशं स्नेहनिष्यन्दिनी ते,
धवलमधुरमुग्धा दुग्धकुल्येव दृष्टि॥२३॥

अन्वयः—अतिपूरैः, विलुलितम्, आनन्दशोकप्रभवं वाष्पम्, अवसृजन्ती, पक्ष्मलोत्तानदीर्घा, धवलमधुरमुग्धा, दुग्धकुल्या इव ते दृष्टिः स्नेहनिष्यन्दिनी (सती) हृदयेशं, स्नपयति॥ २३॥

हिन्दी—

सीता—सखि! देख रही हैं।

तमसा—चिरकाल तक प्रिय को (यों ही) देखती रहो!

सीता—हा, दैव ! "ये मेरे बिना और मैं इनके बिना रहूंगी" यह किसे सम्भावना थी ? अतः मैं जन्मान्तर में भी दुर्लभ-दर्शन प्रिय आर्यपुत्र को आंसू न गिरने के समय देखती हूं। (यदि आंसू आ गये तो दुर्लभ-दर्शन आर्यपुत्र दिखाई न दे सकेंगे। अतः उन्हें रोककर मैं पतिदेव का दर्शन करती हूं।)

[ऐसा कहकर देखती हुई खड़ी रहती हैं।]

तमसा—(लिपट कर रोती हुई)।

[श्लोक २३]—भरपूर वेग से, आनन्द और शोक से उत्पन्न आंसू बरसाती हुई, सघन पलकों से दीर्घ, स्नेह बरसाने वाली तुम्हारी धवल, मधुर प्रिय तथा मनोहारिणी दृष्टि दूध की 'कुल्या' (कृत्रिम नदी, नहर आदि) की भांति प्राणेश्वर (राम) को स्नान करा रही है। [अर्थात् काजल-रहित होने से तुम्हारी श्वेत, प्रिय तथा सुन्दर दृष्टि राम को निरन्तर टकटकी लगाकर देख रही है।]

संस्कृत-व्याख्या

वासन्त्या वचनेन खिन्ना सती सीता प्राह—हा देव्वेति। "हा दैव ! रामो मां विना, अहञ्च रामं विना स्थास्यामि" इति केन सम्भावितमासीत् ! ततोऽवश्यं दुर्लभदर्शनं पश्याम्यार्यपुत्रम्। इति।

स्वप्राणेशं पश्यन्तीं सीतां तमसा प्राह—विलुलितमिति।

वत्से ! दुग्धकुल्येव ते दृष्टिः स्नेहं वर्षन्ती सती प्राणनाथं स्नपयति=स्नानं कारयतीव। कीदृशी तव दृष्टिः ? इति श्रूयताम्। धवला, मधुरा, मुग्धा=मनोहारिणीति दृष्टेरभिरामतां, दुग्धकुल्यायाः सर्वगुणसम्पत्तिञ्च विशेषणानि सूचयन्ति। अतिपूरैः=प्रवाहातिशयैः, विलुलितं=इतस्ततः परिचालितम् आनन्दशोकाभ्यामुद्भूतम्, वाष्पमवसृन्ती=परित्यजन्ती, पक्ष्मला=सघनपक्ष्म-मालयोपेता, उत्ताना=उपरि विस्तारिता, ऊर्ध्वं प्रेक्षणेनेति शेषः। दूरतोऽवलोकनेन दीर्घा च तव दृष्टिः, दुग्धकुल्येव प्रतीयते ("कुल्याल्पा कृत्रिमा सरित्" इत्यमरः) वियोगावस्थायां कज्जलं विना श्यामलतायाः प्रायोऽभावः, शुक्लताया आधिक्यञ्च विद्यते, इति भावः।

एतेन सीताया रामं प्रति गाढानुरागोऽभिव्यज्यते, इति वस्तुध्वनिः। हर्षशोकाश्रुयुक्ता तव दृष्टिरिति तत्वम्।

अत्रोपमोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः। मालिनी च्छन्दः। माधुर्यं गुणः। वैदर्भी रीतिः॥ २३॥

टिप्पणी

(१) मुहूर्त्तमात्रम्—पाठा०, 'मुहुर्त्तकम्' (मुहुत्तग्रं)। (२) दुर्लभलब्धदर्शनम्—पाठा०, १. "अनुलब्धदर्शनम्" (अणुलद्धदंसणं) २. "लब्धदर्शनम्" (लद्धदंसणं) (३) (इति पश्यन्ती स्थिता)—पाठा०, "(इति सतृष्णं पश्यति।)" (४) स्नपयति

—√स्ना + णिच् + ति । "ग्लास्नावनुवमां च" इति वैकल्पिको ह्रस्व. । (५) स्नेह-निष्यन्दिनी—स्नेहं निस्यन्दयतीति स्नेय + नि + √स्यन्द + णिच् + णिनि साधु-कारिणि कर्त्तरि स्त्रियाम् । (६) दुग्धकुल्येव—अभिप्राय यह है कि सीता विरहिणी होने के कारण आँखों में काजल नहीं लगातीं थीं, अतः श्वेत आंसू निकल रहे हैं। कहा भी है—

"क्रीडां शरीरसंस्कारं, समाजोत्सवदर्शनम् ।
हास्यं परगृहे यानं, त्यजेत्प्रोषितभर्तृका ॥" (याज्ञवल्क्य०, १।८४)

वासन्ती—
ददतु तरवः पुष्पैरर्घ्यं फलैश्च मधुश्चयुतः,
स्फुटितकमलामोदप्रायाः प्रयान्तु वनानिलाः ।
कलमविरलं रज्यत्कण्ठाः क्वणन्तु शकुन्तयः,
पुनरिदमयं देवो रामः स्वयं वनमागतः ॥२४॥

अन्वयः—मधुश्च्युतः, तरवः, पुष्पैः, फलैः, च अर्घ्यं, ददतु । स्फुटितकमलामोदप्रायाः, वनानिलाः, वान्तु । रज्यत्कण्ठाः, शकुन्तयः अविरलं, कलं, क्वणन्तु । अयं, देवः, रामः, स्वयं, पुनः, इदं, वनम्, आगतः ॥ २४ ॥

रामः—एहि सखि वासन्ति ! नन्वितः स्थीयताम् ।

वासन्ती—(उपविश्य सास्रम् ।) महाराज ! अपि कुशलं कुमारलक्ष्मणस्य ?

रामः—(अनाकर्णनमभिनीय)
करकमलवितीर्णैरम्बुनीवारशष्पै-
स्तरुशकुनिकुरङ्गान्मैथिली यानपुष्यत् ।
भवति मम विकारस्तेषु दृष्टेषु कोऽपि,
द्रव इव हृदयस्य प्रस्रवोद्भेदयोग्यः ॥२५॥

अन्वयः—मैथिली, करकमलवितीर्णैः, अम्बुनीवारशष्पैः, यान्, तरुशकुनिकुरङ्गान्, अपुष्यत्, तेषु दृष्टेषु, प्रस्रवोद्भेदयोग्यः, मम, हृदयस्य, द्रव इव, कोऽपि, विकारः, भवति ॥ २५ ॥

वासन्ती—महाराज ! ननु पृच्छामि, कुशलं कुमारलक्ष्मणस्येति ?

रामः—(आत्मगतम्) अये ! महाराजेति निष्प्रणयमामन्त्रणपदम् । सौमित्रिमात्रके वाष्पस्खलिताक्षरः कुशलप्रश्नः । तथा मन्ये विदितसीतावृत्तान्तेयमिति । (प्रकाशम्) आः, कुशलं कुमारलक्ष्मणस्य ।

हिन्दी—

वासन्ती—[श्लोक २४] क्योंकि भगवान् राम पुनः स्वयं इस वन में आये हैं, अतः (इनका स्वागत करने के लिए) मकरन्द बरसाने वाले वृक्ष फल और फूलों से अर्घ्य दें! विकसित कमलों का सौरभ लेकर वन का समीर बहे! और पक्षीगण सुरीले कण्ठ से निरन्तर कूजन करें।

राम—आओ, सखि वासन्ती! इधर बैठो :

वासन्ती—(बैठकर, आंसू भरकर) महाराज 'कुमार लक्ष्मण' सकुशल तो हैं?

राम—(अनसुना करने का अभिनय कर)

[श्लोक २५]—अपने कर कमलों से जल, नीवार तथा (मृदु) घास देकर मैथिली ने जिन वृक्ष, पक्षी तथा मृगों को पाला था, आज उन्हें देखने पर मेरे हृदय में, झरने के फूटने के समान कोई द्रावक विकार उत्पन्न हो रहा है। (जिस प्रकार झरना बड़े वेग से झरता है, उसी प्रकार मेरा हृदय भी पिघल कर बह सा रहा है।)

वासन्ती—मैं पूछती हूं कि 'कुमार लक्ष्मण' सकुशल तो हैं?

राम—(स्वयं ही) अरे, 'महाराज!' यह स्नेह-हीन सम्बोधन है और आंसुओं के कारण अस्पष्ट अक्षरों से (गद्गद् स्वर से) केवल लक्ष्मण के सम्बन्ध में ही कुशल प्रश्न किया गया है इससे मैं अनुमान करता हूं कि यह सीता के समाचार से परिचित है (प्रकाश में) हां, कुमार लक्ष्मण सकुशल हैं।

संस्कृत-व्याख्या

इदानीं रामस्य स्वागतं कर्तुं वासन्ती तत्रत्यान् पादपादीन् प्रेरयति—ददतु—इति।

अयं महाराजो रामः सम्प्रति स्वयमद्य पुनर्वनमागतः। अतः सर्वेऽपि मधुवर्षिणो वृक्षाः पुष्पैः, फलैश्च महानुभावस्यास्य स्वागतं कर्तुं सानन्दमर्घ्यं ददतु, विकसितानां कमलानां मनोरममामोदं गृहीत्वा वनानिलाः प्रवहन्तु, शकुन्तयः=पक्षिणः, अनुरक्तकण्ठाः सन्तः, अविरलं=निरन्तरं, कलम्=अव्यक्तं मधुरञ्च क्वणन्तु=कूजन्तु।

पूर्वन्तु सीतया लक्ष्मणेन च साकं पितुरादेशात् रामो वनमागतः, अद्य चैकाकी समागतः, इति स्वागतस्य वैशिष्ट्यं किमपि हृदयगतं साधिक्षेपवचनं सीता-वृत्तान्त-विषये सूचितं भवति।

अत्र काव्यलिङ्गालङ्कारः। हरिणी च्छन्दः॥ २४॥

वासन्त्याः कुमारलक्ष्मण-कुशलप्रश्नमश्रुतं विधाय रामः प्राह—कर इति।

यानेतान् तरून्, शकुनीन्, कुरङ्गान्=मृगान्, स्वकरकमलद्वाराप्रत्तैः जलैः, नीवारैः, शष्पैः=तृणैश्च क्रमशोऽपुष्यत्, तेषां दर्शन-मात्रेण मम हृदये कोऽपि विकार इव प्रादुर्भवति, प्रस्रवस्य=प्रस्रवणस्योद्भेदयोग्यः हृदयस्य द्रव इव

सम्भवति। यथा निर्झराणां प्रवाहो वेगेन प्रवहति, तथा मम हृदयमपि द्रवीभावं भजते, प्रवाह-युक्तं भवितुञ्च जायते इवेति भावः।

अत्र यथासंख्यालङ्कारः। उपमा च। मालिनी च्छन्दः॥ २५॥

वासन्त्याः प्रश्नमाकर्ण्य स्वगतमाह रामः—अये–इति। "महाराज !" इति प्रणयरहितं सम्बुद्धिपदमनया प्रयुक्तम्। केवलं लक्ष्मणस्यैव कुशल–प्रश्नः, सोऽपि च वाष्पेणास्पष्टाक्षरः, अतो जानासि, सीतावृत्तान्तमियं वेत्ति, इति।

टिप्पणी

(१) मधुश्च्युतः—वीर राघव ने इसके तीन पाठ मानकर तीनों की सङ्गति इस प्रकार की है—"मधूनि मकरन्दानि श्चोतयन्ति क्षरन्तीति विग्रहः। 'श्चुतिर् क्षरणे' इत्यस्मादन्तर्भावितण्यर्थात् कर्त्तरि क्विप्प्रत्ययः। यद्वा—मधुभिः मकरन्दैः श्च्योतन्ति आर्द्रीकुर्वन्तीति विग्रहः। 'श्च्युतिर् आसेचने' इत्यस्मात् क्विप् इदं च वनानिलानां विशेषणम्। तृतीयान्तपाठे फलविशेषणं पुष्पविशेषणं वा। 'च्यु च्यवन' इत्यस्माद् भावे क्तप्रत्यये मधूनां च्युतं च्यवनं येभ्यः इति पुष्पपक्षे। फलपक्षे तु कर्मणि क्तप्रत्ययेन मधुभ्यः च्युतैरिति पञ्चमीतत्पुरुषः। पुष्परससमृद्धौ तात्पर्यम्। तदेवं पक्षत्रये—आद्यः शकारचकाराभ्यां युक्तः पाठः। द्वितीयः शकार-चकारयकारैर्युक्तः। तृतीयस्तु चकारयकाराभ्यामिति विवेकः।"

इस प्रकार ये तीन पाठ हुए—१. मधुश्चुतः, २. मधुश्च्युतः एवं ३. मधुच्युतः।

(२) कलमविरलं रज्यत्कण्ठाः—पाठा०, "कलमविकलं रत्युत्कण्ठाः।" (३) (अनाकर्णनमभिनीय)—पाठा०, "(अश्रुतिमभिनीय)" (४) करकमल ····अपुष्यत्—यथासंख्य अलङ्कार। सीता ने अम्बु (जल) से तरुओं का, नीवार से पक्षियों का एवं शष्प (छोटी-छोटी घास) से मृगों का पोषण किया था। (५) प्रस्त्र-वोद्भेदयोग्यः"—पाठा०, "प्रस्तरोद्भेदयोग्यः"। प्रस्तरस्य उद्भेदः तस्मिन् योग्यः। प्रस्तरस्य पाषाणस्य उद्भेदः द्रवः तद्योग्यः तन्तुल्यः (घन०) "योग्यः प्रवीणयोगार्होपायिशक्तेषु वाच्यवत्।" इति मेदिनी।

वासन्ती—(रुदती) अयि देव ! किं परं, दारुणः खल्वसि।

सीता—सहि वासन्ति ! किं तुमं एव्वंवादिणी होसि ? पूआरुहो सव्वस्स अज्जउत्तो विसेसदो मह पिअसहीए। [सखि वासन्ति ! किं त्वमेवंवादिनी भवसि ? पूजार्हः सर्वस्यार्यपुत्रः, विशेषतो मम प्रियसख्याः।]

वासन्ती—

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं,
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे ।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां,
तामेव शान्तमथवा किमतः परेण ।।२६।। (इति मुह्यति।)

अन्वयः—त्वं जीवितं त्वं मे द्वितीयं हृदयम्, त्वं नयनयोः कौमुदी, त्वम् अङ्गे अमृतम् असि, इत्यादिभिः प्रियशतैः, मुग्धाम्, अनुरुध्य ताम् एव—अथवा शान्तम्, अतः परेण मिम् ? ।। २६ ।।

हिन्दी—

वासन्ती—(रोती हुई) देव ! क्या कहूं ? आप (अत्यन्त) कठोर हैं ।

सीता—सखि वासन्ति ! तू ऐसा क्यों कह रही है ? आर्यपुत्र सबके पूज्य हैं, विशेषकर मेरी प्रिय सखि के ।

वासन्ती—

[श्लोक २६]—"तुम (मेरी) प्राण हो, तुम मेरा दूसरा हृदय हो, तुम मेरे नेत्रों के लिए कौमुदी हो और तुम मेरे अङ्गों में अमृत हो !" इत्यादि सैकड़ों चापलूसी भरे वाक्यों से उस भोली-भाली को बहकाकर आपने उसी को...... । अथवा, रहने दो इससे आगे कहने से क्या लाभ ? [मूर्छित हो जाती है ।]

संस्कृत-व्याख्या

रामस्य कठोरत्वं प्रतिपादयन्ती वासन्ती प्राह—अयि देवेति । महाराज ! किं कथयानि ? अतिशयितकठोरोऽसि । यः परमसुकुमारीं ललना–ललाम–भूतां तादृशीं सतीं सीतामपि निर्वासितवानसि ?

स्वसख्या वासन्त्या मुखत्—महाराजम्प्रति—"दारुण"—वचनं निशम्य भृशं दुःखिता सीता कथयति—सहि-इति । सखि ? एवं कथं वदसि ? आर्यपुत्रस्तु सर्वस्य जनस्य सम्यगभ्यर्चनीयः, केनापि महानुभावस्यास्य निन्दा नैव कार्या, विशेष-रूपेण च मम प्रियसख्या भवद्विधया तु सर्वथा पूजनीयोऽयमिति तवैवं कथनन्नोचितमिति भावः ।

पुन वासन्ती रामम्प्रत्याह—त्वमिति ।

महाराज ! त्वं (सीता) मम जीवनमसि, त्वं मेऽपरं हृदयम् त्वं नेत्रयोः कृते कौमुदी=चन्द्रिका, त्वञ्च ममाङ्गेऽमृतमित्यादिभिः प्रियवाक्यैरसंख्यैस्तां मुग्धां =मधुरस्वभावाम्, अनुरुध्य=प्रलोभ्य ...... [किमिति वने निर्वासितवानसि ? इति वाक्यमनुक्त्वैवाह—] अथवा—शान्तम् अतः परं कथनेन को लाभः ? (इत्युक्त्वा मुग्धा जाता ।)

अत्र रूपकम् अतिशयोक्तिः, आक्षेपः, इत्येषामलङ्काराणामङ्गाङ्गिभावेन साङ्कर्यम् । आक्षेपालङ्कारस्य लक्षणञ्च—

"वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य, यो विशेषाभिधित्सया ।
निषेधाभास आक्षेपो, वक्ष्यमाणोक्तगो द्विधा ।।" इति ।

वसन्ततिलका च्छन्दः ।। २६ ।।

टिप्पणी

(१) पूजार्हः सर्वस्यार्यपुत्रः—पाठा०, "प्रियार्हः खलु सर्वस्यार्यपुत्रः" (२) त्वं जीवितं····किमतः परेण ?—पाठा०, "किमतः परेण" के स्थान पर "किमिहोत्तरेण ?"

प्रस्तुत पद्य महाकवि भवभूति के भावानुरूप मञ्जुल शब्द-योजना का सुन्दर उदाहरण है । जो भवभूति कठोर भावों के चित्रण में दीर्घसमासयुक्त शब्दावली का प्रयोग कर चमत्कार उत्पन्न कर सकता है वही कोमल भावों को ऐसे असमस्त कोमल शब्दों में भी प्रकट कर सकता है— इसका यह स्पष्ट प्रमाण है । यही ध्वन्यालोककार को अभीष्ट है—"करुण-विप्रलम्भशृङ्गारयोस्तु असमासैव सङ्घटना । कथमिति चेत् ? उच्यते । रसो यदा प्रधान्येन प्रतिपाद्यस्तदा तत्प्रतीतौ व्यवधायका विरोधिनश्च सर्वात्मनैव परिहार्याः । एवं च दीर्घसमासा सङ्घटना समासानामनेकप्रकारसम्भावनया कदाचिद्रसप्रतीतिं व्यवदधातीति तस्यां नात्यन्तमभिनिवेशः शोभते । विशेषतोऽभिनेयार्थे काव्ये ततोऽन्यत्र च विशेषतः करुणविप्रलम्भशृङ्गारयोः । तयोर्हि सुकुमारतरत्वात्स्वल्पायामप्यस्वच्छतायां शब्दार्थयोः प्रतीतिर्मन्थरीभवति ।"

(ध्वन्यालोक, ३।६२)

(३) श्लोक के उपमान-विधान की तुलना कीजिएः—

"सेयं ममाङ्गेषु सुधारसच्छटा सुपूरकर्पूरशलाकिका दृशोः ।
मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी, प्राणेश्वरी लोचनगोचरं गता ।"

तमसा—स्थाने व वाक्यनिवृत्तिर्मोहश्च ।

रामः—सखि ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

वासन्ती—(समाश्वस्य) तत्किमिदमकार्यमनुष्ठितं देवेन ?

सीता—सहि वासन्दि ! विरम, विरम । [सखि वासन्ति ! विरम, विरम ।]

रामः—लोको न मृष्यतीति ।

वासन्ती—कस्य हेतोः ?

रामः—स एव जानाति किमपि ।

तमसा—चिरादुपालम्भः ।

वासन्ती—

अयि कठोर ! यशः किल ते प्रियं,
किमयशो ननु घोरमतः परम् ?
किमभवद्विपिने हरिणीदृशः,
कथय नाथ ! कथं बत मन्यसे ? ॥२७॥

अन्वयः—अयि, कठोर ! यशः, ते, प्रियं किल, ननु अतः परं, घोरं, अयशः, किम् ? हरिणीदृशः, विपिने, किम्, अभवत् ? नाथ ! कथय, कथं, मन्यसे ? बत ॥२७॥

सीता—सहि वासन्दि ! तुमं एव्व दारुणा कठोरा अ । जा एव्वं पलवन्तं पलावेसि । [सखि वासन्ती ! त्वमेव दारुणा कठोरा च । यैवं प्रलपन्तं प्रलापयसि ।]

तमसा—प्रणय एवं व्याहरति शोकश्च ।

रामः—सखि ! किमत्र मन्तव्यम् ?

त्रस्तैकहायनकुरङ्गविलोलदृष्टे-
स्तस्याः परिस्फुरितगर्भभरालसायाः ।
ज्योत्स्नामयीव मृदुबालमृणालकल्पा,
क्रव्याद्भिरङ्गलतिका नियतं विलुप्ता ॥२८॥

अन्वयः—त्रस्तैकहायनकुरङ्गविलोलदृष्टेः, परिस्फुटितगर्भभरालसायाः, तस्याः, मृदुबालमृणालकल्पा, ज्योत्स्नामयी इव अङ्गलतिका, क्रव्याद्भिः, नियतं, विलुप्ता ॥२८॥

सीता—अज्जउत्त ! धरामि एसा धरामि । [आर्यपुत्र ! ध्रिये एषा ध्रिये ।]

रामः—हा प्रिये जानकि ! क्वासि ?

सीता—हद्धी हद्धी ! अण्णो विअ अज्जउत्तो पमुक्ककण्ठं परुण्णो होदि । [हा धिक् हा धिक् ! अन्य इवार्यपुत्रः प्रमुक्तकण्ठं प्ररुदितो भवति ।]

तमसा—वत्से ! साम्प्रतिकमेवैतत् । कर्तव्यानि खलु दुःखितैर्दुःखनिर्धारणानि ।

पूरोत्पीडे तटाकस्य, परीवाहः प्रतिक्रिया ।
शोकक्षोभे च हृदयं, प्रलापैरेव धार्यते ॥२८॥

अन्वयः—तटाकस्य पूरोत्पीडे, परीवाह, प्रतिक्रिया, अस्ति हृदय च, शोक-क्षोभे, प्रलापैः एव धार्यते ॥२९॥

विशेषतो रामभद्रस्य बहुप्रकारकष्टो जीवलोकः ।
इदं विश्वं पाल्यं विधिवदभियुक्तेन मनसा,
प्रियाशोको जीवः कुसुममिव धर्मो ग्लपयति ।
स्वयं कृत्वा त्यागं विलपनविनोदोऽप्यसुलभ-
स्तदद्याप्युच्छ्वासो भवति ननु लाभो हि रुदितम् ॥३०॥

अन्वयः—अभियुक्तेन मनसा, इदं विश्वं, विधिवत् पाल्यं; धर्मः, कुसमम्, इव, प्रियाशोकः जीवः ग्लपयति; स्वयं त्यागं कृत्वा, विलपनविनोदः, अपि, असुलभः; तत्, अद्यापि, उच्छ्वासः, भवति, ननु, रुदितं, लाभः, हि ॥३०॥

हिन्दी –

तमसा—उचित स्थान पर वाक्य-समाप्ति और मूर्छा हुई ।

राम—सखि ! धैर्य धारण करो ! धैर्य धारण करो ।

वासन्ती—(आश्वस्त होकर) तो आपने ऐसा अनर्थ क्यों कर डाला ?

सीता—सखि, वासन्ति ! बस कर, रहने दे ।

राम—लोक सहन नहीं करता (इसलिए कर डाला) ।

वासन्ती—किस लिए ?

राम—जो कुछ भी हो, वही जानता है ।

तमसा —(लोक के प्रति) यह उपालम्भ बड़े विलम्ब से है। (यदि ऐसा पहले सोचा होता तो सीता-निर्वासन की बारी ही न आती । परन्तु अब तो समय बीत चुका है, अतः इसका कोई महत्व नहीं है ।)

वासन्ती—

[श्लोक २७] कठोरहृदय राम ! आपको यश बहुत प्रिय है, परन्तु इससे अधिक कठोर अपयश और क्या होगा ? (कि आपने निपराध सीता का परित्याग कर दिया ।) उस मृगनयनी (सीता) का वन में क्या हुआ ? नाथ ! (कुछ तो) बतलाये। क्या सोच रहे हैं ? अथवा, कहिये न [कथय+न+अथ] इसके आगे क्या सोचते हैं ?

सीता—सखि, वासन्ती ! तू ही दारुण और कठोर है जो इस प्रकार प्रलाप करते हुए (आर्यपुत्र) को और अधिक प्रलाप करवा रही है (रुला रही है ।)

तमसा—प्रणय और शोक ही ऐसा कहला रहा है ।

राम—सखि ! इसमें सोचना ही क्या है ?

[श्लोक २८] एक वर्ष के त्रस्त मृग-छौने के समान चञ्चल नेत्रों वाली तथा फड़कते हुए गर्भ के भार से आलस्य-युक्त (सीता की) चन्द्रिकामयी, मृणालोपम कोमल काया, निश्चय ही, मांसाहारी जीवों ने नष्ट कर दी (होगी।)

सीता—आर्यपुत्र ! घरी हूं, यही घरी हूं। (में जीवित हूं, मुझे मौत कहीं नहीं आई !)

राम—हा, प्रिये ! जानकि ! तुम कहां हो ?

सीता—हाय ! हाय ! साधारण मनुष्य की भांति आर्यपुत्र गला फाड़ कर रो रहे हैं।

तमसा—वत्से ! यह उचित ही है। दुःखियों को अपने दुःखों का निश्चय करना ही चाहिये।

[श्लोक २९] तालाब में अधिक पानी भर जाने पर (नालियों के द्वारा) उसे निकाल देना ही उसकी प्रतिक्रिया होती है। (इसी प्रकार) शोक से क्षुब्ध हृदय रो-धोकर ही शान्त किया जा सकता है। (अधिक शोक में एक बार अच्छी तरह रो लेने पर जी हल्का हो जाता है।)

विशेषकर रामचन्द्र के लिए संसार विविध कष्टमय है ! (कारण—)

(श्लोक ३०)—(पहले तो इन्हें) यथाविधि सावधान चित्त से इस विश्व का पालन करना पड़ता है, (उस पर भी) प्रिया का शोक—जैसे (कड़ी) धूप पुष्प को सुखा देती है—वैसे ही इनके जीवन को सुखा रहा है। स्वयं (पत्नी का) परित्याग कर (इन्हें) रोकर मन बहलाना भी सर्वथा दुर्लभ है। इतने पर भी इनके प्राण अब तक (बचे हुए) हैं। (ऐसी दशा में जीवन-धारणार्थ) रोना महान् लाभकारी है।

संस्कृत-व्याख्या

वाक्यनिवृत्तौ वासन्त्या मोहे च युक्ततां निर्धारयन्ती तमसा प्राह—स्थाने इति। वाक्यस्य कथनेन सीताया निन्दा स्यात्, सा च सर्वथाऽनुचितेति वाक्यनिवृत्तिः स्थाने= युक्तमिदम्। मोहश्चापि युक्त एव। अथवा-"स्थाने" उचित स्थाने वाक्यावसानम्, मोहश्चापीति। [कवेरत्रापि वैशिष्ट्यं भावुकैरनुभवनीयमेव।]

लोकः सीताया मम भवने निवासं न सहते, इति हेतोः सा निर्वासितेति श्रुत्वा वासन्ती पुनः प्राह—अयि इति।

अयि कठोर-चरित राम ! स्व-यश एव तव प्रियमस्ति, स्वकीय-यशस एव त्वया चिन्ता कृता, सा वराकी कां दशां गतेति न चिन्तितम्। अतः परं किं घोरमयशः स्यात् ? सीता-परित्यागो वस्तुतस्तवायशोहेतुरेव जातः। यशसस्तु तत्र लेशोऽपि नास्ति, इति भावः। मृगलोचनायास्तस्या वने किमभूदित्यपि ज्ञायते किमु ? नाथ ! कथय, एतस्मिन् विषये किं मन्यसे ? "यशोधनानां हि यशो गरीयः" इत्युक्त्वा प्रजानुरञ्जनार्थं सीतामपि परित्यजता भवता किंस्विदिदं यशः कारणमयशो वेति न विचारितमिति भावः।

[अत्र 'कठोर'—पदं सारगर्भम् । वस्तुतो यशोभिलाषुकैः सर्वस्यापि सति समये परित्यागः क्रियते एव । यशोऽर्थिभिरनेकैर्महापुरुषैः प्राणा अपि परेषां कृते परित्यक्ताः । भवताऽपि च स्व प्राणेभ्योऽपि गरीयसी सीतादेवी परित्यजता तदेव व्रतं परिपालितम् । परं मम तु मते विपरीतमेव तज्जातमिति क्षिप्रकारिता दोषायैव संवृत्तेति तत्त्वम् । "नाथ" इति पदञ्चापि किमपि तत्त्वमभिव्यनक्ति । नाथ्यते=अभ्यर्थ्यते इति "नाथः" । त्वन्तु सर्वैरपि स्वेष्टलाभायाभ्यर्थनीयः । किमु तयापि परित्याग-वेलायां किमपि अभ्यर्थितम् ? त्वयि नाथे साऽनाथा सञ्जाता । पति-मन्तरां पतिव्रतानां कोऽन्यो नाथः ? इति तव नाथतेयं कीदृशी ? अपि च तस्याः निर्वासनमेव भवदभिमतमासीत्, आहोस्वित् प्राणदण्डः ? आद्ये, तस्या निर्वासिताया अपि रक्षा करणीयैव तव नाथस्योचितेति सा न कृतेति कीदृशोऽसि नाथः ? परमार्थ-तस्तु निर्वासन-च्छलेन प्राणदण्ड एवायं सञ्जातस्तपस्विन्याः । नाथेन च सर्वदा रक्षणीया एव दण्डनीया अपि । इति भावः ।"हरिणीदृशः" इत्यनेन च सीतायाः श्वापदैविलु-प्यमानायाः कातर्यम्, आत्मनः परित्राणार्थमितस्ततोऽवलोकनञ्च सूच्यते ।]

अत्र यशोऽर्थे चेष्टमानस्यायशःप्राप्तिः समजनीति विषमाऽलङ्कारः । हरिण्या इव चञ्चले लोचने यस्या इत्यत्र त्रिपदलुप्तोपमा । द्रुतविलम्बितं च्छन्दः । तल्लक्षणञ्च यथा—

"द्रुत विलम्बित माह नभौ भरौ ।" इति ।

प्रसादो गुणः । लाटी रीतिः । अत्रापि कवि-हृदयं स्फुटीभवति विशेषरूपेणेति मार्मिका मनागास्वादयन्तु काव्यरसं स्वानुभूत्येति किं कथनैः ॥२७॥

"प्रलपन्तमार्यपुत्रमधिकं प्रलापयन्ती वासन्ती ! त्वमेव दारुणा कठोरा चे" ति सीताया वचन—माकर्ण्य तमसा प्राह—प्रणय इति । प्रणयवशात् शोकवशाच्चैवं वदतीयम्, नतु यथार्थदृशा । वासन्ती रामेण सह प्रीतिं करोति, अतः कठोरेत्यादि पदं प्रयुङ्क्ते, तवं समाचारेण च दुःखितेति एवं वदति, ततश्च त्वया नात्र मनोऽतिमात्रं खेदनीयमिति भावः ।

"कथं मन्यसे" इति वासन्त्याः प्रश्नं समाधत्ते रामः—त्रस्त इति ।

सखि ! अस्मिन् विषये किमधिकं मन्तव्यम् ? मम तु मतेकोमल-कमल-नाल-सम्, चन्द्रिकातुल्यं, लतामप्यतिशयानम्, भयचकितस्य, एकवर्षावस्था-सम्पन्नस्य, विलोलदृष्टेर्मृगस्य दृष्टिरिव चञ्चला दृष्टिर्यस्याः, परितः स्फुरता गर्भस्य भरेणालस्य-युक्तायास्तस्याः शरीरं मांसाशिभिः=व्याघ्रादिभिः, नियतं यथा स्यात्तथा विनाशितं भवेत् । वने सीतायाः शरीरं व्याघ्रादिभिर्विनाशितमित्येव सम्भावयामि । अतः परं किमपि सम्भावयामीति भाव ।

[एकहायनकुरङ्गः स्वभावेनैवलोलदृष्टिर्भवति "वि" इत्युपसर्गेण विशेषरूपेण चाञ्चल्यं सूच्यते । विलोलता च कारणान्तरतोऽपि सम्भाव्यते; सा मा भूदिति त्रस्तेति पदं विलोलता सम्पादकम् । पलायनादिकमपि कर्तुं सा सर्वथाऽसमर्थेति परिस्फुरित-गर्भभरालसेतिविशेषणेन धावनशक्ति-शून्यताऽभिव्यज्यते ।

अङ्गस्य लता-साम्येन, स्वाभाविकेऽपि कोमलत्वे ज्योत्स्नासाम्येन, मृदुत्वेन बालत्वेन च विशेषितस्य मृणालस्य साम्यप्रतिपादेन, शरीरस्य विनाशने काल विलम्बोऽपि न सञ्जातः इति कवेराकूतम् । सीतायाः सौन्दर्यातिशयशालिता चाभिव्यज्यते ।]

अत्रोपमालङ्कारः । वसन्ततिलकाच्छन्दः ॥२८॥

स्वविलोपवार्तामाकर्ण्य सीता स्वकीयमस्तित्वं प्रकटयितुमाह—**अज्जउत्तेति** । आर्यपुत्र ! अहन्तु जीवामि, नान्यथा शङ्कनीयमिति भावः ।

"अहो ! अन्यजनः=प्राकृतजनः=इवार्यपुत्रो मुक्तकण्ठं रोदिति" इति सीता-वचनं समाधत्ते तमसा—**वत्से** ! इति । सप्रतिकम्=उचितमेवैतत् । दुःखितैर्जनैः स्वदुखस्य निर्धारणन्तु कर्तव्यमेव । एतदेव स्फुटीकर्तुमाह—**पूरोत्पीडे** इति ।

तटाकस्य जलाधिक्ये जलस्य निःसारणमेव प्रतिक्रिया भवति । एवञ्च—शोके क्षोभे च हृदयस्य संरक्षणं केवलं प्रलापैरेव सम्भवति । अतो रामस्य रोदनमुचित मेवेति भावः ।

अत्र दृष्टान्तोऽलङ्कारः अनुष्टुप् च्छन्दः ॥२९॥

विशेषतया रामस्य विविध-कार्यजातैर्जीवलोकः कष्टप्रायः इति प्रदर्शयति तमसा—**इदमिति** ।

अभियुक्तेन मनसा=सावधानेन चेतसा विधिवदेतस्य संसारस्य पालनं कर्तव्यम् । सर्वदा संसारपालने मनः समासक्तं भवतीत्याशयः । ततोऽपि च यथा धर्मः=आतपः कुसुमं म्लानं करोति, तथैव प्रियायास्तव शोको रामस्य जीवं म्लानं करोति । राजधान्यां निवसतस्तावद् विलापोऽपि सुलभो नास्ति यतः स्वयमेव (सीता-यास्तव) परित्यागः कृतः । स्वयं कृते कर्मणि पश्चात्तापोऽपि कीदृशः ? तस्माद् यदि रुदितमद्य कथंचित्प्राप्तम्; ननु, तदप्युच्छ्वास एव—जीवन लाभ—एवायमस्येति भावः ।

अत्रोपमा परिणामावलङ्कारौ । शिखरिणी च्छन्दः ॥३०॥

टिप्पणी

(१) स्थाने वाक्यनिवृत्तिर्मोहश्च—'स्थाने' अव्यय 'युक्त' के अर्थ में प्रयुक्त होता है—"युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने" इत्यमरः ।

तमसा का अभिप्राय है कि सीता के प्रति वासन्ती का अपार प्रेम है; उसकी दारुण दशा का ध्यानकर वासन्ती को मूर्छा आनी स्वाभाविक है । वह वाक्य आगे इसलिए नहीं बोल सकी कि उसमें अनिष्ट शङ्का थी । अपनी अभिन्न सखी के विषय में अनिष्ट बात कहना ठीक नहीं है, विशेषतः कोमलहृदया वासन्ती के लिए ।

दूसरा भाव तमसा का यह है कि यह ठीक ही हुआ जो वासन्ती कहते-कहते रुक गयी और उसे मूर्छा आ गयी । यदि ऐसा न होता तो श्रीरामचन्द्रजी की बहुत बुरी दशा हो जाती । चिरकाल से सन्तप्त उनका हृदय ऐसी-ऐसी कष्टदायक

पाश्चात्तापजनक बातें सुनकर और भी व्याकुल हो जाता और सम्भव था कि वे भी मूर्च्छित हो जाते जिसे देखकर सीता भी मूर्छित हुए बिना न रहती और मूर्च्छित सीता को देखकर तमसा भी धैर्यच्युत हो सकती थी। इस प्रकार वासन्ती के मूर्च्छित होने से एक लम्बी अनर्थपरम्परा से मुक्ति सी मिल गयी।

प्रो० काणे इस वाक्य पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं—"‘Moreover it seems to us that the poet wants to defend his own treatment of pathos. He means that it is quite in keeping with poetic ideals that he should make his characers break off in tne middle of their speech and that he should represent them as fainting."

(२) कस्य हेतोः—"षष्ठी हेतुप्रयोगे" (पा० २।३।२६) इति हेतुशब्दप्रयोगे हेतौ द्योत्ये षष्ठी। (३) स एव जानाति किमपि—श्रीरामचन्द्रजी हृदय दुःखाने वाली बात नहीं कहना चाहते अथवा लज्जावश 'किमपि' यह गोल-मोल पद कहा है। (४) चिरादुपालम्भः—पाठा०, 'उचितस्तदुपालम्भः'।

'चिरादुपालम्भः' का अर्थ यह है कि श्रीरामजी ने लोक को बहुत देर के बाद उलाहना दिया है, यह तो पहले ही देना चाहिये था। अब बारह वर्षों बाद ऐसी बात कहना कोई विशेष लाभदायक नहीं। पं० शेषराज शास्त्री का "रामस्य लोकं प्रति सीतानिर्वासनकालादारभ्योपालम्भोऽस्तीति भावः"—यह व्याख्यान अधिक हृदयङ्गम नहीं।

अथवा सीता को पुरवासियों ने जो उपालम्भ दिया था, वह आज राम के मुंह से बहुत दिन के बाद फूट पड़ा है।

अथवा 'चिरादुपालम्भः' का यह भाव भी लिया जा सकता है कि लोक ने जो श्रीरामजी को सीताविषयक उपालम्भ दिया था वह चिरकाल बाद (अयोध्या में) दिया था। यदि लोक को ऐसी शंका सीता के प्रति व्यक्त करनी ही थी तो राज्याभिषेक से पूर्व, लङ्का से लौटने पर ही व्यक्त करनी चाहिए थी। एक-डेढ़ वर्ष बाद (चिर) गर्भिणी सीता के प्रति लोक ने ऐसी मूर्खतापूर्ण शङ्का क्यों व्यक्त की जिससे कि श्रीराम, सीता, वासन्ती एवं मुझे आज इतना कष्ठ हुआ।

अथवा चिरात्=चिरकाल के लिए, सीता को लोक का उलाहना मिल गया है। तुलना० 'एष ते जीवितावधिः प्रवादः' (अङ्क १)।

अथवा संसार में उपालम्भ तो चिरकाल से चला ही आ रहा है। ऐसा तो लोक होता ही है। 'पिशुनोऽन्वेषयति दूषणान्येव'।

उचितस्तदुपालम्भः पाठ के दो भाव हो सकते हैं—

१. ऊपर श्रीराम जी ने कहा था कि सीता के निर्वासन का कारण लोक ही जानता है, उन्हें कुछ नहीं ज्ञात। इसलिए सीता को बिना कारण जाने ही निकाल दिया तो वासन्ती द्वारा दिया उपालम्भ ठीक ही है। तत्=

तस्मात् यदि कारणमविज्ञायैव त्यक्तवानसि पत्नीं' तदा उपालम्भः=वासन्त्याः कृतः उचितः=युक्त एव ।' (२) अथवा उस सीतानिर्वासनकारी लोक का उपालम्भ (तिरस्कार) उचित था सीता का नहीं। तस्य=लोकस्य, उपालम्भः=तिरस्कारः उचितः=आसीन्न वैदेह्याः परित्यागः ।'

(५) [श्लोक २७] कथय नाथ कथं वत मन्यसे ?—इसके दो अर्थ हो सकते हैं—१. 'कहिये प्रभो ! (इसमें) आप क्या समझते हैं ?' नाथ ! प्रभो ? २. 'कथय न ? अथ कथं वत मन्यसे ?'=कहिए न ? इससे आगे क्या (हुआ) समझते हैं ?' खेदानुकम्पासन्तोषविस्मयामन्त्रणे वत' इत्यमरः ।

(६) प्रलपन्तं प्रलापयसि—पाठा०, 'प्रदीप्तं प्रदीपयसि' (पलित्तं प्रदीवेसि)। (७) प्रणय एवं व्याहरति शोकश्च – पाठा०, 'प्रणय एवं व्याहारयति शोकश्च ।' (८) १. [श्लोक २८] तस्त्रैवकहायनकुरङ्गविलोलदृष्टेः—त्रस्तः एकहायनः (एकः हायनः संवत्सरः यस्य) कुरङ्गः, तस्य इव विलोला (चञ्चला) दृष्टिः यस्याः सा तस्याः । २. परिस्फुरितगर्भभरालसायाः—परिस्फुरितः गर्भः तस्य भरेण अलसायाः । तुलना०—सीता—'स्फुरति में गर्भभारः (फुरइ मे गब्भभारो) ।' (उत्त०, १।५१ श्लोक के अन्तर) । ३. ज्योत्स्नामयीव—पाठा०, 'ज्योत्स्नामयी च' । ज्योत्स्ना प्रकृतिरस्या (४) मृदुबालमृणालकल्पा—पाठा०, 'मृदुमुग्धमृणाल…' । ईषदसमाप्तं मृदुबालमृणालम् इति मृदुबालमृणाल+कल्पप् स्त्रियाम् बालमृणालकल्पा । ईषदसमाप्तौ कल्पशब्देश्यदेशीयरः' (पा०, ५।३।६७) इति कल्पप् । 'कल्पबादयः प्रत्ययास्तुल्यार्थं प्रत्यवसन्नाः' (दण्डी काव्यादर्श) । ५. विलुप्ता—पाठा०, 'प्रलुप्ता' । वि+√लुप्+क्त कर्मणि, स्त्रियाम् ।

(९) वत्से ! सांप्रतिकम्…निर्धारणानि—पाठा०, …. 'निर्वापणानि' । साम्प्रतमेवेति साम्प्रतम्+ठक् स्वार्थे । 'त्रिपु साम्प्रतिकं योग्यम्' इति विक्रमार्कः । निर्+√वा+णिच्+ल्युट् करणे निर्वापणानि । (१०) [श्लोक २९] १. पूरोत्पीडे…धार्यते—यहाँ श्रीराम का 'पुटपाक- प्रतीकाश करुण रस' फूट पड़ा है। यह अत्यावश्यक था अन्यथा उनके प्रमुक्तकण्ठ से न रोने पर उनका हृदय जड़ हो सकता था । यहाँ Tennyson की "The Princess' की यह पंक्ति याद आती है—

"She must weep or she will die." जिसको यहाँ इस प्रकार परिवर्तित किया जा सकता हैः—

"Rama must weep or he will die."

२. पूरोत्पीडे—पूरस्योत्पीडे इति पूर+उत्+√पीड+घञ् भावे पूरोत्पीडः । उत्पीडे=समूहे, उत्पीडने वा । 'पूरो जल प्रवाहे स्याद्व्रणसंशुद्धि-खाद्ययोः'—इति मेदिनी । ३. तटाकस्य—पाठा०, 'तडागस्य' एवं 'तडाकस्य' । ४. परिवाहः—परिवाह्यते अनेनेति परीवाहः । 'उपसर्गस्य घञ्मनुष्ये बहुलम्' (पा०, ६।३।१२२) इति विकल्पे न दीर्घः । 'जलोच्छ्वासाः परीवाहाः' इत्यमरः । (क्षीरस्वामी

ने इस पर लिखा हैः—'जलं प्रवृद्धमुच्छ्वसिति परिवहति यैर्निर्गममार्गैस्ते परीवाहाः, यल्लक्ष्यम्—'उपार्जितानामर्थानां त्याग एव हि रक्षणम् । तटाकोदरसंस्थानां परीवाह इवाम्भसाम्' ।)

(११) विशेषतो रामभद्रस्य बहुप्रकारकष्टो जीवलोकः—पाठा०, 'विशेषतो रामभद्रस्य यस्य बहुतर) प्रकारकष्टो जीवलोकः । (१२) [श्लोक ३०] १. ग्लपयति—पाठा०, 'क्लमयति' ।

२. विधिवदभियुक्तेन मनसा—क्षत्रिय का सर्वप्रमुख कर्तव्य प्रजापालन ही है, अतः यहाँ 'अभियुक्त' शब्द दिया गया है । कहा भी हैः—

"प्रधानं क्षत्रियेकर्म प्रजानां परिपालनम् ।" (याज्ञवल्क्य०, १।११६)

३. प्रयाशोको ···ग्लपयति—तुलना कीजियेः—

"ग्लपयति परिपाण्डुः क्षाममस्याः शरीरं,
शरदिज इव घर्मः केतकीगर्भपत्रम् ॥"

रामः—कष्टं भोः ! कष्टम् !

दलति हृदयं शोकोद्वेगाद्द्विधा तु न भिद्यते,
वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम् ।
ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसा-
त्प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम् ॥३१॥

अन्वयः—हृदयं, शोकोद्वेगात्, दलति, द्विधा तु न भिद्यते । विकलः कायः, मोहं वहति, चेतनां (तु) न मुञ्चति । अन्तर्दाहः, तनूं ज्वलयति, भस्मसात् (तु) न करोति । मर्मच्छेदी विधिः, प्रहरति, जीवितं (तु) न कृन्तति ॥३१॥

हे भगवन्तः पौरजानपदाः !

न किल भवतां देव्याः स्थानं गृहेऽभिमतं तत-
स्तृणमिव वने शून्ये त्यक्ता न चाप्यनुशोचिता ।
चिरपरिचितास्ते ते भावास्तथा द्रवयन्ति मा-
मिदमशरणैरद्यास्माभिः प्रसीदत रुद्यते ॥३२॥

अन्वयः—देव्याः गृहे स्थानं, भवतां न अभिमतम्, ततः तृणम् इव शून्ये वने त्यक्ता, न च अनुशोचिता अपि, चिरपरिचिताः ते ते भावाः मां तथा द्रवयन्ति, अद्य अशरणैः अस्माभिः इदं रुद्यते. प्रसीदत ॥३२॥

हिन्दी—

राम—कष्ट ! (अतिशय) कष्ट !

[श्लोक ३१] मेरा हृदय शोकावेग से विदीर्ण हो रहा है, परन्तु दो टुकड़ों में विभक्त नहीं होता (टुकड़े-टुकड़े नहीं हो जाता।) शोकाकुल शरीर मोह धारण कर रहा है, परन्तु चेतना को नहीं छोड़ता। अन्तर्दाह शरीर को जला रहा है, पर भस्मसात् नहीं करता! और यह मर्म-स्थलों पर आघात करने वाला भाग्य प्रहार (तो) करता है, परन्तु जीवन को नष्ट नहीं करता! (इस प्रकार मैं बड़े भारी कष्ट का अनुभव कर रहा हूं।)

सम्मान्य नागरिकों और जनपदवासियों!

[श्लोक ३२] सीता का मेरे घर में रखना आप लोगों को अभीष्ट न था, अतः मैंने उसे तिनके की भांति शून्य वन में छोड़ दिया और उसके लिए कोई भी शोक नहीं किया! परन्तु आज यहां वे चिर-परिचित भाव मुझे द्रवित कर रहे हैं, अतः मैं अशरण होकर रो रहा हूं। आप लोग क्षमा करना! (शब्दार्थ-प्रसन्न हों।) [आज यहां उन चिर-परिचित स्थानों को देखकर मेरे हृदय का बांध टूट गया है जिससे कि मैं विवश होकर रो रहा हूं। इसके लिये आप लोग, कृपा कर, मुझे क्षमा कर दीजियेगा अथवा 'प्रसीदत' व्यङ्ग्य के रूप में भी हो सकता है।]

संस्कृत-व्याख्या

अतिशयितशोक-वेदनामसहमानो रामो वदति दलतीति।

दलतीति। अहो! मम विचित्रा दशा वर्तते। शोकस्य वेगान्मम हृदयं दलति=विदलितमिव भवति, परं द्विधा न भिद्यते। खण्डद्वयं हृदयस्य न भवति। अन्यो जनस्तावन्न प्रत्येति यावत् खण्ड्यमानं वस्तु प्रत्यक्षतो भागद्वये विदीर्णं न भवेत्। ततश्च मदीये हृदये यादृशी वेदना वर्तते, तस्याः परिज्ञानमन्येषां नैव भवितुं युज्यते। स्वानुभववेद्यमिदमपि दुःखमिति भावः। किञ्च विकलः यमायं कायो मोहं वहति=धारयति, परन्तु चेतनां न विमुञ्चति। चेतना-रहितं जनं को नाम सचेता मुग्धं मन्येत? अपि च—आन्तरिको दाहः तनूं=शरीरं ज्वलयति, किन्तु भस्मसात्=सर्वथा भस्म न करोति। अथ च मर्मच्छेदी=मर्मस्थानेषु आघातं कुरुते विधाता, परन्तु जीवितं=प्राणं न कृन्तति=द्विधा न करोति। एवञ्च जीवन-मरणयोर्दोलायामारूढस्येव मम विचित्रा दशा वर्तते। "कस्मै किं कथनीयम्? कस्य मनः प्रत्ययो भवति?" परम-शोकाकुलोऽस्मीति हृदयम्।

अत्र दलनादिकारणे विद्यमानेऽपि कार्याभावात् (द्विधा भवनाभावात्) विशेषोक्तिः अलङ्कारः। हरिणी च्छन्दः ॥३१॥

सम्प्रति पौरान् सम्बोध्य 'किमिति सीतां परित्यज्य सम्प्रति रुद्यते?" इति शङ्काया उत्तरं ददानः प्राह—न किलेति।

भो! भगवन्तः पौराः जानपदाश्च! महानुभावाः! सीतादेव्या मम भवने निवासो भवतां नाभिलषित आसीत्, इति कृत्वा मया सा परित्यक्ता मनागपि शोकश्च

तस्या कृतेः न कृतः। किन्त्वत्रागतं मां चिरपरिचिता विविधा भावाः द्रवयन्ति, अतोऽवश इवात्रानुरोदिमि। अशरण इहास्मि। प्रसीदन्तु भवन्तः। अन्या काचिन्नवीना भावना भवद्भिर्नोद्भावनीया।

अत्रापि विशेषोक्ति अलङ्कारः। हरिणीच्छन्दः ॥३२॥

टिप्पणी

(१) [श्लोक ३१]—

१. शोकोद्वेगात्—पाठा०, 'गाढोद्वेगात्' तथा 'गाढोद्वेगम्। उद्+√विज+घञ्=उद्वेगः। २. भिद्यते— √भिद्+लट् ते कर्मकर्त्तरि। ३. ज्वलयति—√ज्वल+णिच्+ति। 'ज्वालयति' रूप भी होता है। ज्वलह्वलह्मलनमाम् अनुपसर्गाद्वा' (गणसूत्र) । ४. भस्मसात्करोति—साकल्येन भस्म इति भस्म+साति+√कृ+ति। 'विभाषा साति कात्स्न्र्ये' (पा०, ५।४।५२) । ५. यह श्लोक 'मालती-माधव' से नवम् अङ्क में १२ संख्या पर भी है। त्रिपुरारि ने इस पर टिप्पणी दी है—'अन्तरेव हि दलने यादृशी व्यथा स्यात्तादृशी व्यथा हृदि वर्त्तते····। यदि मोहः कथमेवं जानासीत्यत्रोत्तरम्। चेतानां ···तु न मुञ्चत्येवेत्याशयः। तथान्तर्दाहः स्मरपवनसंधुक्षितशोकानलरूपस्तनुं दहति। तर्हि 'दह भस्मीकरणे' इति धात्वर्थात्किमिति भस्मरूपता न दृश्यते इत्यत्र भस्मसान्न करोतीत्युत्तरम्।' (२) ३० वें श्लोक के अनन्तर वहुत सी पुस्तकों में सीता का यह कथन और प्राप्त होता है—'एव्वं ण्णेदं (एवं न्विदम्)'। (३) हे भगवन्तः पौरजानपदाः—पाठा०, 'हे भवन्तः···'।

(४) [श्लोक ३२]—

१. अभिमतम्—अभि+√मन+क्त कर्मणि वर्त्तमाने। २. भ्रमयति—√भ्रम+णिच्+ति, मित्त्वाद् ह्रस्वः।

३. पाठान्तर—(१) न वाप्यनुशोचिता, (२) 'परिभ्रमयन्ति मां' या 'परिद्रवयन्ति', (३) 'चिरपरिचितास्त्वेते भावाः, (४) 'किमिह शरणं नाद्याप्येवं (अद्याप्येव) प्रसीदत'।

वासन्ती—(स्वगतम्) अतिगभीरमापूरणं मन्युभारस्य। (प्रकाशम्) देव! अतिक्रान्ते धैर्यमवलम्ब्यताम्।

रामः—किमुच्यते, धैर्यमिति ?

देव्या शून्यस्य जगतो द्वादशः परिवत्सरः।
प्रणष्टमिव नामापि, न च रामो न जीवति ? ॥३३॥

अन्वयः—देव्याः शून्यस्य जगतो द्वादशः, परिवत्सरः (वर्तते), नामापि प्रणष्टमिव (जातम्), रामश्च न जीवति (इति) न ॥३३॥

हिन्दी—

वासन्ती—(स्वयं ही) शोक-भार बहुत बढ़ गया है। (प्रकाश में) महाराज ! बीती हुई बातों पर धैर्य धारण कीजिये।

राम—क्या कहती हो ? (धैर्य धारण करूं ?)

[श्लोक ३३] देवी (सीता) से शून्य हुए आज संसार का बारहवां वर्ष है। (इस बीच में) उनका नाम भी नष्ट (सा) हो गया है, फिर भी क्या राम जीवित नहीं है ?

संस्कृत-व्याख्या

अत्यधिकदुःखितं रामं निरीक्ष्य वासन्ती स्वगतं प्राह—अति इति। मन्यु-भारस्य=शोकाधिक्यस्य, अतिगभीरं परिपूरणमस्ति। शोकोऽधिकोऽस्तीति भावः। प्रकाशं कथयति देव ! अतिक्रान्ते वस्तुनि शोको नोचितः। धैर्यधारणं क्रियताम्।

वासन्त्या धैर्य-धारणवार्तां श्रुत्वा रामः सावष्टंम्भं प्राह—देव्या इति।

वासन्ति ! किं कथयसि—'धैर्यम्। इति ? अये ! सीताशून्येऽस्मिन् जगति द्वादशवर्षाणि व्यतीतानि, तस्या नामापि सम्प्रति विनष्टमिव जातम्। किमु रामो न जीवति ? अपि तु जीवत्येव। अतोऽधिकं किं नाम धैर्यमवलम्बनीयम्भवेत् ? धैर्यस्य बलेनैवाद्यापि जीवामि। अन्यथा प्राणेश्वरीं विना, को वेत्ति, किं स्यात् ? अत्र उत्प्रेक्षा अलङ्कारः। अनुष्टुप् चछन्दः ॥३३॥

टिप्पणी

(१) अतिगभीरमापूरणं मन्युभारस्य—पाठा०, १. 'अतिगभीरमवपूरणं शोकसागरस्य', २. 'अतिगम्भीरमापूरणं मन्युसम्भारस्य'।

(२) [श्लोक ३३]—

१. प्रणष्टमिव नामापि—पाठा०, १. 'लुप्तं सीतेति नामापि', २. 'न च सीतेति नामापि'। २. न च रामो न जीवति—जहाँ दो 'न' का प्रयोग हो, वहाँ 'स्वीकारोक्ति' ही होती है। 'सम्भाव्यनिषेधनिवर्त्तने द्वौ प्रतिषेधौ' (वामन, काव्यालङ्कारसूत्र, ५।१।६)।

कहने का तात्पर्य यह है कि जब मैं बारह वर्ष सीता के दारुण वियोग में काट चुका हूँ तो इससे अधिक धैर्य और क्या होगा ?

सीता—ओहरामि अ मोहिआ विअ एदेहिं अज्जउत्तस्स पिअवअणेहिं। [अपह्रिये च मोहितेव एतैरार्यपुत्रस्य प्रियवचनैः।]

तमसा—एवमेव वत्से !

नैताः प्रियतमा वाचः, स्नेहार्द्राः, शोकदारुणाः।
एतास्ता मधुनो धाराः, श्च्योतन्ति सविषास्त्वयि ॥३४॥

अन्वयः—एताः वाचः प्रियतमाः स्नेहार्द्राः, शोकदारुणाः, न (अपितु), एताः ताः सविषाः मधुनः, धाराः, त्वयि श्च्योतन्ति ॥३४॥

हिन्दी—

सीता—मैं आर्यपुत्र के इन प्रिय वचनों से मोहित-सी हो सुध-बुध खो रही हूं।

तमसा—ऐसा ही है बेटी !

[श्लोक ३४] ये स्नेह-सिक्त, शोक से दारुण प्रिय वचन नहीं हैं अपितु ये वे विषयुक्त मधु की धारायें हैं जो तुम्हारे ऊपर पड़ रही हैं। [जैसे, मधु-मिश्रित विष की बूंद पहले तो अच्छी लगती हैं परन्तु अन्त में मूर्छित कर देती हैं, वैसे ही ये वचन सुनने में प्रिय लग रहे हैं परन्तु इनमें तुम्हारे लोकापवाद का विष मिला हुआ होने से इनका परिणाम शुभ नहीं है।]

संस्कृत-व्याख्या

राम-वचनादपह्नियमाणामिव सीताम्प्रत्याह तमसा—नैता इति।

वत्से सीते ! स्नेहेनार्द्राः, शोकेन च दारुणा एताः प्रियतमा वाचो न सन्ति, अपितु सविषा मधुनस्ताः प्रसिद्धा एता धाराः त्वयि श्च्योतन्ति=स्रवन्ति। मधुत्वात् प्रियाः प्रतीयन्ते, सविषाश्च मोहं जनयन्ति। एतासां प्रियोक्तीनामन्तस्तवापवाद-विषं निहितमस्तीत्यपि वेदितव्यमिति भावः।

अत्रापह्नुतिः अलंकारः ॥३४॥

टिप्पणी

(१) ओहरामि'''पिअवअणेहिं—पाठा०, 'मोहिदह्मि एदेहिं अज्जउत्तवअणेहिं (मोहितास्म्येतैरार्यपुत्रवचनैः)।'

मोहिता=√मुह+णिच्+क्त कर्मणि स्त्रियाम्।

(२) [श्लोक ३४]—

१. यहाँ अपह्नुति अलंकार है।

२. श्रीराम के वचन में दो गुण हैं—'स्नेहार्द्रता' और 'शोकदारुणता'। उन्हीं के आधार पर क्रमशः मधु की धारा में 'मधुत्व' और 'सविषता' का प्रतिपादन किया है। कहने का तात्पर्य है कि ये श्रीराम की बातें पहले तो बड़ी प्यारी और स्नेह-सिक्त लग रही हैं किन्तु बाद में कष्टप्रद हैं उसी प्रकार जिस प्रकार कि विषमिश्रित मधु (शहद) की धारा।

रामः—अयि वासन्ति ! मया खलु—

यथा तिरश्चीनमलातशल्यं, प्रत्युप्तमन्तः सविषश्च दन्तः।
तथैव तीव्रो हृदि शोकशंकुर्मर्माणि कृन्तन्नपि किं न सोढः ? ॥३५॥

अन्वयः—यथा अन्तः प्रत्युप्तं, तिरश्चीनम्, अलातशल्यं, सविषः दन्तश्च, तथैव, तीव्रः, मर्माणि कृन्तन् अपि, हृदि, शोक-शंकुः, किं न सोढः ? ॥२५॥

सीता—एव्वंवि मन्दभाइणी अह जा पुणो आआसआरिणी अज्जउत्तस्स । [एवमपि मन्दभागिन्यहं या पुनरायासकारिणी आर्यपुत्रस्य ।]

रामः—एवमतिगूढस्तम्भितान्तःकरणस्यापि मम संस्तुतवस्तुदर्शनादद्यायमावेगः । तथा हि—

वेलोल्लोलक्षुभितकरुणोज्जृम्भणस्तम्भनार्थं,
यो यो यत्नः कथमपि समाधीयते तं तमन्तः ।
भित्वा भित्वा प्रसरति बलात्कोऽपि चेतोविकार-
स्तोयस्येवाप्रतिहतरयः सैकतं सेतुमोघः ॥३६॥

अन्वयः—वेलोल्लोलक्षुभितकरुणोज्जृम्भणस्तम्भनार्थं, यः यः यत्नः कथमपि समाधीयते, तं तं कोऽपि चेतोविकारः, अप्रतिहतरयः तोयस्य ओघः, सैकतं सेतुमिव अन्तः बलात्, भित्वा-भित्वा, प्रसरति । ३६ ॥

सीता—अजउत्तस्स एदिणा दुव्वारदारुणारम्भेण दुःखसंजोएण परिमुसिअणिअदुःखं पमुक्कजीविअं मे हिअअं फुडइ । [आर्यपुत्रस्यैतेन दुर्वारदारुणारम्भेण दुःखसंयोगेन परिमुषितनिजदुःखं प्रमुक्तजीवितं मे हृदयं स्फुटति ।]

वासन्ती—(स्वगतम्) कष्टमत्यासक्तो देवः । तदाक्षिपामि तावत् । (प्रकाशम्) चिरपरिचितानिदानीं जनस्थानाभोगानवलोकनेन मानयतु देवः ।

रामः—एवमस्तु । (इत्युत्थाय परिक्रामति ।)

हिन्दी—

राम—वासन्ति ! मैंने—

[श्लोक ३५]—जिस प्रकार हृदय में तिरछा धंसा हुआ, तपाने से लाल शल्य (कील) और विषैला दांत दारुण यन्त्रणा उत्पन्न करता है वैसे ही इस असह्य तथा मर्मस्थलों को विदीर्ण करने वाले, हृदय में गड़े हुए शोकशल्य को क्या मैंने नहीं सहा ? (अपितु सहा है । ऐसे दारुण शोक को सहने पर भी मुझे धैर्य का उपदेश दे रही हो ?)

सीता—मैं ऐसी मन्दभागिनी हूं जो कि आर्यपुत्र को फिर से दुःख दे रही हूं !

राम—इस प्रकार अत्यन्त गम्भीरता से अन्तःकरण को रोकने पर भी, चिर-परिचित पदार्थों को देखने से आज मुझे यह शोकावेग हो गया ! जैसा कि—

[श्लोक ३६]—मर्यादा को, लांघकर क्षुब्ध होने वाले शोक की वृद्धि को रोकने के लिये में जैसे-जैसे जो जो यत्न करता हूँ, उस उसको बीच ही में रोककर कोई चित्त का विकार जैसे अबाध जल का वेग रेतीले पुल को तोड़कर फैल जाता है, वैसे ही बढ़ रहा है।

सीता—आर्यपुत्र के दुर्वार (न रोके जाने वाले) दारुण शोक से अपना दुःख भूलकर मेरा हृदय निर्जीव होकर फटा (सा) जा रहा है।

वासन्ती—(स्वयं ही) खेद है ! देव (राम) बहुत शोकाकुल हो गये हैं। इसलिए इनका ध्यान दूसरी ओर आकृष्ट करती हूं। (प्रकाश में) अब आप इन चिर-परिचित दण्डकारण्य प्रदेशों को देखकर (इन्हें) सम्मानित करें।

राम—ऐसा ही सही। (उठकर घूमते हैं।)

संस्कृत-व्याख्या

रामः पुनराह—यथेति।

वासन्ति ! यथा हृदयान्तर्भागे प्रत्युप्तम्=निखातम अलातशल्यं=प्रज्वलितं लौह-कीलकं तिरश्चीनम्=तिर्यग्भूतं कष्टं वितरति, यथा वा सविषः सर्पादीनां दन्तो दुःखप्रदो भवति, तथैवातिशयशोक-शङ्कुर्मम हृदये मर्मस्थानानि कृन्तन् छिन्दन्नपि मया अविशेषरूपेण न सोढः किमु ? सोढ एव। सर्वोऽप्यसौ धैर्यस्यैव प्रभाव इति पुनरपि धैर्यावलम्बनार्थं मामुपदिशसि ?

अत्रोपमा रूपकञ्च। उपजातिश्छन्दः ॥ ३४ ॥

"यद्येवं तर्हि किमेवं खेदः ?" इत्याशङ्कां दूरीकरोति एवमिति। एवमति गूढं यथा स्यात्तथा स्तम्भितं=समवरुद्धं, अन्तः करणं येन तस्य, संस्तुतानां=दर्शनाद्यायमावेगः शोकस्य संजातः। स्वभावः गम्भीरस्यापि मम पूर्वपरिचितानां पदार्थानामवलोकनेनेदृशी दशाऽद्य सम्पन्नेति भावः।

इममेवार्थं द्रढयति—वेलेति।

वेलायाः=समुद्रस्य मर्यादायाः, उल्लोलः=अतिचञ्चलः क्षुभितः=प्राप्त-क्षोभः करुणः=शोकः तस्य यदुज्जृम्भणं=वृद्धिः, तस्य स्तम्भनार्थं=अपनोदार्थं, मर्यादामतिक्रम्य वर्तमानस्यापि शोकसागरस्य स्तम्भनं कर्तुं, इत्यर्थः। क्वचित् "लोलोल्लोल"—इति पाठः। तत्र लोलम्=चञ्चलम् ततोऽपि लोलः—इत्यर्थः। एवंविधस्य अतितमां वृद्धिमापन्नस्य शोकस्यावरोधार्थं यो यो यत्नो मया कथं कथमपि समाधीयते=समाधानं कर्तुमन्विष्यते, तं तं यत्नं अन्तः=मध्ये, भित्वा-भित्वा—संछिद्य, बलात् कोऽपि मानसो विकारः अप्रतिहतः=अनवरुद्धवेगः, जलस्य वेगो यथा सिकताभिर्निर्मितं सेतुं बलात् भित्वा प्रवहति, तथैवायमपि

शोकस्य वेगं भित्वाऽग्रे प्रसारं प्राप्नोत्येव । किं करोमि शोकवेगं निरोद्धुं सर्वोऽपि मम यत्नो निष्फलो भवतीति भावः । सैकतोपमया चेतसोऽतिजर्जरावस्था सूचिता । अनिवार्यः शोकश्चेति ध्वन्यते ।

अत्रोपमालङ्कार । मन्दाक्रान्ता च्छन्दः । प्रथमे पादे ओजो गुणः । शेषेषु प्रसादः । गौडी लाटी च रीत्यौ ॥३६ ॥

रामस्य शोकावेगमवलोक्यात्मनो दशां दर्शयितुमाह जनकनन्दिनी—**अज्ज-उत्तस्सेति** । दुर्वारः=विशेषप्रयत्नैरपि वारयितुमशक्यः । दारुणः=क्लेशप्रदत्वात् परमकठोरः आरम्भो यस्य तेन आर्यपुत्रस्य दुःखसंयोगेन, परिमुषितम्=अपहृयं निजदुःखं यस्य तत्, प्रमुक्तं=निर्गतं, जीवितं—जीवनं यस्य तथाविधं मदीयं हृदयं सम्पन्नम् । आर्यपुत्रस्य दुःखं निरीक्ष्य मम हृदयं तु प्राणशून्यमिव सम्पन्नमित्याशयः ।

रामस्य संक्षोभमवलोक्य स्वगतमाह वासन्ती—**कष्टमिति** । अहो ! महान् खेदः देवो तत्रस्तु अत्यासक्तः=अतिशोकसङ्घे समासक्तचित्तः सञ्जातः । ततश्चान्यत्रा-क्षिपामि=सञ्चारयामि । (प्रकाशं) ब्रूते—महाराज ! पूर्वपरिचितानामेतेषां जन-स्थानस्याभोगानाम्=प्रदेशानामवलोकनेन सम्मानं करोतु श्रीमानिति ।

टिप्पणी

(१) तिरश्चीनम्—तिर्यगेव तिरश्चीनम् । तिर्यच्+ख । "विभाषाञ्चेर-दिक्स्त्रियाम्" (पा० ५ ४ ८) । 'तिर्यक् तिरोऽर्थे वक्रे च त्रिहङ्गादौ त्वनव्ययम्"—इत्यमरः । **(२) अलातशल्यम्**--अलातरूपं शल्यम् । "अङ्गारोऽलातमुल्मुकम्"—इत्यमरः । शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपिसमासः ।

उक्त दोनों विशेषणों से व्यथा की विषमता सिद्ध होती है। सीधा शल्य इतना कष्ट नहीं देता जितना कि टेढ़ा । इतनी पर भी वह अङ्गाररूप हो तो और भी कष्टकारी होता है । ठीक यही दशा श्रीरामजी के शोकशङ्कु की है । वह बड़ा विषम और हृदयदाहक है ।

(४) प्रत्युप्तमन्तः सविषश्च दन्तः—१ पाठा०,···"सविषश्च दशः ।" २. प्रत्युप्तम्=प्रति+√वप्+क्त । ३. यहाँ 'च' का प्रयोग 'वा' के अर्थ में हुआ है । "च पादपूरणे पक्षान्त रे हेतौ विनिश्चये"—इति त्रिकाण्डशेषः । ४. यहाँ भी एक विशेषता है । श्रीरामजी का शोक अन्तर्मुखी नहीं है, बहिर्मुखी नहीं । शोक हृदय से बाहर को नहीं आता, अपितु हृदय के अन्दर ही अन्दर घुसा जाता है ।

(५) एवमपि मन्दभागिनी···—पाठा० "एवमस्मि मन्दभागिनी पुनरपि —" (एव्वंह्मि मन्दभाइणी पुणोवि··) । **(६) वेलोल्लोल**···—पाठा०, १. 'लोलोल्लोल··' एवं 'हेलोल्लोल'··· । २. 'समाधीयते' एवं 'मयाधीयते' । समास संस्कृत-टीका में देखिए ।

सीता—संदीवण एव्व दुःखस्स पिअसहीए विणोदणोवाओ त्ति तक्केमि । [संदीपन एव दुःखस्य प्रियसख्या विनोदनोपाय इति तर्कयामि ।]

वासन्ती—देव देव !

अस्मिन्नेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षणः,
सा हंसैः कृतकौतुका चिरमभूद्गोदावरीसैकते ।
आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया,
कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः ॥३७॥

अन्वयः— अस्मिन्नेव, लतागृहे, त्वं, तन्मार्गदत्तेक्षणः, अभवः, सा हंसैः, कृतकौतुका, गोदावरी सैकते, चिरमभूत् । आयान्त्या, तया, त्वां परिदुर्मनायितम् इव वीक्ष्य, कातर्यात् अरविन्दकुड्मलनिभः, प्रणामाञ्जलिः, बद्धः ॥३७॥

सीता—दालुणासि वासन्ति ! दालुणासि । जा एदेहिं हिअअमम्मुग्घाडिअसल्लसंघट्टनेहि पुणोपुणोवि मं मन्दभाइणिं अज्जउत्तं अ सुमरावेसि । [दारुणासि वासन्ति ! दारुणासि । या एतैर्हृदयमर्मोद्घाटितशल्यसंघट्टनैः पुनः पुनरपि मां मन्दभागिनीमार्यपुत्रं च स्मरयसि ।]

हिन्दी—

सीता—मैं समझती हूं कि (आर्यपुत्र के) दुःख को भड़काना ही प्रिय सखी वासन्ती के विनोद का साधन है ।

वासन्ती—देव ! देव !

[श्लोक ३७]—(देखिये) यह वही लता-गृह है, जहां आप मार्ग की ओर आंखें लगाकर सीता की प्रतीक्षा कर रहे थे, परन्तु उन्हें गोदावरी के रेतीले तट पर हंसों से खेलते हुए देर हो गई थी । जब कुछ देर बाद) लौटकर आती हुई उन्होंने आपको कुछ खिन्न सा देखा तो कातरता से कमल-कलिकाओं के समान सुन्दर अंगुलियों को जोड़कर (देरी के लिए क्षमा मांगते हुए) आपको दूर से ही प्रणामाञ्जलि समर्पित की थी ।

सीता—सखि वासन्ति ! तू बड़ी कठोर है जो हृदय के मर्मस्थल से उद्घाटित (पकड़े गये) शोकशल्य को बारम्बार हिला हिलाकर मुझे और आर्यपुत्र को (ऐसे हृदय-द्रावक दृश्यों का) स्मरण करा रही है । (बार-बार पुराने प्रसङ्गों को उभार-उभार कर हम दोनों को दुःखाभिभूत कर रही है ।)

संस्कृत-व्याख्या

रामस्यानुमतिमादाय वासन्ती रामेण सह स्थानान्तरं गत्वा किमपि विशिष्टं स्थानं प्रदर्शयति—अस्मिन्निति ।

देव ! इद तत् स्थानमस्ति, यत्र कदाचिद्भवान् सीतायाः प्रतीक्षायां तस्या मार्गमन्वीक्षमाणः समुपविष्टः । सा च गोदावर्याः सैकते तटे हंसैः सह विनोदपरायणा विलम्बमकरोत् । पुनश्च समागच्छन्त्या तया दूरत एव भवन्तं विक्षुब्धमिवावलोक्य कातरया सत्या कोमल–कमलकलिकाकृतिः परमरमणीयः प्रणामार्थमञ्जलिर्बद्ध आसीत् । इदं तदेव लता-गृहं निरीक्ष्यात्मानं विनोदयितुमर्हति महाराज इति ।

अत्रोपमाऽलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं च्छन्दः । प्रसादो गुणः । लाटी रीतिः ॥३७॥

एतेन लतागृहप्रदर्शनेनातिखिन्ना सीता वासन्त्या व्यापारं निन्दति—दारुणासीति । सखि—वासन्ति ! त्वमति कठोरासि । यतः हृदयस्य मर्मस्थानोद्घातनेन यत् शल्य-कीलकमधिगतं, तेन मामार्यपुत्रञ्च भूयो भूय एवविधानां छेदकराणां तत्त्वानां स्मरणं कारयित्वा क्लेशयसि ।

टिप्पणी

(१) संदीपन···· ···· तर्कयामि—वस्तुतः सीता का यह कथन यथार्थ है । अभी आगे चलकर इन चिरपरिचित जनस्थान भागों का अवलोकन करने पर श्री रामजी का हृदय स्फुटित होने वाला है और उनकी दारुण दशा होने वाली है । देखिए ३८ वाँ श्लोक ।

(२) [श्लोक ३७]—

१. तन्मार्गदत्तेक्षणः—तस्याः मार्गस्तन्मार्गः, तस्मिन् दत्तम् ईक्षणं येन सः । २. कृतकौतुका—पाठा०, "स्थिरकौतुका" । ३. गोदावरीसैकते—गोदावर्याः सैकते ।

सैकतम्=सिकता+अण् । देशे लुविलचौ च" (पा० ५।२।१०५) ।

४. आयान्त्या··· ···मुग्धः प्रणामाञ्जलिः—इस वर्णन में घनश्याम पण्डित के अनुसार कवि का अचातुर्य है—"अञ्जलिरिति कथनं कवेरचातुर्यम् । वेश्याजनक्रियमाणोऽयं विलासः न तु कुलाङ्गनानां सम्प्रदायः । कदाचिदपराधे सति सत्यः पादपीडनमेवारचयन्तितराम्, इत्युच्चैश्शिरसः । अलौकिकवैदिकघण्टापथमन्थविशेषज्ञाः प्रमाणम् ।"

किन्तु यह विचार उचित प्रतीत नहीं होता । वीरराघव ने प्रणामाञ्जलि की पुष्टि की है—"प्रणामञ्जलिः मस्तकन्यस्तकरपुटादिप्रणामाङ्गभूताञ्जलिरित्यर्थ । अथवा—

'नामयत्यपि वा दैवं, रोह्वीभावयति ध्रुवम् ।
प्रह्वीभवति नीचो हि, परि नैच्यं विलोकयन् ॥

अतो वा नम उक्तीदं, यत्तं नामयति स्वयम् ।
वाचा नम इति प्रोच्य, वपुषा मनसा च यत् ।।' इति भगव—
च्छास्त्रोक्तरीत्या प्रणामः कोपोद्धृतरामहृदयगमनहेतुभूतोऽञ्जलिरित्यर्थः । उक्तञ्च—
'अञ्जलिः परमा मुद्रा क्षिपं देवप्रसादिनी' इति । अतएव रामायणे—
'कृतापराधस्य हि ते नान्यत्पश्याम्यहं क्षमम् ।
अन्तरेणाञ्जलिं बद्ध्वा, लक्ष्मणस्य प्रसादनात् ।।' इति ।"

५. यह पद्य 'प्रणयमान' के उदाहरण के रूप में 'दशरूपक' (४।५८) में उद्धृत हुआ है ।

रामः—अयि चण्डि जानकि ! इतस्ततो दृश्यसे, नानुकम्पसे ।
हा हा देवि स्फुटति हृदयं, ध्वंसते देहबन्धः,
शून्यं मन्ये जगदविरलज्वालमन्तर्ज्वलामि ।
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा,
विष्वङ् मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि ? ।।३८।।

अन्वयः—हा हा देवि ! हृदयं स्फुटति, देहबन्धः ध्वंसते' जगत् शून्यं मन्ये, अन्तःअविरतज्वालम्, ज्वलामि, सीदन् विधुरः, अन्तरात्मा, अन्धे तमसि मज्जति इव, मोहः, विष्वक् स्थगयति, मन्दभाग्यः कथं करोमि ? ।।३८।।

(इति मूर्च्छति ।)

सीता—हद्धी हद्धी ! पुणोवि मुद्धो अज्जउत्तो ! [हा धिक् हा धिक् ! पुनरपि मूढ आर्यपुत्रः !]

वासन्ती—देव ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

सीता—अज्जउत्त ! मं मन्दभाइणिं उद्दिसिअ सअलजीवलोअ-मङ्गलिअजम्मलाहस्स दे वारंवारं संसइदजीविअदालुणोदसापरिणा-मो त्ति हा हदह्मि । (इति मूर्च्छति) [आर्यपुत्र ! मां मन्दभागिनी-मुद्दिश्य सकलजीवलोकमाङ्गलिकजन्मलाभस्य ते वारंवारं संशयित-जीवितदारुणो दशपरिणाम इति हा हतास्मि ।]

तमसा—वत्से ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि । पुनस्ते पाणिस्प-र्शो रामभद्रस्य जीवनोपायः ।

वासन्ती—कथमद्यापि नोच्छ्वसिति ? हा प्रियसखि सीते ! क्वासि ? सम्भावयात्मनो जीवितेश्वरम् ।

(सीता ससम्भ्रममुपसृत्य हृदि ललाटे च स्पृशति ।)

हिन्दी—

राम—चण्डी (अतिशय कोप करने वाली) सीते ! इधर-उधर दिखाई (तो) दे रही हो मुझ पर दया नहीं करतीं ? (यहां के कण-कण में तुम बसी हुई-सी लग रही हो परन्तु तुम्हारा प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हो रहा है !)

[श्लोक ३८]—हा, देवि ! (तुम्हारे वियोग में मेरा) हृदय फटा जा रहा है ! देह के बन्धन ढीले पड़ रहे हैं। मैं संसार को शून्य समझ रहा हूं। मैं भीतर ही भीतर लगातार जला जा रहा हूं। मेरी व्याकुल अन्तरात्मा निबिड़ अन्धकार में धंसी जा रही है ! मुझे मोह चारों ओर से घेर रहा है ! हा ! मैं भाग्यहीन (अब) क्या करूं ?

सीता—हाय ! हाय ! आर्यपुत्र फिर मूर्छित हो गये !

वासन्ती—महाराज धैर्य धारण कीजिये ! धैर्य धारण कीजिये।

सीता—आर्यपुत्र मुझ मन्दभागिनी को लक्ष्य कर, समस्त संसार के कल्याण के लिये जन्म लेने वाले आपका, जीवन को संशय में डाल देने वाला विषय परिणाम हो रहा है ! हाय ! मैं हतप्राय हो रही हूं। (मूर्छित हो जाती है।)

तमसा—वत्से ! आश्वस्त हो ! आश्वस्त हो ! पुनः तुम्हारे हाथ का स्पर्श रामभद्र के जीवन का उपाय है। (तुम अपने स्पर्श से उन्हें सञ्जीवित कर दो।)

वासन्ती—क्या अब भी सचेत नहीं हो रहे हैं ? हा ! प्रियसखि, सीते ! तुम कहां हो ? अपने प्राणेश्वर को संभालो !

(सीता घबराहट से पास जाकर हृदय और ललाट पर स्पर्श करती है।)

संस्कृत-व्याख्या

खेदातिशयमभिनयन्नह रामः—हा, हेति।

खेदातिशयमभिनयन्नाह रामः—हा हेति। हा ! चण्डि सीते ! इतस्ततो दृश्यसे, नतु मामनुकम्पसे—हन्त ! देवि ! ममेदं हृदयं स्फुटति, देहस्य बन्धोऽधुना स्त्रंसते=शिथिलीभवति। अहमिदानीं सर्वमपि संसारं चिरशून्यं जानामि निरन्तर-शोकज्वालयाऽन्तर्ज्वलामि चित्ते दाह इव समुद्भवति, सीदन्=दुःख माप्नुवन् ममान्तरात्माऽन्धे तमसि=घोरेऽन्धकारे विधुरः सन् नियुक्तः सम् निमज्जतीव=अन्धकारसिन्धौ निमग्नो भवतीव। हा ! परितो मोहो मां स्थगयति=आवृणोति। मन्दभाग्योऽहमिदानीं किं करोमि ? किंकर्तव्यताविमूढोऽस्मीति भावः। सीता-विरह-विलोडनोपायो मम विचार नायातीत्याशयः।

अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः। मन्दाक्रान्ता छन्दः ॥३८॥

मूर्च्छितं राममवलोक्य दुःखिता सीता प्राह—अज्जउत्तेति। आर्यपुत्र ! भवतो जन्म निखिलविश्वस्य मंगलार्थमस्ति, पुनरपि मम स्मरणेन संशयितजीवित इवासि इति भावः।

टिप्पणी

(१) अयि चण्डि जानकि !—वीरराघव ने 'जानकि' पद की व्यञ्जना इस प्रकार बताई है—'जानकीत्युक्त्वा परमदयालुजनकराजपुत्र्यास्तवेदं निर्दयत्वं नोचितमिति व्यज्यते ।" (२) इतस्ततो दृश्यसे नानुकम्पसे—पाठा०, "...दृश्यस इव..." । तात्पर्य यह है कि सीता की स्मृति उग्ररूप में जागरूक हो जाने से श्रीराम को उसका दर्शन सर्वत्र अतिभ्रान्ति (Hallucination) सी दशा में हो रहा था। अथवा सीतासेवित संस्थलों के दर्शन से प्राचीन स्मृति साकार सी हो उठी थी।

(३) [श्लोक ३८]—

१. प्रस्तुत पद्य 'मालतीमाधव' (९।२०) में भी किञ्चित् परिवर्तन के साथ मिलता है। "मातमतिर्दलति ..." आदि।

२. पाठा०, (१) 'ध्वंसते' के स्थान पर 'स्रंसते'। (२) 'जगवविरल.......' के स्थान पर 'जगदविरत' या 'जगदविरम्'। ३. कथं मन्दभाग्यः करोमि—की व्याख्या वीरराघव ने इस प्रकार की है—"किं हृदयस्फोटादि निवारयामि, उत त्वदागमनार्थं लोकाननुनयामि, अथवा तान्निगृह्य त्वामानेष्यामि वेति भावः। ४. जगद्धर ने इस पद्य में शोकस्थायिभाव के व्यभिचारिभावों का प्रकाशन बड़ी रुचिरता से किया है—"द्विधा भवति हृदयमिति पीडा, अवयवसन्धिः शिथिलीभवतीत्यस्वस्थता। विश्वं शून्यं मन्ये इति बाह्यासंवेदना निर्वेदः। अविरल-ज्वालं यथा तथान्तर्ज्वलामीति चिन्ताजनितो दाहः। अन्तरात्मा निरालम्बः सीदन्नवसादं गच्छन्गाढान्धकारे मज्जतीवेति ग्लानिः। विष्वक् सर्वतो मोहश्छादयतीति मोहः। मन्दभाग्योऽहं किं करोमीति दैन्यम् ।"

(४) "सकलजीवलोकमाङ्गलिकजन्मलाभस्य"—पाठा०, 'सकलजीवलोकमङ्गलाधारस्य'।

वासन्ती—दिष्टया प्रत्यापन्नचेतनो रामभद्रः।

रामः—

आलिम्पन्नमृतमयैरिव प्रलेपैरन्तर्वा बहिरपि वा शरीरधातून्।
संस्पर्शः पुनरपि जीवयन्नकस्मादानन्दादपरमिवादधाति मोहम् ॥३९॥

अन्वयः—अमृतमयैः, प्रलेपैः, अन्तर्वा बहिरपि वा शरीरधातून्, आलिम्पन्निव जीवयन्, अकस्मात्, संस्पर्शः, पुनरपि, आनन्दात् अपरं, मोहम् आदधाति इव ॥३९॥

(सानन्दं निमीलिताक्ष एव) सखि, वासन्ति ! दिष्ट्या वर्धसे।

वासन्ती—कथमिव ?

रामः—सखि ! किमन्यत् ? पुनरपि प्राप्ता जानकी।

वासन्ती—अयि देव रामभद्र ! क्व सा ?

रामः—(स्पर्शसुखमभिनीय) पश्य, नन्वियं पुरत एव ।

वासन्ती—अयि देव रामभद्र ! किमिति मर्मच्छेददारुणैरतिप्रलापैः प्रियसखीविपत्तिदुःखदग्धामपि मां पुनः पुनर्मन्दभाग्यां दहसि ?

सीता—ओसरिदुं इच्छम्मि । एसो उण चिरप्पणअसंभारसोम्मसीअलेण अज्जउत्तप्परिसेण दीहदारुणावि झत्ति संदावं उल्लाहअन्तेण वज्जलेदुावणद्धो विअ परिअद्धवावारो आसंजिओ विअ मे अग्गहत्थो । [अपसर्तु मिच्छामि । एष पुनः चिरप्रणयसम्भारसौम्यशीतलेन आर्यपुत्रस्पर्शेन दीर्घदारुणमपि झटिति सन्तापमुल्लाघयता वज्रलेपोपनद्ध इव पर्यस्तव्यापार आसञ्जित इव मेऽग्रहस्तः ।]

हिन्दी—

वासन्ती—सौभाग्य से रामभद्र पुनः सचेत हो गये हैं ।

राम—[श्लोक ३९] अन्दर और बाहर, और शरीर 'की' धातुओं पर अमृतमय लेप करता तथा मुझको जीवित-सा बनाता हुआ यह स्पर्श सहसा आनन्द के कारण पुनः मोह उत्पन्न कर रहा है ।

(आनन्द से आंखें बन्द कर) सखि वासन्ती ! सौभाग्य से बढ़ रही हो ! (तुम भाग्यशालिनी हो, तुम्हें बधाई है ।)

वासन्ती—कैसे ?

राम—सखि ! और क्या ? फिर से जानकी प्राप्त हो गई !

वासन्ती—देव, रामभद्र ! वह कहां है ?

राम—(स्पर्श-सुख का (अभिनयकर) देखो न, यह सामने ही है ।

वासन्ती—देव, रामभद्र ! इन मर्म-विदारक अत्यन्त दारुण विलापों से, सखी (सीता) के दुःख से दग्ध मुझ मन्दभागिनी को और क्यों जला रहे हो ?

सीता—मैं दूर हटना चाहती हूं । क्योंकि, बहुत दिनों के सञ्चित प्रेम से आनन्द-दायक तथा शीतल, आर्यपुत्र के, लम्बे एवं दारुण शोक को दूर करने वाले स्पर्श से, वज्र के लेप से जकड़ा हुआ सा निश्चेष्ट होकर मेरे हाथ का अग्रभाग चिपकसा गया है । (प्राणेश्वर के स्पर्श से मेरा हाथ सुन्न-सा हो गया है ।)

संस्कृत-व्याख्या

सीतायाः करपङ्कजस्पर्शात् प्रत्यापन्नचेतनो रामभद्रः सहर्षमाह अलिम्पन्निति । अहो ! अमृतमयैः प्रकृष्टलेपैः कृत्वा शरीरान्तः स्थितान् वहिः स्थितान् वा

धातून्=(दधति—शरीरं पोषयन्तीति धातवः, तान्, धातवः—"रसा सृङ्मांस मेदोऽस्थि मज्जा-शुक्राणि धातवः।" इति सुश्रुतसंहितोक्तेः उक्ता भवन्ति।) आलिम्पन्निव जानकी-करस्पर्शः पुनरपि मां जीवयन्=उज्जीवितं कुर्वन् आनन्दात्=आनन्दं दत्वा (ल्यब्लोपेऽत्र पञ्चमी) अपरमिव मोहं समादधाति। आनन्दानुभूतिरपि मोह इवास्ते। मोहेऽपि यथा निश्चेष्टता भवति तथैवानन्देऽपीति भावः।

मोहस्य लक्षणञ्च यथा—

"मोहो विचित्तता भीति-दुःख वेगानुचिन्तनैः।
मूर्च्छनाऽज्ञान-पतन-भ्रमणदर्शनादिकृत्॥" इति।

अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः। प्रहर्षिणी च्छन्दः॥३६॥

सीतायाः करस्पर्शजन्यं सुखमास्वादयन् रामो लोचने निमील्य पुरतो वर्तते सैव मम प्रियतमेति वासन्तीम्प्रत्याह। सा च खेदमभिनयन्ती कथयति अयि इति। अयि देव! मर्मच्छेदैरति कठोरैः प्रलापैः, सीताया विपत्ति-दुख-दग्धामपि मां किमिति दहसि? कुत्रात्र तस्याः सम्भवः?

सीता रामस्येदृशीमवस्थामवलोक्य ततोऽपसर्तुंकामा स्वकीयकरस्य जडतामिव प्रदर्शयति—ओसरिदुमिति। इतः=स्थानादन्यत्र गन्तुमिच्छामि। दीर्घकाल शोक-सन्तापमपि दूरीकुर्वता आर्यपुत्रस्य चिरकाल-सेवित-सौम्येन शीतलेन च करस्पर्शेण ममायग्रहस्तो जडीकृत इवास्ते।

टिप्पणी

(१) शरीरधातून्—शरीर में सप्त धातुएं कही गयी हैं—१. रस, २. रुधिर, ३. माँस, ४. मेद, ५. अस्थि, ६. मज्जा एवं ७. शुक्र। "रसासृङ्मांसमूदोऽस्थिमज्जा-शुक्राणि धातवः" (वाग्भट)। (२) अमृतमयैः—अमृतस्य विकारैः। अमृत+मयट्। (३) आनन्दात्—"ल्यबलोपे कर्मण्यधिकरणे च"—इति पञ्चमी अथवा 'हेतौ' पञ्चमी। (४) अपरविधं मोहं तनोति—अपरा विधा यस्य तम् अपरविधम्। तुलना कीजिए:—

१. "तव स्पर्शे स्पर्शे मम च (हि) परिमूढेन्द्रियगणो,
विकारश्चैतन्यं भ्रमयति समुन्मीलयति च।" (उत्त०, १।३५)

२. "सन्तापजां सपदि यः परिहृत्य मूर्च्छा-
मानन्दनेन जडतां पुनरातनोति। (उत्त०, ३।१२)

रामः—सखि! कुतः प्रलापः?

गृहीतो यः पूर्वं परिणयविधौ कङ्कणधरः,
सुधासूतेः पादैरमृतशिशिरैर्यः परिचितः।

सीता--उज्जउत्त ! सो एव्व दाणिंसि तुमम् ? [आर्यपुत्र ! स एवेदानीमसि त्वम् ?]

रामः—

स एवायं तस्यास्तदितरकरौपम्यसुभगो,
मया लब्धः पाणिर्ललितलवलीकन्दलनिभः ॥४०॥

अन्वयः—पूर्वं परिणयविधौ कङ्कणधरो यो गृहीतः, सुधासूतेः, अमृतशिशरैः पादैः य परिचितः, [सीताया "आर्यपुत्र ! स एवदानीमसि त्वम् ?" इति कथनानन्तरं राम उत्तरार्द्धं पठति, तस्य चान्वय एवम्] ललित-लवली-कन्दलनिभः, तदितरकरौपम्य-सुलभः, स एवायं, तस्याः, पाणिः, मया लब्धः ।

(इति गृह्णाति ।)

सीता--हद्धी हद्धी ! अज्जउत्तप्परिसमोहिदाए पमादो मे संवुत्तो । [हा धिक् हा धिक् ! आर्यपुत्रस्पर्शमोहितायाः प्रमादो मे संवृत्तः ।]

रामः--सखि वासन्ति ! आनन्दमीलितः प्रियास्पर्शसाध्वसेन परवानस्मि । तत्त्वमपि धारय माम् ।

वासन्ती--कष्टमुन्माद एव ।

(सीता ससम्भ्रमं हस्तमाक्षिप्यापसर्पति ।)

हिन्दी—

राम—सखि ! प्रलाप का क्या नाम ?

[श्लोक ४० पू०] "जिसे (मैंने) पहिले विवाह-विधि में कङ्कण धारण किये हुए पकड़ा था; और जो कि चन्द्रमा की अमृतमय किरणों से परिचित था (चन्द्र-किरणों के समान शीतल था ।)"—

सीता—आर्यपुत्र ! क्या आप अब भी वहीं हैं ? (मेरा परित्याग करने के अनन्तर भी क्या मुझे चाहते हैं ?) अथवा आप अब भी वही हैं जिनका मैंने विवाह के समय कङ्कण-धारण किये हुए वरण किया था और जो चन्द्र-किरणों के समान प्रियदर्शन थे ।

राम—[श्लोक ४० उत्त०] "उससे (पकड़े हुए के अतिरिक्त) दूसरे हाथ के समान शोभा वाला 'लवली' लता के अंकुर के समान यह हाथ मैंने पा लिया है ।"

[आशय यह है कि रामचन्द्र जी ने विवाह के समय जो हाथ पकड़ा था उसकी उपमा उनके (सीता जी के) ही दूसरे हाथ से हो सकती थी और किसी से नहीं । "तदितरकरौपम्यसुभगः" का अभिप्राय यही है ।] ॥४०॥ (पकड़ लेते हैं ।)

सीता—हाय ! हाय ! आर्यपुत्र के स्पर्श से मोहित मुझसे प्रमाद हो गया है !

राम—सखि वासन्ति ! (मन में) प्रिया-स्पर्श के आनन्द से उत्पन्न आन्दोलन (हल-चल) मचने के कारण में परवश हो रहा हूं । अतः तुम मुझे संभालो !

वासन्ती—दुःख है ! यह उन्माद ही है । (उन्माद के कारण ही ये ऐसा कर रहे हैं ।)

(सीता शीघ्रता से हाथ खींचकर दूर हट जाती है ।)

संस्कृत-व्याख्या

प्रलापो न, अपितु यथार्थमेव करो मया गृहीत इति रामः कथयति–गृहीत इति।

पूर्वं=विवाह समये य एव कङ्कणधरः करो मया गृहीतः, कीदृशः कः ? इत्याह—सुधासूतेश्चन्द्रस्य पीयूषशीतलैः करैर्योऽस्ति परिचितः अतिशयितशीतल इति यावत् । रामेण सीतायाः करमुद्दिश्य यावत् कथितम्, तावत्सीता सर्वाण्यपि विशेषणानि रामे नियोजयन्ती प्राह—आर्यपुत्र ! स एव, यो मया विवाह—समये स्वीकृतः, असि । विवाहे मां स्वीकृत्येदानीं परित्यक्तुमुचितं किमु ? इति स्वयमेव विचार्यमिति हृदयम् । पुनः रामः प्राह—तस्याः सीतायाः अपर-करस्योपमया सुभगः (अनुपम इत्यर्थः) स एवायं ललित-लवली-लताङ्कुर-सदृशः पाणिः मया प्राप्तः ! त्वं वासन्ति ! कथं न पश्यसि ? कथं वा न विश्वसिसि ?

अत्र श्लेषः पूर्वार्धे, उपमा चोत्तरार्धे । शिखरिणी च्छन्दः ।।४०।।

एवमुक्त्वा सीतायाः करे गृहीते प्रमादोऽयं ममेति कथयति सीता—हद्धी इति। हा धिक् ! आर्यपुत्रस्य स्पर्शेन मोहिताया मम महान् प्रमादः=अनवधानता, संवृत्तः । मयेदं विस्मृतं—किं मया साम्प्रतमनुष्ठेयमिति ! हस्त-ग्रहणे ममैवासावधानतेति भावः ।

वासन्तीम्प्रति रामः कथयति—सखि इति । सखि ! निमिलीत-लोचनोऽपि प्रियतमायाः स्पर्श-जन्येन साध्वसेन=शृङ्गारजन्य-भीति-विशेषेण कम्पेनेव परवान्=पराधीनोऽस्मि । ततस्त्वमपि मां धारय । वस्तुतस्तु–"त्वमपि धारयैना' मित्येव पाठः शोभनः । अहन्तु साध्वस-वशात् सीतायाः सधारणेऽसमर्थोऽस्मि, अतस्त्वमेव एनां=सीतां धारय=गृहाण, इत्याशयः ।

रामस्य विकृतिमवलोक्यानवलोक्य च सीतां, वासन्ती प्राह—कष्टमिति । अहो ! महद्दुःखमुपस्थितम्—यदस्य रामस्य तु उन्माद एव संवृत्तः ! उन्मादस्य स्वरूपञ्च यथा—

"चित्तसम्मोह उन्मादः, कामशोकभयादिभिः ।
अस्थान–हास–रुदित–गीत–प्रलपनादिकृत् ।।" इति ।

टिप्पणी

(१) सुधासूते ''परिचितः—पाठा०, "चिरं स्वेच्छास्पर्शैरमृतशिशरैः"· सुधायाः (अमृतस्य) सूतिः (उत्पत्तिः) यस्मात्सः सुधासूतिः तस्य । चन्द्रमा के लिए प्रयुक्त होता है ।

"सूर्यरश्मिः सुषुम्नो यस्तर्पितस्तेन चन्द्रमाः ।
कृष्णपक्षेऽमरैः शश्वत्पीयते वै सुधामयः ॥" (विष्णुपुराण, २।११।२२)

(२) आर्यपुत्र ! स एवेदानीमसि त्वम्—इस वाक्य में बहुत नाटकीयता है। भवभूति ने पद्यों के मध्य में अनेक स्थानों पर गद्य का प्रयोग करके विच्छित्ति उत्पन्न की है। इस वाक्य के तीन आशय हो सकते हैं :—

१. "आर्यपुत्र ! आप अब भी वैसे ही हैं (प्रश्नवाचक चिह्नरहित पाठ) जैसे कि विवाह के समय थे।" सीता ने अभी श्रीराम का स्पर्श किया है। उसे रामचन्द्र के स्पर्श में वही आनन्द प्रतीत हुआ जो कि पहले विवाह के समय। अथवा श्रीराम का वही सीता के प्रति अनुराग अब भी था जो पहले था।

२. "आर्यपुत्र ! आप इस समय वही हैं (जिसके विषय में आप 'गृहीतो यः ...' आदि कह रहे हैं)।" इस विषय में वीरराघव के शब्द ध्यातव्य हैं—"उक्त-विशेषणसाम्यादाह (सीता)—स एवेदानीं त्वमसि इति। यः करः कङ्कणधरो गृहीतः यः सुधासूतेः पादैः परिचितः स एव त्वमिदानीमित्यर्थः। उभयत्रापि परिणयविधौ कङ्कणधरत्वं लावण्यसंश्लिष्टत्वरूपसुधासूतिकिरणपरिचितत्वं चाव (वि) शिष्टमिति कृत्वा सीतावाक्यं प्रवृत्तम्।"

३. (प्रश्नवाचक चिह्नयुक्त पाठ) "क्या इस समय आप वही हैं (जिन्होंने मुझे कठोर बनकर वन में निकाल दिया था)" इसी आशय को विद्यासागर ने व्यक्त किया है—"इदानीम् सम्प्रति, ईदृगनुरागप्रकाशकाले इत्यर्थः। स एव—यः निरप-धाया अपि मम विजनवनविवासनेनातिदारुणः आसीत्, स एवेत्यर्थः। न ह्येतत्कथमपि सम्भवतीत्यर्थः काक्वा व्यज्यते। तादृगतिदारुणे ईदृगलोकसाधारणानुरागः पाषाणे पङ्कजोद्भववदत्यन्तमसम्भवीतिभावः।"

(३) "तदितरकरौपम्यसुभगः"—पाठा०, "तुहिननिकरौपम्यसुभगः" तथा "तुहिनकरकौपम्यसुभगः"।

रामः—धिक् प्रमादः !

करपल्लवः स तस्याः, सहसैव जडो जडात्परिभ्रष्टः ।
परिकम्पिनः प्रकम्पी, करान्मम स्विद्यतः स्विद्यन् ॥४१॥

अन्वयः—जडः, प्रकम्पी, स्विद्यन्, तस्याः, स, करपल्लवः, जडात्, परिकम्पिनः, स्विद्यतः, मम करात्, सहसा, एव, परिभ्रष्टः ॥४१॥

सीता—हद्धी हद्धी ! अज्जवि अणुबद्धबहुघुम्मन्तवेअणं ण संठावेमि अत्ताणम् । [हा धिक् हा धिक् ! अद्याप्यनुबद्धबहुघूर्णमानवेदनं न संस्थापयाम्यात्मानम् ।]

तमसा—(सस्नेहकौतुकस्मितं निर्वर्ण्य)

सस्वेदरोमाञ्चितकम्पिताङ्गा, जाता प्रियस्पर्शसुखेन वत्सा ।
मरुन्नवाम्भःपरिधूतसिक्ता, कदम्बयष्टिः स्फुटकोरकेव ॥४२॥

अन्वयः—वत्सा, प्रियस्पर्शसुखेन, मरुन्नवाम्भःपरिधूतसिक्ता, स्फुटकोरका, कदम्बयष्टिरिव सस्वेदरोमाञ्चितकम्पिताऽङ्गी जाता ॥ ४२ ॥

सीता—(स्वगतम्) अवसेन एदेण अताणएण लज्जाविदह्मि वदीए तमसाये । किंति किल एसा मणिस्सदि—एसो परिच्चाओ, एसो अहिसङ्गेत्ति । [अवशेनैतेनात्मना लज्जापितास्मि भगवत्या तमसया । किमिति किलैषा मंस्यत 'एष परित्याग एषोऽभिषङ्ग' इति ।]

रामः—(सर्वतोऽवलोक्य) हा कथं नास्त्येव ? नन्वकरुणे वैदेहि !

सीता—अकरुणह्मि, जा एव्वंविहं तुमं पेक्खन्दी एव जीवेमि । [अकरुणास्मि, यैवविधं त्वां पश्यन्तेव जीवामि ।]

रामः—क्वासि प्रिये ? देवि ! प्रसीद प्रसीद । न मामेवंविधं परित्यक्तुमर्हसि ।

सीता—अयि अज्जउत्त ! विप्पदीवं विअ । [अयि आर्यपुत्र ! विप्रतीपमिव ।]

वासन्ती—देव ! प्रसीद प्रसीद । स्वेनैव लोकोत्तरेण धैर्येण संस्तम्भयातिभूमिगतमात्मानम् । कुत्र मे प्रियसखी ?

रामः—व्यक्तं नास्त्येव । कथमन्यथा वासन्त्यपि न पश्येत् ? अपि खलु स्वप्न एष स्यात् ? न चास्मि सुप्तः । कुतो रामस्य निद्रा ? सर्वथापि स एवैष भगवाननेकवारपरिकल्पितो विप्रलम्भः पुनः पुनरनुबध्नाति माम् ।

सीता—मए एव्व दारुणाए विप्पलद्धो अज्जउत्तो [मयैव दारुणया विप्रलब्ध आर्यपुत्रः ।]

हिन्दी—

राम—ओह ! प्रमाद !

[श्लोक ४१] सीता का जड़, कम्पित तथा पसीने वाला हाथ मेरे जड़, कम्पित तथा पसीना आये हुए हाथ से अचानक ही छूट गया है ।

सीता—हाय ! हाय ! बहुत अधिक बार-बार उत्पन्न होने वाली निरन्तर वेदना के कारण मैं अपने को अब तक नहीं संभाल पा रही हूं ।

तमसा—(स्नेह, कौतूहल और मुस्कराहट के साथ देखकर ।)

[श्लोक ४२] वत्सा (सीता) प्रिय (राम) के स्पर्श-सुख से, पवन से कंपाई तथा प्रथम वर्षा के जल से सींची हुई कदम्ब की विकसित डाल के समान, स्वेद से रोमाञ्चित और कम्पित हो गई है ।

सीता—(अपने मन में) मेरी इस विवशता के कारण देवी तमसा ने मुझे (बहुत) लज्जित किया है । क्या यह (अपने मन में) सोच रही होगी—"कहां यह परित्याग ? और कहां यह आसक्ति ?"

राम—(चारों ओर देखकर) हाय ! क्या है ही नहीं ? हे अकरुण वैदेहि !

सीता—सचमुच "अकरुणा' ही हूं जो कि इस प्रकार (दुःखित) आपको देखती हुई भी जी रही हूं ।

राम—प्रिये ! कहां हो ? देवि ! प्रसन्न हो ! प्रसन्न हो ! मुझे इस अवस्था में छोड़ना तुम्हें उचित नहीं है ।

सीता—आर्यपुत्र ! आप उलटी ही बात कह रहे हैं ! (आपने ही मेरा परित्याग किया है, मैं कैसे कर सकती हूं ?)

वासन्ती—महाराज ! प्रसन्न हो ! प्रसन्न हो ! (शोक ही) सीमा का उल्लङ्घन कर दुर पहुंचे हुए स्वयं को अपने लोकोत्तर धैर्य से ही संभालिये ! मेरी प्रिय सखी यहां है ही कहाँ ?

राम—सचमुच है ही नहीं ? अन्यथा क्या वासन्ती भी न देखती ? कदाचित् यह स्वप्न हो ? परन्तु मैं सोया नहीं हूं । राम को नींद कहां ? निस्संदेह अनेक बार कल्पित सर्वशक्तिशाली विरह ही मेरा बार-बार अनुसरण कर रहा है । (मुझको सीता का भ्रम करा कर बार-बार धोखा दे रहा है ।)

सीता—(और किसी ने नहीं), कठोरहृदया मैंने ही आर्यपुत्र को धोखा दे रखा है ।

संस्कृत-व्याख्या

सीतायां हस्तमाच्छिद्यापसृतायां "धिक् ! प्रमादः !" इति रामो वदति—'करपल्लवः' इति ।

अत्र कविना परमेण कौशलेन सीता-रामयोः कर-द्वयस्यैक्यं प्रतिपादितम्—प्रथमान्त-पञ्चम्यन्तपदानि विशेषतया मनोहराणि सन्ति । सीतायाः करपल्लवः मम करात् परिभ्रष्टः, इति योजना । ममापि करो जडः, सीतायाश्चापि तादृशः एव । मम च हस्तः प्रकर्षेण प्रकम्पितः, तस्या अपि तादृशः । स्विद्यन्—स्वेदयुक्तो मम पाणिः, तस्या अपि च तादृग्विधः, अतएव परिभ्रष्टः । उभयोरपि शृङ्गारभावनोदयात् सात्विक-भाव-प्रदर्शनं कविकुशलतामाख्याति । समता चात्र कामपि विच्छित्तिं जनयत्येव ।

अत्र रसध्वनिः। आर्या च्छन्दः। तल्लक्षण यथा—

"लक्ष्मैतत् सप्तगणा गोपेता भवति नेह विषमे जः।
षष्ठोऽयं न लघुर्वा प्रथमेऽर्धे नियतमार्यायाः॥
षष्ठे द्वितीयलात्परके न्ले मुखलाच्च सयतिपदनियमः।
चरमेऽर्धे पञ्चमके तस्मादिह भवति षष्ठो लः॥" इति।

यथा वा सरलं लक्षणम्—

"यस्याः पादे प्रथमे, द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये, चतुर्थके पञ्चदश सार्या।" इति॥ ४१॥

सीता स्वात्मनो विषये प्राह—हृद्धीति। धिक्! अद्यापि अनुबद्धा=निरन्तरं समुत्पन्ना, वह्वी घूर्णमाना=उद्भूता, वेदना=पीडा यस्य तथाविधमात्मानमधुनापि न संस्थापयामि। ममात्मनि वेदनाधिक्येनाधुनापि काप्यशान्तिरस्त्येवेति भावः।

सीतायास्तादृशीं शृङ्गाररसपरिप्लुतामवस्थां निरीक्ष्य तमसा प्राह—सस्वेद इति।

वत्सा सीता प्रियतमस्य-स्पर्शसुखेन मरुता=पवनेन, नवेन=सद्यः समानीतेन (मेघैरिति शेषः) अम्भसा=जलेन, परिधूता=प्रकम्पिता, सिक्ता=जलेनार्द्रिता च, स्फुटाः=विकासं प्राप्ताः कोरकाः=कलिकाः ("कलिका कोरकः पुमान्" इत्यमरः) यस्या सा, कदम्बयष्टिरिव=कदम्बपादपस्य शाखेव, 'सस्वेदानि रोमाञ्चितानि कम्पितानि चाङ्गानि यस्या स्तथाविधासञ्जाता। प्रियतम-स्पर्श-सुखात् प्रस्विन्न-सकल-काया परिकम्पिता चेयं सात्विकभाव-सम्पन्ना सञ्जातेति भावः।

अत्र उपमा यथासंख्यालङ्कारयोः साङ्कर्यम्। उपजाति च्छन्दः॥४२॥

तमसोक्त्या लज्जिता सीता स्वगतमाह—अवसेनेलि। प्रियतमाङ्गसंस्पर्श जन्येनानन्देनापहृतास्मि। इयं च किं कथयिष्यति—"अहो! एवंविधः परित्यागः, अभिषङ्गः=आसक्तिश्चेदृशः?" इति। "हृदयासङ्गः" इति पाठे च हृदयस्यासक्तिरित्यर्थो भवतीति ज्ञेयम्।

"प्रिये! एवंविधं शोकाभिसन्तप्तं मां परित्यक्तु नार्हसीति" वदन्तं रामम्प्रत्याह सीता—आर्य इति। अयि आर्यपुत्र! इदं तव कथनन्तु सर्वथा विपरीतमिव वर्तते। मम परित्याग स्वयमेव कृत्वा, इदानीमिदं कथनं नोचितमाभातीति सारः।

अतिव्याकुलचेतसं रामं सान्त्वयितुमाह वासन्ती—देव! इति। देव! प्रसन्नो भव, अतिभूमिं=मर्यादाया अतिक्रमणं विधाय दूरं यावत् गतमात्मानं स्वीयेनैवालौकिकेन धैर्येण संस्तम्भय=स्थिरीकुरु। भवद्विधमलौकिकधैर्यधनं कोऽन्यः स्थिरीकर्तुं समर्थः? इति भावः। अत्र में प्रियसखी नास्ति।

रामोऽपि वासन्ती-वचनं तथेति निश्चित्याह—व्यक्तमिति। निःसन्देहं सीताऽत्र नास्ति, स्वप्नोऽपि च नास्ति, यतो नास्मि सुप्तः। इदानीं मया परिज्ञातम्—स एव सर्वशक्तिशाली "भगवान्" अनेकवारं परिकल्पितोऽयं विप्रलम्भः=वियोग एव पुनः

पुनर्मामनुबध्नाति । एकधा परिकल्पितस्य वियोगस्यापि भावना क्लेश-कारिणी भवति, भूयोभूय. परिकल्पितस्य तु प्रभावः केन कथयितुं शक्यते ? अनेकशः सीतां संस्मृत्य तस्या एव मूर्ति स्वपुरतः स्थितामिव वियोग-क्वथितः सन् कल्पनाचित्रैः दृष्टवानस्मि, सैव वासनाऽधुनापि प्रादुर्भूता, इति संभावयामि । इति भावः ।

अत्र "भगवान्" इति पदेन सर्वशक्ति-सम्पन्नता वियोगस्य सूचिता । संयोगे तावानानन्दाम्बुधिरुद्वेलो न भवति यावान् वियोगे । तादृश्यश्चानेककल्पनाः स्थिरी-भवन्ति वियोगे एव । अतएव कस्यचित्कवेः सूक्तिः स्मरणीया—

"सङ्गम-विरह-विकल्पे, वरमिह विरहो, न सङ्गमस्यास्याः ।
सङ्गे सैव तथैका, त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे ॥"

टिप्पणी

(१) परिकम्पिनः · · · स्विद्यन्—कवि ने यहां 'वेपथु' (प्रकम्प) और 'स्वेद' नामक सात्विकभावों का उल्लेख किया है ।

जो सत्वसंभूत विकार होते हैं वे सात्विक भाव कहलाते हैं—

"विकारा: सत्वसम्भूता, सात्विकाः परिकीर्तिताः ।
सत्वमात्रोद्भवत्वात्ते, भिन्नाअप्यनुभावतः ॥"

ये आठ माने गये हैं—

"स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्विकाः स्मृताः ॥"

स्वेद और वेपथु के ये लक्षण हैं:—

"वपुर्जलोद्गमः स्वेदो रतिघर्मश्रमादिभिः ।"
"रागद्वेष श्रमादिभ्यः कम्पो गात्रस्य वेपथुः ।"

(साहित्यदर्पण, ३/१३४, ३५, ३७, ३८)

(२) सस्वेदरोमाञ्चितकम्पिताङ्गी—सस्वेदं (स्वेदेन सह) रोमाञ्चितं कम्पितं च अङ्गं यस्याः सा । रोमाञ्चः सञ्जातः यस्य इति रोमाञ्चितम्, रोमाञ्च+इतच् । "तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्यः इतच्" (पा० ५।२।३६) ।

रोमाञ्च सात्विकभाव का लक्षण यह है—

"हर्षाद्भुतभयादिभ्यो रोमाञ्चो रोमविक्रिया ।"

(सा०, द०, ३/१३७)

(३) मरुन्नवाम्भःपरिधूतसिक्ता—पाठा०, "· · · प्रविधूतसिक्ता" । मरुच्च नवाम्भश्च मरुन्नवाम्भसी ताभ्यां (क्रमेण) प्रविधूता (परिधूता) सिक्ता च । (४) कदम्बयष्टिः स्फुटकोरकेव—स्फुटाः कोरकाः यस्याः सा स्फुटकोरका । "कलिका कोरकः पुमान्' इत्यमरः । कदम्बस्य यष्टिः कदम्बयष्टिः । इस पद्य में मनोभिराम उपमा है । सीता को कदम्बयष्टि कहना बहुत ही हृदयहारी है । (५) भगवान्

विप्रलम्भ:—यहां व्यङ्ग्य करके विप्रलम्भ को 'भगवान्' कहा है। अथवा इसका अर्थ 'अत्यन्त बलवान्' है।

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, धर्मस्य यशसः श्रियः।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य, षण्णां भग इतीरणा॥" (क्षीरस्वामी)

वीरराघव 'भगवान्' के प्रयोग पर टिप्पणी करते हैं—"भगवानित्यनतिलङ्घनीयत्वप्रयुक्तपूज्यताख्यापनार्थम्।"

वासन्ती—देव ! पश्य पश्य।

पौलस्त्यस्य जटायुषा विघटितः कार्ष्णायसोऽयं रथ-
स्ते चैते पुरतः पिशाचवदनाः कङ्कालशेषाः खराः।
खड्गच्छिन्नजटायुपक्षतिरितः सीतां चलन्तीं वह-
न्नन्तर्व्यापृतविद्युदम्बुद इव द्यामभ्युदस्थादरिः॥४३॥

अन्वयः—अयं, जटायुषा, विघटित, पौलस्त्यस्य, कार्ष्णायसो, रथः, एते, ते पुरतः कङ्कालशेषाः पिशाचवदनाः खराः, इतः खड्गच्छिन्नजटायुपक्षतिः, अरिः, चलन्तीं सीतां, वहन्, अन्तर्व्यापृत विद्युत्, अम्बुद, इव द्याम्, अभ्युदस्थात्॥४३॥

सीता—(सभयम्) अज्जउत्त ! तादो वावादीअदि। ता परित्ताहि परित्ताहि। अह वि अवहरिज्जामि। [आर्यपुत्र ! तातो व्यापाद्यते। तस्मात्परित्रायस्व परित्रायस्व। अहमप्यपह्रिये।]

रामः—(सवेगमुत्थाय) आः पाप ! तातप्राणसीतापहारिन् लङ्कापते ! क्वयास्यसि ?

वासन्ती—अयि देव राक्षसकुलप्रलयधूमकेतो ! किमद्यापि ते मन्युविषयः ?

सीता—अह्महे ! उब्भत्तह्मि। [अहो ! उद्भ्रान्तास्मि।]

रामः—अन्य एवायमधुना विपर्ययो वर्तते।

उपायानां भावादविरलविनोदव्यतिकरै-
र्विमर्दैर्वीराणां जनितजगदत्यद्भुतरसः।
वियोगो मुग्धाक्ष्याः स खलु रिपुघातावधिरभू-
त्कटुस्तूष्णीं सह्यो निरवधिरयं तु प्रविलयः॥४४॥

अन्वयः—उपायानां भावात्, अविरल, विनोदव्यतिकरैः, वीराणां, विमर्दैः,

जनितजगदत्यद्भुतरसः, मुग्धाक्ष्याः, सः, वियोगः रिपुघातावधिः, अभूत् खलु । कटुः, तूष्णीं सह्यः अयं तु प्रविलयः, निरवधिः ॥४४॥

सीता—बहुमाणिदह्मि पुव्वविरहे। णिरवधित्ति हा हदह्मि [बहुमानितास्मि पूर्वविरहे। नि वधिरिति हा हतास्मि।]

रामः—कष्टं भाः !

व्यर्थं यत्र कपीन्द्रसख्यमपि मे, वीर्यं हरीणां वृथा,
प्राज्ञ जाम्बवतो न यत्र, न गतिः पुत्रस्य वायोरपि।
मार्गं यत्र न विश्वकर्मतनयः कर्तुं नलोऽपि क्षमः,
सौमित्रेरपि पत्रिणामविषये तत्र प्रिये ! क्वासि मे ? ॥४५॥

अन्वयः—प्रिये ! यत्र मे कपीन्द्रसख्यम्, अपि, व्यर्थम्, हरीणां वीर्यं, वृथा यत्र जाम्बवत प्रज्ञा न, वायोः पुत्रस्य अपि गतिः न, यत्र विश्वकर्मतनयः, नलः, अपि, मार्गं कर्तुं न क्षमः, मे, सौमित्रेः अपि, पत्रिणाम्, अविषये तत्र, क्व असि ? ॥४५॥

सीता—बहुमाणिदह्मि पुव्वविरहे। [बहुमानितास्मि पूर्वविरहे।]

हिन्दी—

वासन्ती—देव ! देखिये, देखिये।

[श्लोक ३] यह जटायु के द्वारा तोड़ा गया, फौलाद का बना हुआ रावण का रथ है; और ये सामने पिशाचों के से मुंह वाले कङ्काल-शेष (रथ के) गधे (मरे पड़े) हैं। खड्ग से जटायु के पङ्ख काटकर कम्पित सीता को शत्रु अन्दर ही अन्दर बिजली चमकने वाले मेघ की भांति, लेकर यहां से आकाश में उड़ गया था। (रावण के काले शरीर के साथ सुवर्ण जैसे रंग की सीता जी काले-काले मेघ में छिपी हुई बिजली-सी लग रही थीं)।

सीता—(समय) आर्यपुत्र ! तात (जटायु) मारे जा रहे हैं, और मेरा हरण हो रहा है अतः रक्षा करो ! रक्षा करो !

राम—(वेग से उठकर) अरे, पापी ! तात (जटायु) के प्राण और सीता का अपहरण करने वाले लङ्कापति ! (ठहर !) कहाँ जायगा ?

वासन्ती—देव ! राक्षस वंश के संहार के लिए अग्नि-तुल्य ! क्या अब भी आपका (कोई) क्रोध का पात्र है ? (राक्षसों के विनाश करने के अनन्तर आपका कोप-पात्र और कोई नहीं बचा है।)

सीता—ओह, मैं तो भ्रान्त हो गई हूं !

राम—अब तो यह (कुछ) दूसरा ही परिवर्तन हो गया है ! (यह वियोग तो दूसरे ही प्रकार का है।)

[श्लोक ४४] (सेना, सेतुबन्धन आदि) साधन होने के कारण, निरन्तर (युद्ध

आदि) विनोद-व्यापारों से वीरों में मार-काट मचवाकर संसार में अद्भुत रस उत्पन्न कर देने वाला मनोहरलोचना सीता का वह वियोग तो शत्रु (रावण) के वध तक ही सीमित था, परन्तु चुपचाप सह्य यह दारुण विरह (तो) असह्य है। (अर्थात्, उस वियोग की तो रावण-वध तक ही अवधि थी, परन्तु इसकी कोई अवधि नहीं, यह अनन्त है।)

सीता—पहले विरह में मुझे बहुत सम्मानित किया (गया) था, परन्तु अब 'निरवधि' कहने से (तो) मृतप्राय हो गई हूं। (पहली बार तो मेरे लिए समुद्र-बन्धनादि अनेक दुष्कर कार्य किये गये थे, परन्तु वर्तमान विरह का कोई अन्त न होने से मेरी समस्त आशाएं लीन हो गई हैं।)

राम—ओह ! कष्ट है !

[श्लोक ४५] जहां सुग्रीव के साथ मेरी मित्रता और वानरों का पराक्रम भी व्यर्थ है ! जहां जाम्बवन्त की बुद्धि और हनूमान् की भी गति नहीं है ! जहां का मार्ग बनाने में विश्वकर्मा का पुत्र नल भी समर्थ नहीं है ! और जहां मेरे (प्रिय) लक्ष्मण के बाण भी नहीं पहुंच सकते, प्रिये ! तुम ऐसे किस स्थान में हो ? ॥४५॥

सीता—पहले विरह में मैं बड़ी सम्मानित हुई हूं।

संस्कृत-व्याख्या

वासन्ती स्थानान्तरं प्रदर्शयति—पौलस्त्यस्येति।

देव ! इतोऽपि पश्यतु महानुभावः। जटायुषा त्रोटितः रावणस्यायं काष्णर्यासः=कृष्णलोह। ('फौलाद' इति हिन्दी भाषायां प्रसिद्धः)-निर्मितो रथः, अत्र चैते राक्षसमुखाः कङ्कालमात्रावशेषाः खराः सम्मुखे पतिताः सन्ति, इतश्च खड्गेन छिन्ना जटायुपक्षतिः=पक्षसमूहो येन सः, इतस्ततः परिचलन्तीं सीतां परिवहन्, अन्तः व्यापारपराचला विद्युद् यस्य तथा विधोऽम्बुद इव सोऽरिः, रावणः द्याम्=आकाशम्, अभ्युदस्थात्=आकाशे गतोऽभूदित्यर्थः।

अत्रोपमालङ्कृतिः। शार्दूलविक्रीडितं च्छन्दः। ओजोगुणः। गौडी रीतिः ॥४३॥

रावणेनापहृतायाः सीताया वियोगः सावधिः, अयञ्च वियोगो निरवधिरिति परितापं विन्दन्नाह रामः—उपायानामिति।

अयं वियोगो विभिन्न एवेति प्रतिपादयति। तदानीं बहूनां साधनानां विद्यमानत्वात्। अविरलं यथा स्यात्तथा विनोदानां युद्धकौतुकानां, व्यतिकरैः=सम्पर्कैः, वीराणां=सैनिकानां, विमर्दैः=विनाशैः, कृत्वा जनितः=उत्पादितः, जगति=संसारे, अत्यद्भुतरसो येन सः मुग्धलोचनायाः सीताया वियोगो रिपुघातोऽवधिर्यस्यैवंविध आसीद्। रिपूणां विनाशे वियोगः स्वयमेव शान्तः। परमयन्तु कटुः=तीक्ष्णः, तूष्णीं सह्यः=अन्यस्याग्रे प्रकाशयितुमशक्यः, निरवधिः प्रविलयः=वियोगः सञ्जातः।

अत्र पूर्व-वियोगापेक्षयाऽस्य वियोगस्य वैचित्र्यप्रतिपादनाद् व्यतिरेकः। निरवधित्वस्य समर्थनाच्च काव्यलिङ्गञ्चेत्यनयोरलङ्कारयोः सांकर्यम्। शिखरिणी च्छन्दः ॥४४॥

राम-मुखात् पूर्व-विरहस्य माहात्म्यं श्रुत्वा सीता प्राह—बहु इति। पूर्वविरहे बहुमानं ममाभूत्। अनेकानि विचित्राणि सेतुबन्धादीनि कार्याणि मदर्थं सम्पन्नानि, परमधुना 'निरवधिः' इति कथनेन तु हा हतास्मि! मम तु मनोऽभिलाषः सर्वथा विलीनोऽनेन वचनेनेति भावः।

पुनः सीतां सम्बोध्य रामः प्राह—व्यर्थमिति।

प्रिये! त्वमिदानीं कुत्र वर्त्तसे? लङ्कायान्तु तव परिचयः प्राप्तः। अस्य तु स्थानस्य विषये सर्वथा अनभिज्ञ एवास्मि। अत्र तु सुग्रीवेण सह सख्यम्=मैत्री, व्यर्थम्। सोऽपि किमपि कर्तुमसमर्थः। हरीणाम्=वानराणां वीर्यम्बलमपि वृथा। जाम्बवतो बुद्धिरपि सर्वथा व्यर्था। वायोः पुत्रो हनूमानपि किमपि कर्तुमक्षमः। विश्वकर्मपुत्रस्य नलस्यापि मार्गनिर्माण-सामर्थ्यमत्र नास्ति। लक्ष्मणस्य शरा अपि तत्राकिञ्चित्करा: हन्त! प्रिये! क्व तत्स्थानमस्ति? कथं परिज्ञानं भवेत् अत्रापि व्यतिरेकः। शार्दूलविक्रीडितं च्छन्दः ॥४५॥

टिप्पणी

(१) [श्लोक ४३]—

१. पाठान्तर—'ते चैते' के स्थान पर 'पश्यैते'। 'चलन्तीं' के स्थान पर 'ज्वलन्तीम्'; 'अन्तर्व्यापृत···' के स्थान पर 'अन्तर्व्याकुलः ·····'। २. पौलस्त्यस्य—पुलस्त्य' सप्तर्षियों में अन्यतम थे। इन के तीन पुत्र हुये रावण, कुम्भकर्ण एवं विभीषण। 'पुलस्त्य' की सन्तान होने के कारण रावण को पौलस्त्य कहा गया है। पुलस्त्यस्य गोत्रापत्यं पुमान् पौलस्त्यः, पुलस्त्य+अण्। कुछ लोग 'पुलस्त्य' को पुलस्ति कहते हैं। इस दशा में, पुलस्त्येर्गोत्रापत्यं पुमानिति पुलस्ति+यञ् (गर्गादि) पौलस्त्यः। ३. कार्ष्णायसः—कृष्णम् अयः इति कृष्ण+अयस्+टच् समासान्त कृष्णायसम्। एक लौह की जाति, फौलाद। कृष्णायसस्य विकारः इति कृष्णायस+अण्। ४. पिशाचवदनाः—पिशितमश्नातीति पिशित+√अश्+अण् कर्त्तरि पिशाचः। पृषोदरादित्वात्सिद्धम्। पिशाचस्य वदनं, पिशाचवदनं तदिव वदनं येषाम् ते। ५. कङ्काललेषाः—कङ्कालः शेषः येषाम् ते। 'स्याच्छरीरास्थि कङ्कालः' इत्यमरः। ६. खड्गच्छिन्नजटायुपक्षतिः—खड्गेन छिन्ना जटायोः पक्षतिः। 'स्त्री पक्षतिः पक्षमूलम्'–इत्यमरः। पक्ष+तिः=पक्षतिः 'पक्षात्तिः' (पा०, ५।२।२५) इति तिः। ७. अन्तर्व्यापृतविद्युदम्बुद इव—अन्तर्व्यापृता विद्युद् यस्य स चासौ अम्बुदश्च। वीरराघव ने इस पर टिप्पणी की है—'अनेन दृष्टान्तेन रावणस्पर्शदोषो

नास्तीति सूचितम् ।' ८. इस वर्णन में भवभूति ने रामायण का अनुसरण किया है। तुलना कीजिए—

"काञ्चनोरश्छदान्दिव्यान्पिशाच्वदनान् खरान् ।
तांश्चास्य जवसम्पन्नाञ्जघान समरे वली ॥
अथ त्रिवेणुसम्पन्नं कामगं पावकार्चिषम् ।
मणिसोपानचित्राङ्गं बभञ्ज च महारथम् ॥
तस्य व्यायच्छमानस्य रामस्यार्थे स रावणः ।
पक्षौ पादौ च पार्श्वौ च खड्गमुद्धृत्य सोऽच्छिनत् ॥"
(अरण्य०, ५१/१५, १६, ४२)

सीता के विषय में—

"स तु तां राम रामेति रुदतीं लक्ष्मणेति च ।
जगमादाय चाकाशं रावणो राक्षसेश्वरः ॥
तप्ताभरणवर्णाङ्गी पीतकौशेयवासिनी ।
रराज राजपुत्री तु विद्युत्सौदामिनी यथा ॥
सा पद्मपीता हेमाभा रावणं जनकात्मजा ।
विद्युद्घनमिवाविश्य शुशुभे तप्तभूषणा ॥"
(अरण्य०, ५२/१३, १४, २४)

(२) आर्यपुत्र ! ततो· · ·—यहाँ सीता को ऐसा ज्ञात होता है मानो वह उसी काल में हो जिसमें सीताहरण हुआ था ।

(३) [श्लोक ४४] पाठान्तर—
१. '· · ·दविरल' के स्थान पर· · ·दविरत" । २. 'जनित'· · "जगति' । ३. 'कटुस्तूष्णीं'· · · "कथं तूष्णीम्· · ·" ४. 'तु प्रविलयः'—'त्वत्प्रतिविधिः' ।

(४) [श्लोक, ४५] १. पाठान्तर—'पत्रिणायविषये'—'पत्रिणामविषयः' । 'मे'—'भोः' । २. कपीन्द्रसख्यम्=सुग्रीव की मित्रता । हरीणाम्=बन्दरों का । पुत्रस्य वायोरपि=हनूमान् की भी । (५) उपर्युक्त स्थल के गद्यभाग में भी कुछ पाठान्तर उपलब्ध होते हैं उन से कोई विशेष अर्थ नहीं निकलता; इसलिए यहाँ उन्हें नहीं दिया गया है ।

रामः——सखि वासन्ति ! दुःखायैव सुहृदामिदानीं रामदर्शनम् । कियच्चिरं त्वां रोदयिष्यामि । तदनुजानीहि मां गमनाय ।

सीता——(सोद्वेगमोहं तमसामाश्लिष्य) हा भअवदि तमसे ! गच्छदि दाणिं अज्जउत्तो किं करिस्सम् ? (इति मूर्च्छति ।) [हा भवति तमसे ! गच्छतीदानीमार्यपुत्रः । किं करोमि ?]

तमसा—वत्से जानकि ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि । विधिस्तवानुकूलो भविष्यति तदायुष्मतोः कुशलवयोर्वर्षवृद्धिमङ्गलानि संपादयितुं भागीरथीपदान्तिकमेव गच्छावः ।

सीता—भअवदि ! पसीद । खणमेत्तं वि दुल्लहदंसणं पेक्खामि । [भगवति ! प्रसीद । क्षणमात्रमपि दुर्लभदर्शनं पश्यामि ।]

रामः—अस्ति चेदानीमश्वमेधसहधर्मचारिणी मे ।

सीता—(साक्षेपम्) अज्जउत्त ! का ? [आर्यपुत्र ? का ।]

वासन्ती—परिणीतमपि किम् ?

रामः—नहि नहि । हिरण्मयी सीताप्रतिकृतिः ।

सीता—(सोच्छ्वासास्रम) अज्जउत्त ! दाणिं सि तुमम् । अह्महे, उक्खाइदं दाणिं मे परिच्चाअसल्लं अज्जउत्तेण । [आर्यपुत्र ! इदानीमसि त्वम् । अहो, उत्खातितमिदानीं मे परित्यागशल्यमार्यपुत्रेण ।]

रामः—तत्रापि तावद्बाष्पदिग्धं चक्षुर्विनोदयामि ।

सीता—धण्णा खु सा, जा एव्वं अज्जउत्तेण बहुमण्णीअदि । जा एव्वं अज्जउत्तं विणोदयन्दी आसाबन्धणं खु जादा जीअलोअस्स । (धन्या खलु सा, यैवमार्यपुत्रेण बहुमन्यते यैवमार्यपुत्रं विनोदयन्त्याशाबन्धनं खलु जाता जीवलोकस्य ।)

तमसा—(सस्मितस्नेहार्द्रं परिष्वज्य) अयि वत्से ! एवमात्मा स्तूयते ।

सीता—(सलज्जम्) परिहसिदह्मि भअवदीए । (परिहसितास्मि भगवत्या ।)

वासन्ती—महानयं व्यतिकरोऽस्माकं प्रसादः । गमनं प्रति यथा कार्यहानिर्न भवति तथा कार्यम् ।

रामः—तथाऽस्तु ।

सीता—पडिऊला दाणिं मे वासन्ती संवुत्ता । (प्रतिकूलेदानीं मे वासन्ती संवृत्ता ।)

तमसा---वत्से ! एहि गच्छावः ।

सीता---एव्वं करम्ह । [एवं करिष्यावः ।]

तमसा---कथं वा गभ्यते । यस्यास्तव---

प्रत्युप्तस्येव दयिते, तृष्णादीर्घस्य चक्षुषः ।
मर्मच्छेदोपमैर्यत्नैः, सन्निकर्षो निरुध्यते ॥४६॥

अन्वयः—दयिते, प्रत्युप्तस्य इव, तृष्णादीर्घस्य (तव) चक्षुषः सन्निकर्षः, मर्मच्छेदोपमैः यत्नैः निरुध्यते ॥४६॥

सीता---णमो सुकिदपुण्णजणदंसणिज्जाणं अज्जउत्तचलणकमलाणम् । (इति मूर्च्छति) [नमः सुकृतपुण्यजनदर्शनीयाभ्यामार्यपुत्रचरणकमलाभ्याम् ।]

तमसा---वत्से ! समाश्वसिहि ।

सीता---(आश्वस्य ।) किअच्चरं वा मेहान्तरेण पुण्णचन्ददंसणम् ? [कियच्चिरं वा मेघान्तरेण पूर्णचन्द्रदर्शनम् ?]

हिन्दी—

राम—सखी वासन्ती ! इस समय मित्रों को राम का दर्शन दुःख (देने) के लिए ही है । तुम्हें कितनी देर तक रुलाऊंगा ? अतः (अब) मुझे जाने के लिए आज्ञा दो !

सीता—(उद्वेग और मोह से तमसा से लिपटकर) हा ! भगवति, तमसे ! अब आर्य पुत्र जा रहे हैं, मैं क्या करूं ? [मूर्छित हो जाती है ।]

तमसा—वत्से ! जानकि ! धैर्य धारण करो ! धैर्य धारण करो दैव तुम्हारे अनुकूल होगा । अब हम चिरञ्जीव कुश और लव की वर्षगांठ के उत्सव को सम्पन्न करने के लिए भागीरथी के पास ही चलें ।

सीता—भगवति ! अनुग्रह करो ! (मुझ पर दया कर थोड़ी देर और रुक जाओ !) मैं क्षणभर दुर्लभ-दर्शन (आर्यपुत्र) को देख लूं ।

राम—इस समय मेरी अश्वमेघ-यज्ञ की सहधर्मिणी है ।

सीता—(आक्षेप सहित) आर्य पुत्र कौन ?

वासन्ती—क्या विवाह भी कर लिया ?

राम—नहीं, नहीं सुवर्णमयी सीता की प्रतिमा ।

सीता—(लम्बा श्वास खींचकर रोती हुई आर्यपुत्र ! इस समय तुम (सच्चे एकपत्नीव्रती) हो ! ओह, अब आर्यपुत्र ने मेरे परित्याग-शल्य को उखाड़ डाला है ।

राम—उसमें ही (शब्दार्थ-अपि=भी। सीता-प्रतिमा में ही) अपने आंसू भरे नेत्रों को बहलाता हूं।

सीता—सचमुच वह धन्य है, जिसे आर्यपुत्र इतना मानते हैं; और जो इस प्रकार आर्यपुत्र का मनोविनोद करती हुई संसार की आशा का आधार हो गई है। (भगवान् राम को स्वस्थ रखकर उन्हें लोक की आशाओं को पूर्ण करने योग्य बना रही है।)

तमसा—(मुस्कराहट और स्नेह से आलिङ्गन कर) अरी वत्से! इस प्रकार अपनी प्रशंसा की जा रही है?

सीता—(लज्जित होकर) आप तो मेरा उपहास कर रही हैं।

वासन्ती—आपका यह शुभागमन हमारे ऊपर बड़ा अनुग्रह है। आपके जाने में, जैसे कोई हानि न हो, वैसा कीजिये।

राम—एवमस्तु (ऐसा ही हो!)

सीता—इस समय वासन्ती मेरे प्रतिकूल हो गई है। (अब तक तो यह मेरा ही पक्ष लेकर आर्यपुत्र को रुला रही थी परन्तु अब उन्हें भेजने के लिए कहकर, यह मेरे प्रतिकूल हो गई है।)

तमसा—बेटी? आओ, चलें!

सीता—ऐसा ही करें।

तमसा—अथवा, कैसे, चला जाय? जिस तुम्हारे—

[श्लोक ४६] प्रिय में गड़े हुए से लालसा-भरे नेत्रों का आकर्षण, मर्मच्छेद करने वाले (गमनादि, यत्नों से रोका जा रहा है।

[भावार्थ—तुम्हारे नेत्र प्रियतम में लगे हुए हैं। वे बड़ी लालसा से उन्हें देख रहे हैं। इस समय तुम्हें उनका जाना बड़ा दुःखद लग रहा है। उनमें गड़ी हुई दृष्टि को उखाड़े—हटाये बिना तुम्हारा यहां से चलना सम्भव नहीं है; और दृष्टि को हटाना ही तो सबसे बड़ी मर्मान्तक व्यथा का कारण है। यहां से चलना राम के प्रति आकर्षण में सबसे बड़ा बाधक है।]

सीता—भली भांति पुण्य का आचरण करने वाले व्यक्तियों से दर्शनीय आर्य-पुत्र के चरण-कमलों को नमस्कार है! [मूर्छित हो जाती हैं।]

तमसा—बेटी! धैर्य धारण करो!

सीता—(आश्वस्त होकर) मेघ से घिरे हुए पूर्ण चन्द्र का दर्शन कितने समय तक होता है? (जैसे मेघ से घिरे हुए चन्द्रमा का दर्शन अधिक समय तक नहीं होता, वैसे ही आर्यपुत्र का दर्शन भी थोड़े ही समय के लिये हो रहा है।)

संस्कृत-व्याख्या

'हिरण्मयी सीतायाः प्रतिकृतिः' इति रामवाक्यात् प्रीततरा सीता प्राह-अज्ज उत! इति। आर्यपुत्र! वस्तुतस्तु, इदानीमसि यथार्थो मम प्राणनाथः। एक पत्नीव्रतत्त्व-

स्यादर्शः कुत्राप्येवंविधो नास्तीति मम परित्यागस्य शल्यं भवता समुत्खातितम्। परित्यक्ताया अपि प्रीतिर्भवतो हृन्मन्दिरे तथैव विद्यमानेति प्रसीदामि।

गमनानुमतिं प्रदर्शयितुमाह वासन्ती-महानयमिति। अयं व्यतिकरः=सम्मेलन-सम्बन्धस्तु अस्माकं कृते महान् प्रसादः। सौम्यदर्शनस्य भवतो दर्शनं सौभाग्येनैव भवतीति महती प्रसन्नता। किन्तु कार्यहानिर्यथा न भवति तथा गमनं प्रति विचारः क्रियताम्। कार्यहानिर्यदि न भवति, तदा तु स्थेयम्, नो चेद् गन्तव्यमिति भावः।

वासन्त्या अनुमतिवचनं सर्वथेदानीं प्रतिकूलमित्याह सीता—पडिऊलेति। प्रतिकूलता वासन्त्या अधुना प्रदर्शिता। किञ्चित्कालं दर्शनसुखमधिकं स्यात्तदा वरं भवेत्। गमनानुमत्या चानया व्याघातः कृतः, इति हृदयम्।

सीताया गमने विघ्नं सम्भावयति तमसा—प्रत्युप्तस्येवेति।

दयिते प्रत्युप्तस्य-निखातस्येव, तृष्णया दीर्घस्य चक्षुषो मर्मच्छेदसमैः यत्नैः यस्यास्तव सन्निकर्षो निरुध्यते। त्वमतिशय प्रेम्णा स्वप्रियतमं पश्यसि। मन्ये तत्रैव तृष्णादीर्घं नयन समासक्तमिति कथमितोऽपकर्षो भविष्यतीति तव गमनं कठिनं मन्ये इति भावः। अत्रोत्प्रेक्षाऽलङ्कारः। अनुष्टुप् च्छन्दः ॥४६॥

सीता कथञ्चिदाश्वस्य प्राह—कियच्चिरमिति। मेघानामन्तरेण=व्यवधानेन हेतुना पूर्णचन्द्रस्य दर्शनं कियच्चिरं भवितुमर्हति? मेघानामवरोधात् पूर्णचन्द्रस्य दर्शनं यथा स्वल्पकालमेव यावद् भवति, तथैव ममापि मेघतुल्यायास्तमसाया व्यवधानेन किञ्चित्कालं यावदेवार्यपुत्रस्य दर्शनं सम्भतमिति। अथवा मम दुर्दैववशात् दीर्घकालं दर्शनं नैव, सम्भवतीति भावः।

टिप्पणी

(१) वर्षर्द्धिमङ्गलानि—'वीरराघव' इसे यों खोलते हैं—

"द्वादशवर्षपूर्तिमङ्गलानि देवतापूजादीनि शुभानि।"

(२) अस्ति चेदानीमश्वमेधसहधर्मचारिणी मे—श्री रामचन्द्रजी का यह वाक्य बड़ा अप्रासङ्गिक सा प्रतीत होता है परन्तु इसे—"तत्रापि तावद्वाष्पदिग्धं चक्षुर्विनोदयामि" इस वाक्य का अंश मान लेने से यह दोष दूर हो जाता है। राम के 'अश्वमेघ-सहधर्मचारिणी' कहते पर बीच में ही सीता और वासन्ती घबरा गयी थीं, और राम से वासन्ती ने प्रश्न कर ही दिया—"परिणीतमपि किम्?" पर वे उसका उत्तर—"नहि, नहि, हिरण्मयी सीताप्रतिकृतिः" कहकर देते हैं। इसके अनन्तर उनके कथन का वह अंश आता है जो कि बीच ही में छूट गया था। रामचन्द्रजी को सीता के मिलने की कोई आशा न रह गयी थी अतः वह यह कहना चाहते थे कि—"सीता नहीं है तो उसकी हिरण्मयी प्रतिमा तो है ही उसे देखकर ही मैं अपनी आँखों को ठण्डा कर लूंगा।" राम को इस करुण-रस से निकालकर 'अश्वमेध यज्ञ' में भेजना कवि को कथा-निर्वाह के लिए अभीष्ट था इसीलिये उसने राम के मुख से ऐसे वाक्य कहलाकर बड़े कौशल से बीच ही में टूटी हुई कथा

का क्रम मिला दिया है। (३) [श्लोक ४६] सन्निकर्षो निरुध्यते—पाठान्तर, "आकर्षो न समाप्यते" सम्+नि+√कृष+घञ्। आ+√कृष+घञ् भावे। (४) सुकृत-जनदर्शनीयाभ्याम् —पाठान्तर, 'अपूर्वपुण्यजनितदर्शनाभ्याम्'। अपूर्वपुण्येन जनितं दर्शनं ययोस्ताभ्याम्।

"सुकृत··· पाठ में सुकृतानि पुण्यानि यैस्ते सुकृतपुण्याः। सुकृतपुण्याश्च ते जनाश्चेति ताभ्याम्।

घनश्याम ने 'सुकृत' और 'पुण्य' को एकार्थक मानकर पुनरुक्ति का परिहार करने के लिये 'पुण्यजन' का 'राक्षस' (विभीषण) अर्थ माना है—

'शोभनं कृत्यं कृतं येन सः सुकृतः। स चासौ पुण्यजनः राक्षसः विभीषण इति यावत्। तेन दर्शनीयाभ्याम्। "यातुधानः पुण्यजनो नैर्ऋतो यातुरक्षसी" इत्यमरः।'

"नमः स्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च" (पा० २।३।१६) इति 'नमः'— योगे चतुर्थी।

तमसा—अहो संविधानकम्।

एको रसः करुण एव निमित्तभेदा-
द्भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारा-
नम्भो यथा, सलिलमेव हि तत्समस्तम् ॥४७॥

अन्वयः—एकः करुणः, रसः, एव, निमित्तभेदात्, भिन्नः (सन्) पृथक्-पृथक्, विवर्तान्, आश्रयते, इव, यथा, अम्भः, आवर्त-बुद्बुद-तरङ्गमयान् विकारान् (आश्रयते), (वस्तुतस्तु) तत् समस्तं, सलिलम्, एव हि ॥४७॥

हिन्दी—

तमसा—ओह ! कैसा बानक बना ! (कैसी घटनायें घटीं !)

(१) [श्लोक ४७] करुण रस ही एकमात्र मुख्य रस है। निमित्त-घटना (विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव की विलक्षणता से) यह भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेता है। जैसे जल भंवर, बुलबुले तथा तरङ्गों का रूप धारण कर लेता है परन्तु यथार्थतः वह होता एक ही है। [अतएव इस अङ्क में सीता जी तथा अन्य पात्रों के हृदय में जो लज्जा, विस्मय आदि भाव हैं वे भी करुण रस के ही रूपान्तर हैं। अथवा राम और सीता के जीवन से सम्बन्धित यद्यपि अन्य रसों—शृङ्गार और वीर के भी प्रसंग इस नाटक में आये हैं, परन्तु उनकी तह में करुण की ही धारा प्रवाहित हो रही है।]

(२) अथवा—

(सामाजिकों के हृदय में रहने वाली विभिन्न भावनाओं के अनुसार ही) विभावादि के वैलक्षण्य से एक करुण रस ही (हर्ष आदि) अनेक भावों में वैसे ही बदल जाता है जैसे कि एक ही जल अनेक रूपों में।

(३) अथवा—

एक करुण रस ही निमित्त-भेद से (सखित्व, पतित्व, पत्नीत्वादि के भेद से राम, सीता, वासन्ती में) पृथक्-पृथक् रूप से अभिव्यक्त हो रहा है, जैसे कि एक ही जल आवर्त-बुद्बुद्-तरङ्गादि अनेक विकारों में। [आशय यह है कि करुण रस एक ही है—उसमें नानात्व सम्भव नहीं, क्योंकि रस पूर्णघन और आनन्दस्वरूप होता है। परन्तु यहां राम, सीता, वासन्ती और तमसा—सभी में करुण रस का सञ्चार हो रहा है। सीता का करुण रस राम से पृथक् है, राम का सीता से और वासन्ती का इन दोनों से। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है मानों ये सब करुण के विभिन्न रूप हों; परन्तु यदि तात्विक दृष्टि से देखा जाय तो सिद्ध होगा कि इन सभी में एक ही करुण रस प्रवाहित हो रहा है—उसमें कोई भेद नहीं है।]

(४) अथवा—

[वास्तव में तो घटना-क्रम को देखते हुए 'करुण' का अर्थ 'करुण-विप्रलम्भ' लिया जाना चाहिये। इस प्रकार प्राचीन आचार्यों के इस—"एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारों वीर एव वा" नियम का विरोध नहीं होता। तब यह अर्थ होगा—]

(इस नाटक में) एकमात्र करुण (विप्रलम्भ) रस ही प्रधान है; (क्योंकि स्थल-स्थल पर उसका प्रवाह दृष्टिगोचर होता है। निमित्त भेद से सीता रामादि के भेद से) वह अनेक रूप धारण कर लेता है। (उत्तरार्ध का अर्थ यथापूर्व है। नाटक यद्यपि सुखान्त है तथापि वह 'संयोग' 'वियोग' से ही उत्पन्न हुआ है। अतः 'करुण विप्रलम्भ' की ही यहां प्रधानता है। विशेष विस्तार के लिए टिप्पणी देखिये।)

संस्कृत-व्याख्या

साश्चर्यं तमसा प्राह—अहो ! इति। आश्चर्यम् ! कीदृशं संविधानकं समजनि ? अपूर्वोऽयं समय-घटना-चक्र-व्यतिकरः। कवेरस्य रचना-चातुरी चापि वस्तुतोऽपूर्वं वेति कथयति। सीतायाः, रामस्य, वासन्त्याश्च सर्वेऽपि वृत्तान्ताः सम्यगत्र प्रदर्शिताः प्रेक्षकाणां मनो रञ्जयन्ति।

एतदेव विशदयति—'एकः'—इति।

अस्य श्लोकस्यार्थ योजने मतभेदः। तत्र केचिद् करुण रसस्यैकस्येवान्ये रसा विवर्तरूपेण विद्यन्ते, इति स्वीकुर्वंति। सीताया हृदये लज्जादिकाः शृङ्गारस्य भावा वस्तुतस्तु करुणस्येव प्रकारान्तरमिति दृष्टान्तमुखेन वर्णयति। यथा—एकमेव जलम् आवर्तः, (अम्भसां भ्रमः) बुद्बुदाः=जलस्फोटाः, तरङ्गाश्चेति नानारूपं धत्ते, परन्तु

तात्त्विकदृष्ट्याऽभेद एव । एवमेव-करुणस्यैव सर्वो विस्तारोऽयं शृङ्गारादि-विविधोपाधीन् धारयति । एवञ्च-कवेरस्य मते विवर्तवादमङ्गीकृत्य नानात्वं रसेषु प्रतिच्छायिकं (कल्पनामात्रम्) एवास्ति ।

अथवा—सामाजिकानां विभिन्न-वासनासमाश्रयणात् तेषां वासनानुसारमेव विभावानु भाव-संचारिभावानां वैचित्र्यात् एक एव करुणो रसो हर्षादिविभिन्नभेदतां गत इव प्रतीयते । अत्रापि दृष्टान्तो जलस्योक्तप्रकार एव ।

वयन्त्वत्रापि किञ्चिद्वदाम एव यद्यस्माकमर्थः सहृदयेभ्यो रोचते ।

करुणो रसस्तु एक एव । नतु तस्मिन् करुणे नानात्वं सम्भवति । रसस्य पूर्णघनानन्दस्वरूपतायाः सिद्धान्तितत्त्वात् । परमत्र सीता, रामः, वासन्ती, (तमसा चापि स्वयम्) करुणार्द्रचेतसो वर्तन्ते । सीतायाः कारुण्यं रामस्य करुणातः पृथगस्ति । सर्वेऽपि शोकाकुलाः सन्ति । परन्तु एक एवायमन्ततः करुणो रसः । एतेषु विभिन्न-पात्रेषु कलया भिन्नतया प्रतीयमान औपाधिक एव । दुःखस्य भावात्मकतया "इदं वा, तद्वा" इति प्रतिपात्रं निर्धारयितुं न शक्यते मया (तमसया) । यदाऽहं सीताम्पश्यामि, तदाऽन्य इव करुणरस प्रवाहो मयाऽनुभूते, यदा च रामं पश्यामि, तदाऽन्य इव । वास्तविको भेदस्तु नास्त्येव ।

अथवा—अस्मिन् नाटके करुणरसस्यैव प्राधान्यं, विशेषरूपेण तस्यैव दर्शनात् अन्ते च जायमानोऽपि संयोगे वियोग कारणम इति संयोगेऽपि विवर्त वादसिद्धान्तात् कार्यकारणयोरभेदात् कवेरस्य शृङ्गारस्यापि करुणात्मकतैवेति तमसा-मुखेनाह कविः । युक्तायुक्तविचारे विज्ञशिरोमणयः प्रार्थ्यन्ते । एतेन—"एक एव भवेदङ्गी, शृङ्गारो-वीर एव वा" इति नियमः कथं खण्डितः कविनेति शङ्कापि निराकृता ।

वस्तुतस्तु 'करुण' शब्देनात्र 'करुणविप्रलम्भो' गृह्यते । तल्लक्षणञ्च यथा—

> यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये ।
> विमनायते यदैकस्ततो भवेत् करुणविप्रलम्भाख्यः ।।"

उपमालङ्कारः । वसन्ततिलका च्छन्दः ।।४७।।

टिप्पणी

(१) **अहो ! संविधानकम्**—तमसा इस सारे घटना-चक्र को देखकर कह रही है कि—"राम और सीता के जीवन की घटनाएं कैसी विचित्र हैं ! दैव का विधान कैसा आश्चर्यजनक है !"

इसका दूसरा आशय यह भी है कि भवभूति अपने नाटक की प्रशंसा कर रहे हैं कि इसमें घटनाओं का ऐक्य, अन्तर्द्वन्द्व, करुण रस का अजस्र प्रवाह—आदि सभी कुछ बड़ी विचित्रता के साथ संजोया गया है ।

(२) **निमित्तभेदात्**—विभावादि के वैलक्षण्य से, अथवा इस अङ्क में वर्णित सीता, राम, वासन्ती आदि के भेद से । इस विषय में वीरराघव लिखते हैं—"करुणोऽनुकार्यरामागतेष्टजनवियोगजन्यदुःखातिशयः । एक एव सन्नपि निमित्तभेदात् सखित्व-

पतित्व-पत्नीत्वाद्युपाधिभेदाद् भिन्नौ विलक्षण इव पृथक्-पृथक् विवर्तान् श्रयते। वासन्ती-सीता-राम-प्रभृतिषु परस्परविलक्षणावस्थाविशेषान् भजति।" (४) ववर्तान् —यहाँ विवर्त शब्द 'विकार' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, शुद्ध शास्त्रीय (विवर्त) अर्थ में नहीं। विशेष विस्तार के लिए दूसरे अङ्क के विष्कम्भक में "अथ स भगवान् प्राचेतसः प्रथमं मनुष्येषु शब्दब्रह्मणस्तादृशं विवर्तमितिहासं रामायणं प्रणिनाय" पर टिप्पणी देखिये। (४) आवर्त-बुद्बुद-तरङ्गमयान्—एक ही जल भंवर, बुलबुले और लहरों का रूप धारण कर लेता है। यहाँ कवि ने जल के तीन विकारों का उल्लेख करके वड़ी चतुरता का परिचय दिया है। तमसा इस श्लोक को कह रही है। उसके अतिरिक्त तीन पात्र ही अवशिष्ट रहते हैं। उनमें से प्रत्येक के लिए एक-एक उपमान का प्रयोग किया जा सकता है। राम को 'आवर्त', सीता को 'बुद्बुद' तथा वासन्ती को 'तरंग' माना जा सकता है। राम करुण रस में सर्वात्मना घूम रहे हैं, सीता के हृदय में अनेक भाव क्षण-प्रतिक्षण उठ रहे हैं और वासन्ती भी करुण की लहरों से अछूती नहीं है। अत एव इनके लिए क्रमशः 'आवर्त-बुद्बुद-तरङ्ग' का प्रयोग करके कवि ने अपनी विदग्धता का परिचय दिया है। (५) 'उत्तररामचरित' की रस-योजना के सम्बन्ध में प्रायः सभी ने 'करुण रस' को 'अङ्गी रस' के रूप में स्वीकार किया है। किन्तु यहाँ एक विचारणीय प्रश्न उठता है कि इसमें 'करुण रस' है या 'करुणविप्रलम्भ'? करुण का स्थायीभाव 'शोक' है जिसका लक्षण है—"इष्ट-नाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं शोकशब्दभाक्"। इसमें पुनर्मिलन की आशा नहीं रहती, किन्तु करुणविप्रलम्भ में पुनर्मिलन की आशा बनी रहती हैं, जैसाकि उसके लक्षण से स्पष्ट है—

"यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदैकस्ततो भवेत् करुणविप्रलम्भाख्यः॥" (साहित्य-दर्पण)

यहाँ राम और सीता का पुनर्मिलन होता है अतः 'करुणविप्रलम्भ' मानना ही अधिक युक्तिसंगत होगा। सीता को तो तमसा के—'अस्तु देवता प्रसादात्' 'पश्यन्ती प्रियं भूयाः!' 'विधिस्तवानुकूलो भविष्यति' आदि वाक्यों से राम की 'पुनर्लभ्यता' में विश्वास है ही, तमसा और वासन्ती भी उनके कल्याण की कामना, मंगलाचरण में करती हैं—उन्हें भी उनके मिलन का विश्वास है। रही राम की बात; उन्हें भी सीता के विनाश की कोई पक्की सूचना नहीं है। उनका 'क्रव्याद्भिरंगलतिका नियतं विलुप्ता' आदि विलाप बहुत कुछ सीता के अत्यय की 'सम्भावना' पर ही आधारित हैं। इसके अतिरिक्त लव-कुश को देखने के अनन्तर उन्हें सीता के मिलन की आशा होती चली गई थी और नाटक का अन्त मिलन में ही हुआ। अतः यहाँ 'करुण-विप्रलम्भ' ही मानना हमारे मत में उचित है।

रही करुण की बात; उसके विषय में उत्तर यह है कि 'शोक', 'शोक' तक ही रह जाता है, 'रस' तक नहीं पहुँचता। वह 'अनिर्भिन्न, अन्तर्गूढ, घनव्यथ तथा

पुटपाकप्रतीकाश' ही रह जाता है। कवि ने 'पुटपाक' का ही प्रयोग किया है। पुटपाक के अनन्तर ही 'रस'-सिद्धि होती है। अतः यह स्पष्ट है कि कवि भी अपने करुण को अभी पूर्ण परिपक्व नहीं मानते, राम के हृदय की व्याकुलता का ही वर्णन करना उन्हें अभीष्ट है। यदि करुण पर आग्रह भी किया जाय तो वह केवल राम की दृष्टि से ही सम्भव है—'रामस्य करुणो रसः'। शेष घटना-चक्र इस बात की पुष्टि नहीं करता। और फिर रस की विवेचना का कार्य तो सहृदय का है, वह जानता है कि सीता जीवित है, अतः उसकी दृष्टि में नाटक के करुण' में पर्यवसान होने का प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, प्रारम्भ में करुण की अजस्र धारा दर्शक को आप्लावित अवश्य कर देती है, परन्तु अन्त संयोगात्मक ही होता है। इस व्याख्या से प्राचीन आचार्यों के इस नियम का भी उल्लङ्घन नहीं होता—'एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा।' अपनी इसी नाट्य-कुशलता की ओर संकेत करते हुए कवि ने कहा है—'अहो ! संविधानकम् !' (६) कुछ लोगों का विचार है कि भवभूति एकमात्र करुण' के ही समर्थक थे; परन्तु यह उचित नहीं होता क्योंकि यदि उन्हें केवल करुण रस ही अभीष्ट होता तो वे 'रसः करुण एव' कहते। 'एकः' विशेषण उन्होंने अपने नाटक के लिये ही दिया है, जहाँ एक करुण भिन्न-भिन्न पात्रों में विभिन्न रूप से प्रतिविम्बित हो रहा है। भवभूति अन्य रसों को स्वीकार न करते हों, यह बात नहीं है। उत्तररामचरित में ही उन्होंने 'जनितात्यद्भुतरसः' 'वीरो रसः किमयम् ?' आदि रसान्तरों का स्पष्ट उल्लेख किया है। अतः भवभूति को केवल करुण रस का ही समर्थक मानना सत्य का अपलाप करना है। वे करुण के पक्षपाती हो सकते हैं, परन्तु रसान्तरों के विरोधी नहीं। (७) उत्तररामचरित का तृतीय अङ्क सर्वोत्कृष्ट अङ्क है। इसमें कवि की कल्पना-शक्ति तथा सहृदयता का चरम विकास हुआ है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का तो 'चतुर्थ अंक ही प्रसिद्ध हुआ, परन्तु लगता है कवि ने उसे चुनौती देकर, उससे एक सीढ़ी पहिले ही, तीसरे अंक में ही, अपूर्व यश-लाभ कर लिया है। (८) रस के प्रयोग में यहाँ 'स्वशब्दोक्ति'—दोष नहीं मानना चाहिये। इस विषय में तृतीय अंक के पहले श्लोक की टिप्पणी देखनी चाहिए। (९) रस की परिभाषा संक्षेप में इस प्रकार दी जा सकती है—

"विभावेनानुभावेन, व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः, स्थायी भावः सचेतसाम् ॥"　　(सा० दर्पण, ३।१)

विशेष विस्तार के लिये लक्षण ग्रन्थ देखिये।

(१०) इस श्लोक में उपमा अलंकार तथा वसन्ततिलका छन्द है।

रामः—विमानराज ! इत इतः।　　　(सर्वे उत्तिष्ठन्ति।)

तमसावासन्त्यौ—(सीतारामौ प्रति)

अवनिरमरसिन्धुः सार्धमस्मद्विधाभिः,
स च कुलपतिराद्यश्छन्दसां यः प्रयोक्ता ।
स च मुनिरनुयातारुन्धतीको वसिष्ठ-
स्तव वितरतु भद्रं भूयसे मङ्गलाय ॥४८॥

अन्वयः—अवनिः, अस्मद्विधाभिः सार्धम्, अमरसिन्धुः, स च कुलपतिः, यः, छन्दसाम्, आद्यः, प्रयोक्ता, स च, अनुयातारुन्धतीकः, वशिष्ठः, मुनिः, तव भूयसे, मङ्गलाय भद्रं, वितरतु ॥४८॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति महाकविभवभूतिविरचिते उत्तररामचरिते
'छाया' नाम तृतीयोऽङ्कः ।

हिन्दी—

राम—विमानराज ! इधर, इधर । [सब उठते हैं]

तमसा—वासन्ती—(सीता-राम के प्रति)—

[श्लोक ४८] पृथ्वी, हम जैसी (नदियों) के साथ वह गङ्गाजी, वे कुलपति (वाल्मीकि) जो कि (लोक में) छन्दों का सर्वप्रथम प्रयोग करने वाले हैं, और अरुन्धती-सहित वे मुनि वसिष्ठ आपके प्रचुर कल्याण के लिए मङ्गल का वितरण करें। (आशीर्वाद प्रदान करें।)

[सभी चले जाते हैं ।]

महाकवि श्री 'भवभूति' विरचित 'उत्तररामचरित' में
'छाया'—नामक तृतीय अङ्क समाप्त ।

संस्कृत-व्याख्या

सकलस्यापि तृतीयाङ्कस्य करुणरसमयत्वात्प्रेक्षकाणां मनोरञ्जनार्थं सीता-रामयोः शीघ्रमेव समागमो भविष्यतीति सूचनार्थञ्चान्ते शुभाशीर्वादात्मकं पद्यरत्न-मवतारयति कविः । एकमेव पद्यमिदं तमसया सीताम्प्रति वासन्त्या च रामं प्रति-कथितम् । अवनिप्रभृतीनां सीता-राम-सम्मेलने परमोपयोगित्वमित्यपि मङ्गलाचरणे-ऽस्मिन् सूचित महाकविना 'अवनिः' इत्यादिना ।

अवनिः=पृथिवी, अमरसिन्धुः=भगवती जाह्नवी, अस्मद्विधाभिः=अस्मत्तुल्याभिः सह—स च कुलपतिः, यश्छन्दसाम् आद्यः प्रयोक्ता (भगवान् वाल्मीकिः), अनुयाता—अनुगता अरुन्धती यं स च मुनिर्वशिष्ठः, तव=सीतायाः=रामस्य भूयसे अतिशयाय मङ्गलाय भद्रं कल्याणं वितरतु=ददातु । इत्यस्माकमा-शीर्वादास्तु परिपूर्णा । तुल्ययोगिताऽलङ्कारः । मालिनी च्छन्दः ॥४८॥

सर्वे यथायथं स्वाभिनयं प्रदर्श्य निष्क्रान्ताः ।

अस्मिन् अङ्के यत्र-तत्र सीता रामेण छाया-रूपेण संगता, न तु प्रत्यक्षरूपेणेति अङ्कस्यास्य 'छाया' इति नाम कृतम् ।

अस्मिन्नङ्के कविना सर्वथा स्वचातुरी-चमत्कारस्तथा मनोमुग्धकारिण्या पद्धत्या कृतः, यस्य दर्शनेन सहसाऽस्मन्मुखान्निर्गच्छति—

"उत्तरे तु तृतीयोऽङ्कः, कवेः प्राणायितो मतः ।
सीतारामप्रतापेन, यत्र कारुण्यभाक् कविः ॥"

इति 'उत्तररामचरित'—नाटके 'श्री प्रियम्वदा'—
ख्यटीकायां 'छाया' नाम तृतीयोऽङ्को विरतः ।

टिप्पणी

(१) तमसावासन्त्यौ (सीतारामौ प्रति)—यहाँ तमसा ने सीता के प्रति यह आशीर्वाक्य कहा है और वासन्ती ने श्रीराम के प्रति । भवभूति ने ऐसे सह-कथनों का अन्यत्र भी प्रयोग किया है । देखिये पञ्चम अंक, १६, १८, १९ पद्य।

"अभितः-परितः-समया-निकषा-हा-प्रतियोगेऽपि"—इति प्रतियोगे द्वितीया ।

(२) अवनि···मङ्गलाय—यहाँ मध्य-मङ्गल है । ग्रन्थों में आदि, मध्य और अन्त में मङ्गल किया जाता है । इस नाटक से तीनों मङ्गल किये गये हैं । (३) इस श्लोक में आये हुए 'अवनि' आदि सभी सीता-राम-सम्मेलन में उपयोगी सिद्ध होंगे । यहाँ ऋषियों के द्वारा दिये जाने वाले श्रेय का प्रकाशन होने के कारण 'आक्षेप' नामक गर्भसन्ध्यङ्ग है जिसका लक्षण नाट्यदर्पणकार ने यह किया है—

"आक्षेपो बीजप्रकाशनम्—

प्राप्त्याशावस्थानिबद्धस्य बीजस्य मुखकार्योपायस्य प्रकाशनं प्रकर्षणाविर्भावन-माक्षेपः ।"

साहित्यदर्पणकार ने आक्षेप' को 'क्षिप्ति' कहा है—

"रहस्यार्थस्य तद्भेदः क्षिप्तिः स्यात् ।"

(४) इष्टजनों की आशंसा होने के कारण यहाँ 'आशीः' नामक नाट्या-लंकार है जिसका साहित्यदर्पण में यह लक्षण दिया गया है—"आशीरिष्टजनाशंसा ।"

(५) सार्द्धमस्मद्विधाभिः—तमसा सदृश मुरला, गोदावरी आदि नदियों के साथ एवं वासन्ती सदृश अन्य वन देवताओं के साथ । 'सहयुक्तेऽप्रधाने' (पा०, २।३। १९) से तृतीया । (६) स च कुलपतिराद्यश्छन्दसां यः प्रयोक्ता—और वह (प्रसिद्ध) कुलपति जो (अनुष्टुप् आदि) छन्दों का आद्य प्रयोक्ता है ।

इसका वीरराघव ने 'सूर्य' अर्थ किया है—'यश्छन्दसां प्रयोक्ता वेदानां प्रवक्ता आद्यः कुलपतिः स च सूर्यश्च ।'

किन्तु सूर्य का यहाँ प्रसङ्ग ठीक नहीं बैठता क्योंकि सीता-राम-मिलन में सूर्य कोई नाटक में सहायता नहीं देते हैं । अतः इसका अर्थ यह ठीक होगा—'जो (अनुष्टुप् आदि) छन्दों के (लोक में) आद्य प्रयोक्ता हैं वे कुलपति (वाल्मीकि) ।

वाल्मीकि की सीता-राम-मिलन में उपयोगिता नाटक में सिद्ध है ही। 'कुलपति' का लक्षण यह है— "मुनीनां दशसाहस्रं योऽन्नदानादिपोषणात्।
अध्यापयति विप्रर्षिः स वै कुलपतिः स्मृतः॥"

पं० शेषराज शास्त्री ने इस चरण को आगे के 'स च मुनिः' तक खींचकर इस प्रकार अर्थ किया है—'स च=श्रुतिस्मृतिपुराणादिप्रसिद्धः, कुलपतिः=कुलस्य=इक्ष्वाकुवंशस्य पतिः=प्रवर्तकत्वेन स्वामी, सूर्य इत्यर्थः। तथा च यः, छन्दसां—अनुष्टुवाद्यानाम्, आद्यः=प्रथमः, प्रयोक्ता=प्रयोगकर्ता, स च मुनिः=कुलपतिवाल्मीकिरित्यर्थः.... ।"

हम इससे सहमत नहीं हैं। यद्यपि खींचातानी से अर्थ की कदाचित् सङ्गति बैठ सकती है तथापि उसमें चारुत्व नहीं आता क्योंकि—

१. सूर्य के रखने का कोई वैशिष्टय नहीं है। २. यदि 'कुलपति' का आशीर्वाद परम्पराया कार्य-साधक होगा—यह मान भी लिया जाय तो वाक्य विशृङ्खल हो जाता है।

भाव यह है—'स च कुलपतिः (सूर्यः), यश्छन्दसां आद्यः प्रयोक्ता स च मुनिः (वाल्मीकिः)' के अनन्तर 'अनुयातारुन्धतीको वसिष्ठः' को सङ्गति के लिये एक 'च'-कार की और आवश्यकता पड़ती है (जैसा कि पं० शेषराज जी ने भी यह लिखकर स्वीकार किया है— ('अनुयातारुन्धतीक वसिष्ठश्च') किन्तु श्लोक में यह तीसरा 'च' है नहीं। इसलिये यह अपनी ओर से खींचकर लगाना पड़ता है। ३. तीसरे, छन्द के अनुरोध को भी देखने से प्रतीत होगा कि 'स च मुनि' वसिष्ठः' के साथ जुड़ता है। 'आद्यश्छन्दसां यः प्रयोक्ता'—इस द्वितीय चरण की समाप्ति के अनन्तर 'स च मुनि' जोड़ना ठीक नहीं लगता। ४. और भी—यत्तदो-र्नित्यः सम्बन्धः' नियम के अनुसार 'यत्' और 'तत्' का नित्य सम्बन्ध होता है। इस नियम का 'स च कुलपतिराद्यश्छन्दसां यः प्रयोक्ता' एवं 'स च मुनिरनुयातारुन्धतीको वसिष्ठः' को वाल्मीकि और वसिष्ठ की ओर ही लगाने में पूर्ण पालन मिलता है, अन्यथा नहीं।

यदि यह कहा जाय कि स च कुलपतिः' (सूर्यः) में 'तत्' शब्द के प्रसिद्धार्थक होने के कारण 'यत्' शब्द की आर्थता है, एवं 'यश्छन्दसामाद्यः प्रयोक्ता स च मुनिः' (वाल्मीकि) में 'तत्' और 'यत्' का स्पष्ट सम्बन्ध है—इस प्रकार यत्तदोर्नित्यः सम्बन्धः' का पूर्ण पालन है और 'अनुयातारुन्धतीको वसिष्ठः' को बिना 'यत्-तत्' का पद मानकर अर्थ किया जाएगा—तब और भी शंका सामने आती है। वह यह कि कवि ने जब पहले से यत्-तत् दोनों को (उक्त अर्थानुसार) 'कुलपति' (सूर्य) और 'मुनि' (वाल्मीकि) के साथ जोड़ा है तब फिर 'अनुयातारुन्धतीको वसिष्ठः' के साथ उन्हें न जोड़कर भग्नप्रक्रमता क्यों की ? सहृदयों को स्पष्ट अवभास होगा कि चकाररहित केवल 'अनुयातारुन्धतीको वसिष्ठः में कितनी श्लथता और अपूर्णता है !

अतएव, 'स च कुलपतिराद्यश्छन्दसां य प्रयोक्ता' एक पद और 'स च मुनि-रनुयातारुन्धतीको वसिष्ठः' एक पद मानना चाहिए। पहले पद में 'यत्' और 'तत्' दोनों शब्दोपात्त हैं, और दूसरे में 'तत्' शब्द की प्रसिद्धार्थकता के कारण 'यत्' शब्द की आर्थता है, क्योंकि—'तच्छब्दस्य प्रकान्तप्रसिद्धानुभूतार्थत्वे यच्छब्दस्यार्थत्वम्।' (सा द०, ७।४ के अनन्तर) इस प्रकार हमारे सम्मत अर्थ में 'यत्तदोर्नित्य सम्बन्ध.' का पूर्ण पालन और अधिक विच्छित्ति है। सहृदय विचार करें।

(७) अनुयातारुन्धतीकः—अनुयाता (अनुगता) अरुन्धती (एतन्नाम्नी तत्पत्नी) यं सः। समासान्तः कप्। (८) तव वितरतु भद्रं भूयसे मङ्गलाय—पाठा०, "त्वयि वितरतु ··।' वितरण के योग में सप्तमी का भी प्रयोग मिलता है, यथा—'वितर वारिद ! वारि दवातुरे।'

भद्रम्=कल्याण। 'श्वः श्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मङ्गलं शुभम्' इत्यमरः।

(९) छाया नाम तृतीयोऽङ्कः—तृतीय अंक में सीता अदृश्य रूप में उपस्थित हुई है। इसलिये उनके छायारूप में उपस्थित होने के कारण इस अंक को छाया कहा गया। विद्यासागर लिखते हैं—'अस्मिन्नंके सीताया अदृश्यरूपेण प्रवेशेऽपि कदाचित् अङ्गस्पर्शादिना रामानुभवविषयत्वात् छायारूपेण आभा समानतया अस्य अंकस्य नाम कविना छायेति कथितम्।'

अथवा इस अंक में सीता श्रीराम के पीछे-पीछे छाया के समान चली हैं अतः इसका नाम 'छाया' है जैसा कि प्रो० काणे ने लिखा है—"In some editions this Act is called छाया The reason is that in this Act सीता was throughout present as it she were the shadow of Rama,"

विशेष तृतीय अंक के 'नाटकीय महत्व, शीर्षक में देखिये।

श्री 'प्रियम्वदा'—टीकालङ्कृत 'उत्तररामचरित'—नाटक के "छाया" नामक तृतीय अङ्क का सटिप्पणी हिन्दी-अनुवाद समाप्त॥

हमारे उपयोगी प्रकाश[illegible]
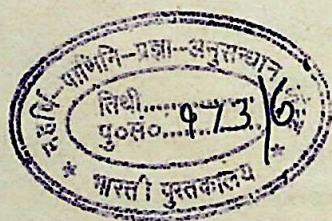
१. ऋक्सूक्त संग्रह, व्याख्याकार—डा० हरिदत्त शास्त्री
२. काव्यप्रकाश, व्याख्याकार—डा० हरिदत्त शास्त्री, श्रीनिवा[illegible]
३. वेदान्तसार, व्याख्याकार—डा० नरेन्द्रदेव शास्त्री
४. तर्कभाषा, व्याख्याकार—डा० सत्यनारायण पाण्डेय
५. मीमांसा परिभाषा, व्याख्याकार—डा० हरिदत्त शास्त्री
६. रत्नावली नाटिका, व्याख्याकार—डा० शिवराज शास्त्री
७. वेणीसंहार नाटक, व्याख्याकार—डा० शिवराज शास्त्री
८. मृच्छकटिकम्, व्याख्याकार—डा० श्रीनिवास शास्त्री
९. मुद्राराक्षसम्, व्याख्याकार—डा० निरूपण विद्यालंकार
१०. एम० ए० संस्कृत व्याकरण, व्याख्याकार—डा० श्रीनिवा[illegible]
११. संस्कृत निबन्धादर्श, लेखक—डा० रामजी उपाध्याय
१२. संस्कृत काव्यकार, (संस्कृत गद्य-पद्य लेखक तथा नाटककारों की पूर्ण आलोचना)
१३. दर्शनशास्त्र का इतिहास डा० हरिदत्त शास्त्री
१४. नाट्यशास्त्र- [illegible] शर्मा
१५. शिशुपालवध-महाकाव्य १ सर्ग डा० श्रीनिवास शास्त्री
१६. सांख्यकारिका—डा० हरिदत्त शास्त्री
१७. नैषध-महाकाव्य प्रथम सर्ग – डा० शिवराज शास्त्री
१८. संस्कृत निबन्धमाला—प्र[illegible] प्रा० [illegible]मिश्रा
१९. उच्चतर संस्कृत अनुवाद, व्याकरण तथा रचना—डा० श्रीनिवास शास्त्री
२०. शंकराचार्य-उनका मायावाद तथा अन्य सिद्धान्तों का आलोचनात्मक अध्ययन डा० राममूर्ति शर्मा
२१. संस्कृत काव्य में शकुन—डा० दीपचन्द शास्त्री
२२. उत्तररामचरितम्—ब्रह्मानन्द शुक्ल तथा डा० कृष्णकान्त
२३. दशरूपकम् व्याख्याकार—डा० श्रीनिवास शास्त्री
२४. संस्कृत-शिक्षण की नवीन योजना—डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री
२५. मेघदूतम्—डा० शिवराज शास्त्री
२६. कादम्बरी (पूर्वार्द्ध) डा० श्रीनिवास शास्त्री
२७ कालिदास और भवभूति के नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन डा० सुरेन्द्र देव शास्त्री
२८. [illegible]क्रम डा० कपिलदेव एम० ए०
२९. वैदिक साहित्य का इतिहास डा० राममूर्ति शर्मा
३०. अभिज्ञानशाकुन्तलम् डा० निरूपण विद्यालंकार
३१. संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास डा० सत्यनारायण पाण्डेय

साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार मेरठ।